कामायनी सौन्दर्य

(परिवर्द्धित संस्करण)

डा० फतहसिंह

एम० ए०, बी० टी०, डी० लिट्

ग्रन्थ-संख्या—२२७

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

तृतीय संस्करण :: सं० २०१९

मूल्य :
रु० ६.५० न० पै०
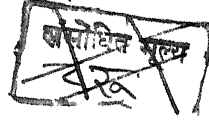
मुद्रक
बि० प्र० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

समर्पण

प्रिय अशोक जी,

तुम्हारे स्नेह-सलिल से सिक्त
सुमन का सौरभ इसको मान,
समर्पण कर यह रजकण आज,
क्या न मैं दूँ निज कृति को मान !

यों तो कामायनी पर अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, परन्तु सच तो यह है कि 'कामायनी' जैसे ग्रन्थ पर लेखनी चलाने के लिये कोरा आलोचक होना पर्याप्त नहीं। 'कामायनी' में, जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक में बतलाया गया है, न केवल प्रसाद जी की साहित्य-साधना की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है, अपितु उसमें वैदिक काल से लेकर विज्ञान-प्रधान बीसवीं शताब्दी तक निरन्तर प्रवहमान भारतीय संस्कृति-सरिता के साध्य को भी इसमें व्यक्त करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। अतः कामायनी के समालोचक को प्रसाद-साहित्य का सावधान विद्यार्थी और भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का पंडित होना तो आवश्यक है ही, परन्तु साथ ही 'नानापुराण- निगमागम' से भी सुपरिचित होना अत्यंत आवश्यक है।

अतएव 'वैदिक-दर्शन', 'समाज-शास्त्र' आदि ग्रन्थों के प्रणेता मेरे विद्यागुरु डा० फतहसिंह जी को 'कामायनी' की आलोचना में सफलता मिलना स्वाभाविक था। अतः 'कामायनी-सौन्दर्य' के प्रथम संस्करण को ही विद्वानों ने एक स्वर से 'कामायनी' पर अब तक की लिखी हुई पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ माना और उत्तर प्रदेश की सरकार ने पुरस्कृत करके उसके महत्व को स्वीकार किया।

प्रस्तुत संस्करण में पृष्ठ-संख्या द्विगुणित से भी अधिक हो गयी है। प्रारम्भ में जो कथा-परिचय दिया गया है उससे 'कामायनी' के अर्थ को समझने में भी बड़ी सहायता मिलेगी। 'कामायनी की दार्शनिक आधार शिला' शीर्षक अध्याय में, लेखक ने हिन्दी-साहित्य को एक अपूर्व भेंट दी है। इस प्रसंग में, उसने प्रसाद जी के काव्य-दर्शन का विकास बतलाते हुए, उनके गीति-काव्य की जो सुन्दर आलोचना की है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकती और कामायनी के सामाजिक दर्शन का विश्लेषण करते हुए, प्रसाद जी के उपन्यासों और कहानियों पर जो लिखा गया है उसको तो युगप्रवर्तक कहें तो अत्युक्ति न होगी। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में 'डिवाइन कमेडी', 'पैराडाइज लॉस्ट' तथा 'पैराडाइज रीगेन्ड' के साथ तुलना करके कामायनी को सर्वप्रथम 'विश्व-साहित्य' में स्थान देने का प्रयत्न किया है।

मुझे खेद है कि अंतिम दो अध्यायों में लेखक महोदय जितना विषय देना चाहते थे वह सब पुस्तक का आकार बढ़ने के डर से नहीं दिया जा सका। उसके लिए पाठकों को लेखक की किसी अन्य रचना के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

—उपाध्याय विनयसागर

देवोत्थान एकादशी
२०१०
कोटा.

प्रथम संस्करण की भूमिका

पिछले दस वर्षों से 'कामायनी' को पढ़ने-पढ़ाने का अवसर मुझे प्रायः मिलता रहा है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से और शैवागम के अनुशीलन से 'कामायनी' का काव्य मुझे अधिक सुस्पष्ट और सुन्दर प्रतीत हुआ। १९४३ में आचार्य केशव प्रसादजी (अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, काशी विश्वविद्यालय) के आदेश से मैंने 'कामायनी का वैदिक आधार' शीर्षक लेख लिखा था। उसको देखकर मेरे विद्वान् गुरुओं तथा मित्रों का बराबर आग्रह रहा कि मैं 'कामायनी' पर एक ग्रन्थ लिखूँ। जब से १९४५ में मुझे एम० ए० के विद्यार्थियों को 'कामायनी' पढ़ाने का अवसर मिला तब से मेरे विद्यार्थियों का भी यही अनुरोध होने लगा। और लोगों का आग्रह टालने में तो आलस्य सहायक हो सकता है, परन्तु अपने छात्रों का अनुरोध टालना किसी भी अध्यापक के वश की बात नहीं। अतः इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मैं उनका सबसे अधिक आभारी हूँ।

प्रसाद की 'कामायनी' शुद्ध भारतीय परम्परा की वस्तु है। अतः उसका अध्ययन पाश्चात्य दृष्टिकोण से करना भूल है। साथ ही, जहाँ पाश्चात्य तथा भारतीय, साहित्यशास्त्र का, वैज्ञानिक दृष्टि से, तुलनात्मक अध्ययन करना परमावश्यक है, वहाँ पाश्चात्य शास्त्र को, बिना सोचे-समझे, श्रेष्ठ मान लेना और उसी कसौटी पर किसी भारतीय काव्य को परखना मेरी समझ में ठीक नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि कुछ तो पाश्चात्य विद्वानों का अन्धानुकरण करने के कारण तथा कुछ हमारे मध्ययुगीय साहित्यिकों की विवेकहीन रूढ़िवादिता के कारण, भारतीय साहित्यशास्त्र के विषय में आज कई भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के स्वरूप को स्थिर करने अथवा उसके किसी ग्रन्थ की आलोचना करने के लिये इन भ्रमों का निवारण करना आवश्यक है। अतएव मैंने इस पुस्तक में 'कवि और काव्य' तथा 'भारतीय महाकाव्य' के अन्तर्गत भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रसंगानुकूल स्वरूप को स्थिर करते हुए कुछ लिखा है। वस्तुतः यह अंश एक प्रकार से हमारे अप्रकाशित 'सौन्दर्यशास्त्र' के कुछ अध्यायों का संक्षिप्त रूप है।

कामायनी का कथानक वैदिक साहित्य से लिया गया है; परन्तु प्रसादजी ने इस सम्बन्ध में जितना कामायनी की भूमिका में लिखा है वह पर्याप्त नहीं है; वह तो केवल संकेतमात्र है। साथ ही कामायनी के मर्म और महत्व को समझने के लिये, उसके इस आधार को समझना अनिवार्य है। इसीलिये इस पुस्तक में अन्तिम दो अध्यायों में कामायनी का वैदिक आधार दिखलाने का प्रयत्न किया गया है, इसके साथ-ही-साथ इन अध्यायों में कथावस्तु के विश्लेषण, उसके विकास, चरित्र-चित्रण तथा कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रभृति विषयों पर भी प्रकाश पड़ गया है।

यद्यपि यह पुस्तक छात्रों के अनुरोध का परिणाम है, परन्तु यह परीक्षा को ध्यान में रखकर नहीं लिखी गयी है। 'कामायनी' पर कई पुस्तकें निकल चुकी हैं; उनकी बातों को फिर दुहराने में कोई लाभ न था। मैंने इसमें वही और उतनी ही बातें दी हैं, जिनको तथा जितनी को मैं मौलिक और कामायनी के अध्ययन के लिये आवश्यक समझता था। परीक्षार्थियों और शोधकार्य करने वालों की सुविधा के लिए विषय-सूची के अतिरिक्त एक समस्या-सूची भी दे दी गयी है, जिसकी सहायता से कामायनी के विद्यार्थी, विभिन्न प्रश्नों के समझने में इस पुस्तक का उपयोग कर सकते हैं।

इस पुस्तक में कागज की कंजूसी बहुत की गई है; यह एक अखरने वाली बात है। न केवल नन्हा टाइप काम में लाकर पृष्ठसंख्या कम की गयी है, प्रत्युत लिखने में भी बहुत संतोष एवं संयम से काम लिया गया है और इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि कम-से-कम पृष्ठों में अधिक-से-अधिक विषय दिया जा सके। ऐसा करने में हमें बहुत-सी ऐसी बातें छोड़ देनी पड़ी हैं या संक्षेप में कहनी पड़ी हैं जो साधारण विद्यार्थी के लिये उपयोगी होतीं। अस्तु, यदि साहित्य में शोधकर्ताओं के लिए इस पुस्तक में कुछ भी मौलिक तथा उपयोगी मिल सका तो लेखक अपने को धन्य मानेगा।

इस पुस्तक में प्रूफ-संशोधन आदि में मेरे कई छात्रों ने बहुत परिश्रम किया है; मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्री उमेद प्रेस कोटा के अधिकारियों को भी मैं हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी सावधानी से पुस्तक को मुद्रित किया है। पुस्तक में कुछ छापे की अशुद्धियाँ फिर भी रह गयी हैं; पाठकों को जो असुविधा हो, उसके लिए वे कृपया क्षमा करें।

श्रावणी, २००५ विक्रमी,   फतहसिंह

कोटा

विषय-सूची

कथा–परिचय

कामायनी का आधार

(१) देवत्व—

(२) असुरत्व—

(क) कवि और काव्य

(ख) महाकाव्य

कामायनी का महाकाव्यत्व

विश्व-साहित्य में कामायनी

कामायनी सौन्दर्य

१ :: कथा-परिचय

पूर्व-पीठिका

देव जाति के उत्कर्ष के दिन थे। विश्व का अपार बल, वैभव और आनन्द उसके पास थे। उसकी शक्ति की धाक प्रकृति भी मानती थी, वह समझती थी कि प्रकृति को उसने जीत लिया है। सुख के साधनों का अपरिमित संग्रह पाकर देव लोग निरन्तर भोग-विलास को ही लक्ष्य मान बैठे थे। कंचन और कामिनी ने उन्हें मोह लिया था। आलिंगन और चुम्बन को वे रोटी-पानी समझते थे तथा वासनाओं की तृप्ति को परम पुरुषार्थ। अतृप्ति और भोग की आँख-मिचौनी चल रही थी। सुरा एवं सुरांगना की भूख-प्यास से ही उनका जीवन प्रेरित था; अन्य सबके प्रति उनकी घोर उपेक्षा थी। वे स्वय देव थे; सर्ग के अग्रदूत थे, अतः वे अपने ऊपर किसकी सत्ता को मानते !

सहसा देवों की वासना-सरिता प्रलय-जलधि में जा मिली। प्रलयंकारी जल-वर्षा हुई, मानो उनकी अनीति को देखकर अन्तरिक्ष से कोई अश्रुवृष्टि करने लगा हो। घन-गर्जन का भयंकर शब्द सर्वत्र छा गया। वज्रपात होने लगा। झंझावात का ताण्डव-नृत्य हुआ। चारों ओर हाहाकार मच गया। सूर्य मलिन होते-होते छिप गया और सूची-भेद्य अन्धकार का साम्राज्य हो गया। समुद्र की लहरें गरजने लगीं। पृथ्वी धँसने लगी। ज्वालामुखियों की ज्वालाएँ धधकने लगीं। गगन-चुम्बी लहरियाँ उठती थीं। चपलाओं का नर्तन हो रहा था। इसी प्रकार, न मालूम कितने दिन बीत गये। पंचभूतों का भैरव नृत्य निरन्तर चलता रहा। समुद्र ने अपनी मर्यादा छोड़ दी। सारी पृथ्वी जलमग्न हो गयी और देव जाति ने अपने सम्पूर्ण वैभव एवं विलास के साथ जल-समाधि ली। प्रकृति विजयी हुई। देवों का दर्प चूर हुआ। देव-दम्भ को हार माननी पड़ी।

* * *

भीषण जल-प्लावन के बीच एक नौका डगमगा रही थी। अपार जल-राशि थी। डाँड़े या पतवार नहीं लगते थे। उत्ताल तरंगें उसे उछाल रही थीं। अब डूबी—तब डूबी! एक महाविकराल मत्स्य और उसने एक चपेटा उस लड़खड़ाती नौका को मारा। कैसी भयंकर थी वह टक्कर! क्या इससे भला वह बच सकती थी! परन्तु, नहीं, अभिशाप भी कभी वरदान बन जाता है। उसी आघात से वह उत्तरगिरि के एक शिखर से जा टकरायी; नाव को किनारा मिला।

नाव के भीतर था एक पुरुष——सुन्दर, सुदढ़ और सुगठित शरीर का एक युवक। उसका नाम था मनु। मनु ने देखा——नाव किनारे लग गयी है और पास ही एक बट-वृक्ष है। उसे अनुभव हुआ कि अब मैं बच गया हूँ। उसने नौका को वृक्ष से बाँधा और स्वयं उसी शिखर पर चला गया।

चिन्ता सर्ग

हिमगिरि की एक ऊँची चोटी है। उस पर चारों ओर बर्फ़-ही-बर्फ़ है। मनु एक लम्बी शिला की छाया में बैठा हुआ उसके प्रभाव से बचने का असफल प्रयत्न-सा कर रहा है। अब जल-प्लावन उतर चला है और भूमि निकलने लगी है। परन्तु, फिर भी उस स्थान से नीचे प्रलय-सिन्धु अब भी लहराता है, यद्यपि अब उसकी लहरें बहुत क्षीण हो चली हैं। मनु के आस-पास बर्फ़ से ढके दो-चार देवदारु के पेड़ खड़े हैं, जो उसी के समान ही लम्बे हैं।

मनु का मुख-मण्डल पौरुष से ओत-प्रोत है, परन्तु फिर भी वह चिन्ता की छाया से मलिन हो रहा है। उसके नेत्र गीले हो रहे हैं और वह उस सिमिटते हुए प्रलय-प्रवाह को देख रहा है। अतीत की असंख्य स्मृतियाँ उसके मानस को आन्दोलित कर रही हैं। उसे अपनी देव-जाति के बल, वैभव तथा विलास की याद आती है और वह उसके दर्प, दम्भ एवं अनाचार पर पश्चात्ताप करता है।

"कितनी बड़ी भूल थी हमारी!", उसने सोचा, "जो हम अपने को अजर, अमर और अजेय समझते थे। प्रकृति ज्यों-की-त्यों दुर्जेय है और हमारे मिथ्याभिमान पर हँस रही है——महाविनाश, महाविध्वंस और महामौन को लेकर महामृत्यु अपनी भैरव-क्रीड़ा कर रही है——फिर भी यह दुःसाहस! अपने को अमर समझने का ढोंग!! अमरता को इस नश्वर संसार में भला कहाँ स्थान है!"

आशा सर्ग

धीरे-धीरे जल-प्लावन समाप्त हो गया। सूर्य की किरणों ने हिम का आवरण हटा दिया और धरातल साफ़ हो गया। पेड़-पौधों में फिर जान आयी। समस्त प्रकृति में उल्लास दिखाई पड़ने लगा। पवन ने मृदु गति अपनायी और प्रकृति के सभी अंग पुनः सामान्य व्यवहार में रत हो गये। सर्वत्र एक नया रंग दिखाई

पड़न लगा; मृत्यु के ध्वंसावशेषों पर पुनः जीवन का प्रासाद खड़ा होने लगा।

"इस नवीनता को लाने वाला कौन है ?" मनु के मन में कुतूहल हुआ, "सूर्य, सोम और पवन आदि निरन्तर किसका शासन मान रहे हैं ? किसके भ्रू-भंग से ये जलप्लावन-काल में विक्षुब्ध हो उठे थे ? ये प्रकृति के शक्ति-चिह्न हैं। इनको देव कहा जाता है और हम अपने को भी देव कहते थे। परन्तु जल-प्लावन ने सिद्ध कर दिया कि न ये देव हैं और न हम। हम सब परिवर्तन के पुतले हैं और हमारा यह अभिमान सरासर झूठा है।"

मनु के कुतूहल ने जिज्ञासा का जामा पहना। वह सोचने लगा—"ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण को किसका आकर्षण नियंत्रित करता है ? तृण-वीरुध और पेड़-पौधे किसके रस से लहलहा रहे हैं ? वह कौन-सी नियामक सत्ता है जिसकी छाप विश्व के कण-कण में दिखलाई पड़ रही है ?" अन्त में, मनु स्वयं ही अपना समाधान करता है—वह यह तो नहीं जान पाता कि वह सत्ता 'कौन' है, परन्तु वह यह अवश्य समझ लेता है कि वह विराट है, विश्व-देव है, और है अनन्त रमणीय।

अनन्त रमणीय का यह आभास उसे तम से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से जीवन की ओर प्रेरित करता है और वह अपने भीतर एक अधीर आशा उठती हुई अनुभव करता है। जीवन की लालसा उसे कुछ करने को प्रेरित करती है। हिमालय की एक विस्तृत गुहा में वह अपना सुन्दर निवास-स्थान बनाता है और अग्निहोत्र को प्रारंभ कर निरन्तर तप मे प्रवृत्त होता है। पाक-यज्ञ करने का निश्चय कर वह प्रतिदिन सुन्दर शालियों और शुष्क डालियों को चुनकर लाने लगता है।

यज्ञ वस्तुतः समाजापेक्ष और समाजोन्मुख है। अतः वह मनु के एकाकी जीवन को विस्तार प्रदान करने लगा है। उन्होंने सोचा—"जैसे मै बच गया, वैसे संभव है कोई और भी बच गया हो।" अतः वह यज्ञ से बचे अन्न को दूरी पर रख आते थे, जिससे कोई अपरिचित उसे खाकर अपनी भूख मिटा ले।

स्व-विस्तार की इस भावना ने उनके मन में द्वन्द्व की चाह उत्पन्न की; उनके मन में छिपी अनादि वासना नयी-सी होकर उठ खड़ी हुई। तप और संयम हिल उठे और उन्होंने अपने भीतर एक व्याकुलता तथा एक रिक्तता का अनुभव किया। उनका चित्त अब अकेले नहीं रम सकता था।

श्रद्धा सर्ग

'संसृति-जलनिधि के किनारे पर पड़ी हुई, उसकी तरंगों से फेंकी हुई मणि के समान तुम कौन हो ?' किसी ने मधुर और स्निग्ध वाणी में मनु से पूछा।

मनु चौंक पड़ा। वह लुटा-सा इधर-उधर देखने लगा। अंत में उसके नेत्र सफल हुए और उसने देखा एक लम्बी काया खड़ी है। मेष-चर्म का नील-परिधान

उसके सुन्दर शरीर को ढके हुए था। उसके चन्द्र-मुख पर अपूर्व मुसकान थी और कंधों पर घुँघराले बाल लटक रहे थे। उसे देखते ही मनु आनन्द-विभोर हो गया। उससे उत्तर न बन पड़ा।

वह बोला—"मैं क्या बताऊँ कि मैं कौन हूँ? मेरा जीवन निरुपाय है। मैं असहाय शून्य में फिरता हूँ। परन्तु, यह तो बताओ कि मेरे पतझड़ में वसंत-दूत, सघन अंधकार में विद्युत-रेखा तथा गरमी में ठंडी वायु के समान तुम कौन हो?"

आगंतुक ने अपना परिचय दिया—मैं अपने पिता की प्यारी सन्तान हूँ। गंधर्वो के देश में, ललित-कला का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आना हुआ। घूमने का शौक था। हिम-गिरि ने आकृष्ट किया। पैर उसी ओर ले चले। जल-प्लावन आया और मेरे जीवन को एकाकी तथा निरुपाय बना गया। इधर यज्ञशेष अन्न को देखकर यजमान को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुम मिल गये।

उसे मनु का विराग और नैराश्य से भरा एकाकी जीवन पसंद नहीं आया। उसने बतलाया कि—"दुःख के डर से जीवन से पराङ्मुख होना ठीक नहीं। दुःख अभिशाप नहीं वरदान है; दुःख की रजनी से ही सुख के प्रभात का उदय होता है। अकेले यज्ञ करना तुच्छ विचार है। अकेले रहकर तुम आत्म-विस्तार न कर सके और न कर सकते हो। मेरा निर्विकार जीवन तुम्हारी भेंट है; मेरा स्वच्छ हृदय तुम्हें समर्पित है। मैं तुम्हारा सहचर हूँ। उठो, कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' यह विधाता का वरदान सुनो और मानवता को विजयिनी करो। देव-असफलताओं के ध्वंस पर मानव-राज्य की सृष्टि करो।"

काम सर्ग

मनु को जो सहचर मिला, वह थी एक नारी, श्रद्धा। उसको पाकर मनु के मन में एक मधुर भाव का उदय हुआ। उसने देखा कि उसके जीवन-वन में मधुमय वसंत घुस आया है और उसे एक विचित्र उत्साह और उल्लास का अनुभव हो रहा है।

वह एक उलझन में पड़ गया। एक नीरव रजनी में वह सोच रहा था—सौन्दर्य कैसा रहस्य-पूर्ण है। सुन्दर रूपों में कितना आकर्षण है और कितनी उत्कट है मेरी चाह इन को अपनाने की। परन्तु क्या इस सुन्दरता के आवरण में कोई अन्य निधि भी छिपी है? पर क्या मैं कभी उसे पहचान सकूँगा? कैसा विमोहनकारी है यह स्पर्श! पुलक उत्पन्न हो रहा है, आँखें मुँद रही हैं और तंद्रा-सी आ रही है। व्रीड़ा की बाधा तो देखो, वह मेरी आँखें मीच रही है।......

सौन्दर्य के परदे में अवश्य कोई रहस्य है। सब कहते हैं—'खोलो, खोलो। जीवन-धन की छवि देखूँगा।' इसी प्रकार के दर्शकों की भीड़ लगी हुई है। परन्तु दर्शक स्वयं आवरण-स्वरूप हो जाते हैं। यदि यह अवगुंठन कहीं उठ पाता !

अन्त में मनु ने देखा कि जीवन का यह मधुर भार असह्य हो गया है। उन्होंने संकल्प किया—दम, संयम आदि कितनी ही बाधाएँ मेरे मार्ग में क्यों न आयें, अब मैं नहीं मानने का। अब संदेह को स्थान नहीं रहा। वह स्पर्श, रूप, रस और गंध से भरी सुषमा का पान करने लगा।.... धीरे-धीरे उसे नींद आ गयी।

उसने स्वप्न में एक ध्वनि सुनी—"जल-प्लावन आया और चला गया, परन्तु मैं अब भी अतृप्त हूँ। मैं काम हूँ। देव मेरी ही उपासना करते थे। मैं उनके विनोद का साधन था। वस्तुतः मैं ही उनका कृतिमय जीवन था।

"मेरी स्त्री रति अनादि वासना है। अव्यक्त प्रकृति में जब सृष्टि का उन्मेष हुआ, तो यही उसकी 'चाह' के रूप में थी। मूल प्रकृति-रूपी लता के मधुहास से ही ढले हुए हम दोनों हैं। हम दोनों का जन्म होते ही वह मूल-शक्ति सक्रिय हो गयी—परमाणु सृष्टि रचने लगे। हम दोनों उस नवीन सृष्टि मे कोरक और अंकुर की भाँति साथ-साथ रहने लगे। देव-सृष्टि नित्य यौवनमय थी; हम उसमें भूख और प्यास से उठ खड़े हुए। मेरी स्त्री रति सुरबालाओं की हृत्तंत्री बनी थी। मैं तृष्णा बढ़ाता था और वह उन्हें तृप्ति दिखलाती थी।

"वे देव मिट गये और मिट गया उनके साथ ही मेरा वह विनोद। मेरी केवल चेतनता ही शेष रह गयी और मैं अब 'अनंग' ही रह गया हूँ। पहले मैं वात्या-उद्गम था परन्तु अब मैं संसृति की प्रगति-स्वरूप हूँ; मैंने देव-युग में जो किया, मानव की शीतल छाया में मैं अब उसी का ऋण-शोध करूँगा। हम दोनों का शुद्ध विकास हो चुका है।

"इस सृष्टि के रूप में जिसकी लीला प्रकट हो रही है उस मूल-शक्ति का नाम था प्रेम-कला। उसी के संदेश को सुनाने के लिए 'यह अमला' संसार में आयी है। वह कितनी सुन्दर, शीतल, शांतिमयी और भोली-भाली है! वह हमी दोनों की सन्तान है। यदि तुम उसको पाना चाहते हो, तो उसके योग्य बनो।"

यह कहते-कहते ही वह ध्वनि चुप हो गयी। मनु ने आँखें खोलीं और वे बोले—"वहाँ कौन-सा पथ पहुँचाता है? उस ज्योतिमयी को कोई नर कैसे पाता है!" पर, वहाँ उत्तर कौन देता?

वासना सर्ग

दो अथक पथिकों की भाँति, दोनों हृदय एक दूसरे से मिलने के लिए चले

जा रहे हैं। एक गृहपति है और दूसरा उसका अतिथि। यद्यपि अतिथि पहले ही समर्पण कर चुका था और उस समर्पण में ग्रहण का भाव भी अन्तर्हित था, परन्तु फिर भी कुछ अटकाव अभी बना हुआ था। प्रतिदिन परिचय बढ़ता जाता था, पर फिर भी कुछ शेष रह ही जाता था।

एक दिन की बात है। सूर्य डूब रहा था। मनु अभी तक मनन कर रहे थे। उनके कानों मे वही काम का सन्देश गूँज रहा था। इधर घर में शस्य, पशु और धान्य आदि अनेक उपकरण एकत्र हो चुके थे। मनु अग्निशाला में बैठे हुए एक विचित्र खेल देख रहे थे––कुछ दूर पर अतिथि एक पशु से खेल रहा था। पशु अनेक प्रकार से अपना स्नेह प्रकट करता हुआ अतिथि के पीछे-पीछे घूम रहा था। अतिथि उसे पुचकारता और दुलारता था। वे दोनों ममतामय मुग्ध स्नेह-विलास कर रहे थे। मनु से यह प्रेमलीला देखी नहीं गयी। उसके मन में एक वेदनामय ईर्षा उत्पन्न हुई। सोचा कि मैं सब को खिलाता और पालता-पोसता हूँ, परन्तु यह सब मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। वह इनकी कृतघ्नता पर विचार कर ही रहा था कि अतिथि उनके पास आ गया।

"अरे तुम अभी ध्यान ही कर रहे हो ?" अतिथि बोला, "आँखें कुछ देख रही हैं, कान कुछ सुन रहे हैं और मन कहीं और है। आज यह कैसा रंग है ?" मनु अतिथि के सौन्दर्य को देखकर कुछ शान्त हुए और अपने कोमल करों को सहलाते हुए बोले, "अतिथि! तुम कहाँ रहे? यह तुम्हारा सहचर पशु आज क्यों इतना गम्भीर स्नेह दिखला रहा है ? क्यों वह आज इतना अधीर होकर, तुमसे मिल रहा है ? मुझको अपनी ओर आर्कषित करने वाले तुम कौन हो ? मुझे ललचाकर फिर पीछे हट जाते हो। हे छविमान ! तुम में कौन-सा करुण रहस्य छिपा है ? तुम मेरे भूले हृदय की चिरखोज के समान कौन हो ? जिस प्रकार तुम्हारी मुक्त-मुस्कान सौन्दर्य वितरण कर रही है; उसी प्रकार अपने हृदय के अवरुद्ध कपाट को भी क्यों नहीं खोल देते हो ?"

मनु की बात को सुन कर अतिथि हँस पड़ा और बोला––"मैं अतिथि हूँ और इससे अधिक परिचय व्यर्थ है। और आज तुम परिचय के लिए इतने व्याकुल क्यों हो रहे हो ?" फिर उसने बात टालते हुए मनु से कहा––"देखो न वह हँसता हुआ चाँद निकल रहा है। आओ चलो; ज्योत्स्ना में प्रकृति का साम्राज्य देखें।" अतिथि मनु का हाथ पकड़ कर ले चला। वे दोनों वृक्ष के एक झुरमुट में पहुँचे। मनु ने कहा––"अतिथि ! हमने तुम्हें देखा तो अनेक बार है, परन्तु इतने सुन्दर तुम कभी नहीं लगे जितने कि आज लग रहे हो। मुझे अतीत की मधुर-स्मृतियाँ व्याकुल कर रही हैं। मुझे ऐसा लगता है कि मैं तुम्हारा हो रहा हूँ। मेरे प्राण अधीर हो उठे हैं। वासना का उन्मेष हो रहा है। हृदय की धड़कन बढ़ रही

है।" फिर अतिथि का हाथ पकड़ कर मनु कुछ उन्मत्त-सा होकर कहने लगा—"मेरी एक जन्मसंगिनी कामबाला थी। उसका एक मीठा-सा नाम था श्रद्धा। वह मेरे प्राणों को विश्राम प्रदान करती थी। आज तुम में मुझे वही छवि, वही माधुर्य और वही आकर्षण दिखाई पड़ रहा है। विश्वरानी, सुन्दरी नारी! मेरी चेतना तुम को समर्पित है। यह दान स्वीकार करो। समर्पण ग्रहण करो।" सुकुमार श्रद्धा लज्जा से झुक गयी। पलकें गिर गयीं। कानों और कपोलों पर लालिमा भर आयी। गला भर्रा गया। शरीर में रोमांच हो गया। वह केवल इतना ही बोल सकी—"मैं दुर्बल नारी हूँ, क्या मैं यह दान ले सकूँगी—यह दान जिसके उपभोग करने में मेरे प्राण विकल-विकल हो जायेंगे?"

लज्जा

श्रद्धा अपने में एक विचित्र परिवर्तन का अनुभव करने लगी। वह कहने लगी—"कोमल किसलय के अञ्चल में छिपी हुई नन्हीं कलिका के समान यह कौन है, जो मेरे ऊपर अपनी माया डाल रही है। मेरे अन्तस्तल में पुलकित कदम्बसी माला को पहना कर मन की डाली को झुका देने वाली यह कौन है? जिसके कारण मेरे सारे अंग मोम-से बन जाते हैं और कोमलता में बल खाती हुई अपने में ही सिमट-सी रह जाती हूँ। उस समय मेरी हँसी की तरलता उड़ जाती है और केवल रह जाती है एक मुस्कान। नेत्रों में एक बाँकपना भर जाता है और जो भी प्रत्यक्ष देखती हूँ, वह भी स्वप्न का रूप धारण कर लेता है।

"मेरे हृदय में एक उद्दाम अभिलाषा किसी सुदूर और अज्ञात सुख का स्वागत करने के लिए अपना पूरा बल लगा कर उठ रही है। परन्तु यह क्या! जिन किरण-रज्जुओं को पकड़ कर मैं रसनिर्झर में धँसती हुई आनन्दशिखर पर चढ़ना चाहती थी उन्हीं को इसने समेट लिया है। अब तो छूने में हिचकिचाहट होती है। देखने का प्रयत्न करती हूँ, तो आँखें पलकों पर झुक जाती हैं। कुछ कलरव व्यक्त होना चाहता है, पर वह अधरों तक ही आकर सहसा रुक जाता है। पुलकित तन पर खड़ी हुई रोमाली कुछ संकेत कर रही थी। परन्तु इधर यह चुपचाप उसको वर्जन कर रही थी।"

अपने स्वर में दृढ़ता लाते हुए श्रद्धा ने फिर कहा—"तुम कौन हो? मेरे हृदय की परवशता? तुम मेरी सारी स्वतंत्रता को छीन रही हो। मेरे जीवन-वन में जो स्वच्छन्द सुमन खिले हुए थे तुम उन सब को बीन रही हो।"

यह सुनते ही छाया-प्रतिमा श्रद्धा का उत्तर देती-सी गुनगुना उठी—"बाले! इतना मत चौंक। मैं वह पकड़ हूँ जो कहती है 'ठहरो, कुछ सोच विचार कर लो।' मैं सौन्दर्य की धात्री हूँ—वही चपल सौन्दर्य जो चेतना का उज्ज्वल वरदान है

और जिसमे अनत अभिलाषा के सब सपने जगते रहते हे । मै उसे गोरव ओर महिमा का पाठ सिखाती हूँ—उसको जो ठोकर लगने वाली होती हे उससे मै धीरे से सचेत करती हूँ । मै लज्जा हूँ, रति की प्रतिकृति हूँ । वही रति जो देव-सृष्टि की रानी थी । मै शालीनता की शिक्षा देती हूँ । मतवाली सुन्दरता के पैरो मे मै नूपुर के समान लिपट जाती हूँ, सरल कपोलो मे लाली ओर आखो मे अजन तथा कुचित अलको मे घुँघरालेपन के समान छा जाती हूँ ओर सुन्दरियो के मन की मरोर बनकर जागती रहती हूँ। तुम पूछती हो मै कोन हूँ ? सुन्दरी किशोरी ! मै चचल किशोर सुन्दरता की रखवाली करने वाली हूँ । मै वह हलकी-सी मसलन हूँ जो कानो की लाली के रूप मे प्रकट हो जाती है ।"

श्रद्धा बोली—"हाँ यह बात तो ठीक हे, परन्तु यह तो बताओ मेरे जीवन का मार्ग कौन-सा है ? ससृति की इस निविड-निशा मे मेरे लिए आलोकमयी रेखा कौन-सी है ? आज मेरी समझ मे आया है कि मै नारी हूँ, दुर्बल हूँ और अपने कोमल अगो के सौन्दर्य और सोष्ठव के कारण मुझे सब से हार माननी पडती है। परन्तु मन भी स्वय इतना शिथिल क्यो होता जाता है ? उसमे सर्वस्व समर्पण कर के चुपचाप पडे रहने की भावना क्यो उत्पन्न होती है ? मै अपने मानस की गहराई मे सबलहीन होकर तैर रही हूँ, मै अपने एक सुन्दर सपने मे लगी हुई हूँ और जागरण की इच्छा नही करती । क्या यही नारी जीवन का चित्र है ? मै रुकती हूँ, मै ठहरती हूँ परन्तु सोच-विचार करने की मेरे मे क्षमता नही है । मेरे भीतर बैठी हुई कोई पगली-सी प्रतिदिन बकती रहती है । मै अच्छे-बुरे का, उचित-अनुचित का विवेक खो चुकी हूँ। और पुरुषवृक्ष से अपनी भुज-लता फँसा कर झूले के समान झोके खा रही हूँ । मै आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ, और इस आत्मसमर्पण मे शुद्ध उत्सर्ग है, केवल दान है, बिना किसी प्रतिदान या बदले की आशा से । मेरा तो हृदय यही कहता है कि मै दे डालूँ, लूँ कुछ भी नही ।"

श्रद्धा को रोकती हुई लज्जा बोली—"नारी ! ठहरो, तुम क्या कहती हो ? तुम अपने जीवन के स्वर्ण स्वप्न पहिले ही दान कर चुकी हो ! नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो । तुम्हारे पदतल मे विश्वास की शृखला है । परन्तु तुम जीवन के सुन्दर समतल मे अमृत के स्रोत के समान बहती रहो । अन्तस्तल मे देवासुर सग्राम चल रहा है । यह सघर्ष नित्य है । तुम्हारे मन की सारी अभिलाषाओ का आधार होगा आँसू भरा अचल, और तुम्हे अपनी स्मित-रेखा से देवो और दानवो के बीच सन्धि-पत्र लिखना पड़ेगा, क्योकि सघर्ष जीवित रहने पर सदा ही विरुद्ध पड़ता है ।"

कर्म सर्ग

मनुष्य का मन जब एक बात निश्चित कर लेता है, तो उसकी पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण ढूँढ़ निकालता है। मनु के मन में जीवन की आशा जग उठी थी। श्रद्धा के उत्साह-पूर्ण वचनों से उसे सहारा मिला। काम की प्रेरणा पाकर वह सबल हुई। मनु के लिए सोम कर्म का प्रतीक था। अतः वे सोम-यज्ञ का निश्चय कर बैठे और लगे उसकी पुष्टि करने।

उधर दो असुर पुरोहित भटक रहे थे। उनका नाम था किलात और आकुलि। जल-प्लावन के बाद वे बहुत कष्ट सह चुके थे। मनु का पशु प्रायः उनके सामने आता था। उसे देखते ही उनके मुँह में पानी आ जाता और वे व्याकुल हो जाते। एक दिन आकुलि किलात से बोला—"क्यों किलात ! तृण खाते-खाते कबतक रहूँ ? यह जीवित पशु देखकर कबतक लहू का घूँट पीता रहूँ ? क्या ऐसा कोई उपाय नहीं कि हम लोग इसको खा सकें ?"

तब किलात ने कहा—"देखते नहीं, इस पशु के साथ यह श्रद्धा छाया के समान लगी रहती है। उसके कारण मेरी माया नहीं चल पाती, नहीं तो मैं इसको कब का खा जाता। फिर भी आज तो कुछ कर के ही दम लूँगा। चलो देखें, क्या होता है?" यह निश्चय कर के वे दोनों उस कुञ्ज के द्वार पर गये जहाँ मनु ध्यान-मग्न-से बैठे थे।

मनु सोच रहे थे—यज्ञ से ही जीवन-लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, इसी से आशा पूर्ण हो सकती है। सोचते-सोचते मनु एक प्रश्न पर अटक गये। पुरोहित कौन बने ? बिना पुरोहित यज्ञ का विधान कौन बतावे ? अन्त में उनकी दृष्टि श्रद्धा पर गयी। उन्होंने सोचा श्रद्धा मुझे बड़े पुण्य से मिली है। उसको छोड़ अब किसको ढूढ़ूँ ?

मनु सोच ही रहे थे कि किलात और आकुलि उनके सामने आ गये। उनका मुख गम्भीर था। वे बोले—"क्या तुम यज्ञ करोगे ? जिनके लिए यज्ञ होता है हम उन्हीं के भेजे हुए आये हैं। तुम पुरोहित की आशा में अभी तक कितने कष्ट सह चुके होगे ?" असुरों की माया सफल हो गयी। मनु ने उनको पुरोहित बनाकर यज्ञ करना निश्चित कर लिया।

यज्ञ पूरा हुआ। वेदी पर ज्वाला धधक रही थी। वह पशु की बलि ले चुकी थी। रुधिर के छींटे इधर-उधर पड़े हुए थे। हड्डियाँ बिखरी हुई थीं। सोमपात्र भरा हुआ रखा था। पुरोडाश भी एक ओर था। यज्ञ की समाप्ति पर मनु संतुष्ट थे। परन्तु सहसा उनको विचार आया—"श्रद्धा कहाँ है ? अरे, वह इस को देखकर कितनी प्रसन्न होती ! परन्तु, वह यहाँ क्यों नहीं आयी ? क्या वह प्रसन्न नहीं है ?... क्या वह पशु मर कर भी मेरे मार्ग का बाधक बनेगा ? क्या श्रद्धा

उसके लिए मुझ से रूठ गयी है?" यह सोचते-सोचते मनु पुरोडाश के साथ सोम पीने लगे।

उधर श्रद्धा अपनी शयन-गुहा में लौटकर आयी। उसके मन में एक विरक्ति का भार था; वह भीतर-ही-भीतर बिलख रही थी। वह एक कोमल चर्म बिछाकर पड़ रही। वह अपने नेत्र खोलती-मूँदती सोचने लगी—"हाय! मैंने जिसको चाहा वह तो कुछ और ही बन गया। मैंने भविष्य के कैसे-कैसे सुन्दर चित्र बनाये थे, परन्तु वे सब स्वप्न ही सिद्ध हुए! मेरे अनन्त मधुवन में दारुण ज्वाला का प्रवेश हो गया है। वह कैसे बुझे? . . . भगवान् तुम तो अखिल विश्व का विष इसीलिए पीते हो कि सृष्टि पुनः जीवित हो। कितनी शीतलता है तुममें! कौन हो तुम देव! जो अनन्त आकाश में आसीन, अपने शरीर से श्रम-कण की भाँति तारागण को छिटका रहे हो। मानव भूल करता है और भूल में भरा है विषाद। क्या वह पूर्णता पाने के लिए भूल करता है? परन्तु यह कैसी मानवता है! एक प्राणी दूसरे प्राणी के प्रति निर्मम हो रहा है। जो एक के जीवन का संतोष होता है वही दूसरे के लिए रोदन बनकर अट्टहास करता है! . . ."

श्रद्धा इसी प्रकार सोचते-सोचते सो गयी। परन्तु, उसका सौन्दर्य फिर भी जागृत था; अपनी रूप-ज्योत्सना में वह नारी दीप्त हो रही थी। मनु आया, वासना में डुबकी लेता हुआ। उसने श्रद्धा का हाथ अपने हाथ में लिया और वह जाग गयी।

'मानिनि!' मनु ने कहा, "यह तुम्हारी कैसी माया है? हम दोनों ही तो बच रहे हैं। यह आकर्षणमय विश्व केवल हमारा ही भोग्य है। फिर क्यों न हमारे जीवन में वासना की धारा स्वच्छन्द होकर बहे? लो प्रेयसि! यह सोम पी लो, जिससे हम तुम मिलकर मादकता के दोले पर झूल सकें।"

"यह तुम क्या कह रहे हो?" श्रद्धा ने आँखें खोलते हुए कहा, "आज तुम वासना में बहते हो और यदि कल ही फिर जल-प्लावन हुआ, तो कौन बचेगा! क्या फिर भी कोई साथी बनकर कोई नवीन यज्ञ रचेगा? क्या फिर किसी देव के नाते फिर कोई पशु बलि दिया जायेगा। कितनी प्रवञ्चना है मनु! हमें अपने ही सुख की चिन्ता है। क्या अन्य प्राणियों का कोई अधिकार ही नहीं? क्या यही है तुम्हारी नव मानवता?"

मनु को यह बात नहीं रुची। वह बोला—"श्रद्धे! अपना सुख भी तुच्छ नहीं है। उसका भी कुछ अस्तित्व है और सच पूछो तो इस क्षणिक जीवन का वही चरम लक्ष्य है। इंद्रियों की इच्छाएँ जहाँ निरन्तर सफलता प्राप्त करती रहें, जहाँ ज्योत्सना में रोमाञ्च और मुसकान के साथ आलिंगन होता रहे, वह अपना सुख-स्वर्ग नहीं है! यह तुम क्या कहती हो?"

एक अचेतनता-सी लाती हुई श्रद्धा ने सविनय इसका प्रतिवाद करते हुए कहा, "अपने में सब कुछ सीमित करके भला व्यक्ति कैसे विकास कर सकता है ? यह एकान्तिक स्वार्थभावना अत्यन्त भीषण और अपना ही नाश करने वाली है । हे मनु ! औरों को हँसते देखो तो स्वयं हँसो और सुख पाओ । अपने सुख का विस्तार कर लो—सब के सुख में अपना सुख समझो । यज्ञ-पुरुष का यह रचनात्मक सृष्टि-यज्ञ चल रहा है ; इसको विकसित करने के लिए ही हमें विश्व-सेवा के रूप में इसका कुछ भाग मिला हुआ है । सुख का अन्त आत्म-तुष्टि ही नहीं है—यह तो एक कन्जूसी है, तुच्छ संग्रह-भावना है । सुख की पूर्ति प्रदर्शन में है, औरों को दिखलाने में है । निर्जन में तुम अकेले सुख प्राप्त कर लो, तो इससे औरों को क्या मिलेगा ?"

यह कहते-कहते श्रद्धा उत्तेजित हो गयी, उसके होंठ सूखने लगे । मनु ने प्रसंग समाप्त करते हुए कहा—"तुम जो कहती हो, वही करूँगा । सचमुच अकेले सुख का क्या मूल्य !" यह कहते-कहते उसने श्रद्धा को मनुहार करते हुए सोम का प्याला दिया । अब भला वह किस मुँह से मना कर सकती थी ।

दोनों मद में चेतनता खो गये । श्रद्धा की लज्जा जाती रही और वे दोनों आलिंगन-बद्ध थे ।

ईर्ष्या सर्ग

पल भर की उस चंचलता ने श्रद्धा के जीवन में एक अपूर्व परिवर्तन ला खड़ा किया । वह अपने हृदय का स्वाधिकार खो बैठी । अंगों की चपलता चली गयी और आलस्य ने डेरा डाला । उसका वह मुक्त हास नहीं रह गया और न रह गया वह विलास और विभ्रम जो मनु को आकर्षित करता था । अब तो वह उस मधुर-निशा के समान थी जो निष्फल अंधकार ही फैलाती है । श्रद्धा अब गर्भिणी थी ।

मनु पर असुर-पुरोहितों का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था । उन के मुँह में रक्त लग चुका था । वे हिंसा-सुख का अनुभव कर चुके थे । अतः अब उन्हें मृगया छोड़ कोई अन्य काम नहीं रह गया । वस्तुतः केवल हिंसा से भी उनकी तृप्ति नहीं हो रही थी । उनका अधीर मन कुछ और भी चाहता था । जो कुछ उनके पास था उसमें अब कुछ नवीन नहीं रह गया था । श्रद्धा का सरल और, अकृत्रिम विनोद अब उन्हें नहीं रुचता था । वह उन्हें बिलकुल दीन-हीन लगता था ।

वह दुःखी था । वह प्रायः सोचा करता था—"जीवन की चिर-चंचल पुकार हो रही है । मेरे प्राण व्याकुल हैं । श्रद्धा के प्रणय में कोई रस नहीं । बिल्कुल

आदिम अभिव्यक्ति होती है उसकी । न आलिंगन की व्याकुलता है और न चुम्बन की । न अनुरोध है, न उल्लास, न भावनामयी स्फूर्ति और न वह मादक मुस्कान । वह हाव-भाव, वह इठलाना और वह नृत्यमयी लीला सदा के लिए चले गये । वह अब मेरी बिल्कुल उपेक्षा करने लगी है । उसके लिए मानो मेरा अस्तित्व ही नहीं । जब देखो तब शालिओं को बीन रही है, अन्न इकट्ठा कर रही है या तकली कात रही है । असह्य है यह उपेक्षा !"

एक दिन मनु मृगया से लौट रहे थे । अपनी गुफा का द्वार दिखाई पड़ा । उसे देखते ही एक विराग जाग पड़ा और आगे बढ़ने की इच्छा न हुई । 'क्या है वहाँ मेरे लिए' उसने अपने मन मे सोचा । मृग को वहीं डाल दिया। धनुप और शृंग भी वहीं पटक कर, थका मनु वहीं बैठ गया ।

उधर श्रद्धा मनु की प्रतीक्षा में व्याकुल हो उठी । सायंकाल हो चुका था, रात्रि का पदार्पण हो रहा था । उसकी तकली चल रही थी और वह सोच रही थी—"पश्चिम की लालिमा अब कालिमा में बदल चुकी है, परन्तु वे अब तक न आये ! क्या कोई चपल मृग उन्हें दूर ले गया. . .", सोचते-सोचते वह अनमनी-सी हो गयी और उठकर चल दी । शरीर कृश था । मुख पर पीलापन था और आँखों में आलस्य भरा स्नेह । पीन-पयोधर बँधे हुए थे । गर्भ-भार से वह धीरे-धीरे चलती हुई मनु के पास पहुँची । प्रसव-काल दूर नहीं था । अतः कुछ मीठा दर्द भी था ।

मनु ने उसका वह हाव-भाव-विहीन रूप देखा । उसमें उसे अपनी अभिलाषा का दृढ़ विरोध दिखाई पड़ा । वह कुछ भी बोला नहीं ; खाली देखता रहा । श्रद्धा उसके मन की बात ताड़ गयी और कुछ-कुछ मुस्कराने लगी । "तुम दिन भर कहाँ भटकते रहे ?" श्रद्धा ने मधुर स्नेह के साथ मुस्कराते हुए फिर कहा, "तुम्हें यह हिंसा इतनी प्यारी है कि इसके लिए अपने देह-गेह को भी भुला बैठे । मैं यहाँ अकेली बैठी राह देख रही और तुम वन में चक्कर काट रहे थे । चिड़ियाँ भी तो अपने घोंसलों में आकर अपने बच्चों को चूम रही हैं । उनके घर में कलरव हो रहा है, परन्तु हमारा घर-द्वार सूना पड़ा है । तुम्हें ऐसी क्या कमी है जो भटकते फिरते हो ?"

"श्रद्धे", मनु बोल उठे, "तुम को तो कोई कमी नहीं है, परन्तु मुझे तो स्पष्ट अभाव दिखलाई पड़ता है । मुझे तो कोई भूली हुई-सी मधुर वस्तु व्याकुल कर रही है ।" "नारी", मनु ने अपने स्वर में दृढ़ता लाते हुए कहा, "पुरुष चिर-मुक्त है, सामर्थ्यवान है । वह निरीह, पंगु और गतिहीन बना कबतक पड़ा रहे ! मैं तुम्हें जकड़ने के लिए व्याकुल हूँ और तुम ग्रन्थि तोड़ने के लिए । मैं चाहता हूँ कि तुम हँसो और बोलो, तुम्हारी बोली में मधुर संगीत हो, संगीत

में उल्लास हो और हो वह मादकता, जो मेरे प्राणों को पागल कर दे। परन्तु तुम में अब यह सब कहाँ ? तुम तो तकली में ही भूल रही हो। आखिर यह किस लिए ? क्या तुम्हारे शरीर को ढकने के लिए सुन्दर कोमल चर्म प्राप्य नहीं ? बीज बीनने का प्रयास क्यों ? क्या मैं शिकार करके नहीं लाता ? कातने-बुनने का श्रम, यह थकावट और यह पीला मुख ! यह सब किसके लिए ?"

श्रद्धा ने कहा—"हिंसक से आत्म-रक्षा करने के लिए शस्त्रसंपात तो मैं समझ सकती हूँ। परन्तु, जो निरीह प्राणी हैं और जीवित रहकर हमारा उपकार ही करते हैं, वे उपयोगी बन कर क्यों न जिएँ ? उनपर तुम्हारा अस्त्र क्यों चले ? यह मेरी समझ में नहीं आता। यदि हम पशु से कुछ ऊँचे हैं, तो हमारा कर्तव्य है कि जो पशु पाले जा सकते हैं उनका अवश्य पालन करें।"

"नहीं श्रद्धे !" मनु बीच ही में बोल उठे—"मैं यह नहीं मान सकता कि सहज-प्राप्त सुख यों ही छूट जायँ और हमारा जीवनसंघर्ष यों ही चलता रहे। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि यह अमोल जीवन कितना लघु है ! फिर चिर प्रशान्त मंगल की कामना क्यों ? तुम यह स्नेह किसके लिए बटोर रही हो ; मुझे वञ्चित कर तुम अपना अनुराग किस पर केन्द्रित कर रही हो ? प्रेम जीवन का वरदान है। रानी ! तुम अपना सारा दुलार मुझे दे दो। मैं चाहता हूँ कि तुम्हें प्रतिक्षण मेरी ही चिन्ता हो जिससे मेरा एक सुन्दर मधुमय विश्व बन जाये।"

"मैंने तो एक कुटीर बनाया है," श्रद्धा ने बात बदलते हुए कहा, "चलकर देखो तो।" यह कहती हुई वह मनु को हाथ पकड़ कर ले गयी। मनु ने देखा कि गुफा के पास ही एक छोटा-सा सुंदर कुटीर है और उसमें एक वेतसी लता का झूला पड़ा है। मनु को यह सब अच्छा-सा नहीं लगा। वह सोच रहा था कि यह सब किसके सुख के लिए हो रहा है ? परन्तु वह चुप था।

अंत में श्रद्धा ही बोली—"जब तुम दूर चले जाते हो, तो मैं यहाँ बैठकर तकली कातती हूँ और यह गीत गाती हूँ:—

चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।

जीवन का कोमल तंतु बढ़े,
तेरी ही मंजुलता समान ;
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटें
सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।

किरणों सी तू बुन दे उज्ज्वल,
मेरे मधु जीवन का प्रभात ;
जिसमे निर्वसना प्रकृति सरल,
ढँक ले प्रकाश से नवल गात ।

वासना-भरी उन आँखों पर
आवरण डाल दे कांतिमान ;
जिसमे सौन्दर्य निखर आवे
लतिका मे फुल्ल कुसुम समान ।

अब वह आगुंतक गुफा बीच
पशु सा न रहे निर्वसन नग्न ;
अपने अभाव की जड़ता में
वह रह न सकेगा कभी नग्न ।

फिर श्रद्धा ने भावी शिशु को लक्ष्य करते हुए मनु से कहा—"अब, जब कभी तुम यहाँ नही रहोगे, तो मेरा यह लघु विश्व सूना न रहेगा । मै उसे खिला-ऊँगी, झुलाऊँगी और दुलराऊँगी । वह मेरी छाती से लिपटा हुआ घाटी मे घूमा करेगा । वह कोमल बाल लहराता हुआ आवेगा ; उसकी मधुर मुस्कान और मीठी बोली मे एक अपूर्व आनन्द होगा ।"

मनु से यह नही सहा गया । उसकी ईर्ष्या फुफकार उठी । "हाँ श्रद्धा !" उसने कहा, "तुम तो लतिका-सी फूल उठोगी और मै भटकता फिरूँगा । मुझे यह सह्य नही है नारी ! मुझे मेरा ममत्व चाहिए । यह द्वैत ! यह द्विविधा ! ! यह प्रेम को बाँटने का ढग ! ! ! तुम मुझ से मेरा सर्वस्व छीनकर मुझे भिक्षुक बनाना चाहती हो ? नही नही, यह कभी नही होगा। यदि तुम मुझ पर दया नही करना चाहती, यदि तुम मे इतनी उदारता नही कि मुझे अपना प्रेम दे सको, तो मै भी कहता हूँ कि मुझे तुम्हारा कुछ भी नही चाहिए । यदि तुम कभी भूलकर भी आकर्षणमय हास के साथ मुझे स्नेहभरी दृष्टि दोगी, तो मै उसे वरदान समझ कर लेने के लिए कभी भी घुटने नही टेकूँगा । समझी ? तुम अपने सुख मे सुखी रहो और मुझे स्वतत्र होकर दु ख ही भोगने दो । मेरा अब यही मन्त्र होगा—'मन की परवशता महादु ख !' यह लो मै चला ।"

यह कह कर मनु चला गया । श्रद्धा कहती ही रह गयी—"रुक जा निर्मोही ! तनिक सुन ले !"

इडा सर्ग

श्रद्धा को छोड़कर मनु इधर-उधर बहुत भटके। अन्त में वे एक ऊजड़ नगर के निकट आये। वहाँ सरस्वती नदी बड़े वेग से बही जा रही थी। रात का समय था। चारों ओर सन्नाटा था। वे थके हुए पड़ रहे। वे निर्निमेष तारों को निरख रहे थे। अतीत की अनेक स्मृतियाँ उनके मन में उठती थीं।

मनु सोचते थे—"यह वही सरस्वती है जहाँ इन्द्र ने वृत्र का वध किया था। परन्तु, आज कितना सूना है वृत्रघ्नी का यह तट ! ....जीवन की एक नयी दृष्टि को लेकर देवों और असुरों में संघर्ष चला था। असुर प्राणों को आत्मा-मानते थे और इस स्थूल देह की ही पूजा करते थे ; देव अपूर्ण अहंता को ही आत्मा मानकर आत्म-मंगल में मग्न हो रहे थे। दोनों का दुराग्रह था ; दोनों ही विश्वासहीन थे। अतः वे दोनों तर्क की पुष्टि शस्त्रों से करने लगे ; युद्ध होने लगा। संघर्ष ने उनको अशान्त बना दिया। वह अशान्त भाव अब तक मेरे विरुद्ध पड़ रहा है—वही मेरे भीतर ममत्वमय मोह होकर बैठा है, वही स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता के रूप में आता है और वही प्रलय-गीत मुझको शरीर-पूजा के लिए व्याकुल बना रहा है। यह उसी पूर्व संघर्ष का ही रूपान्तर है जो मुझे आज इतना दीन-हीन और दुखी बना रहा है। ... मैं सचमुच आज श्रद्धा-विहीन हूँ।"

"मनु तुम श्रद्धा को भूल गये हो", अनन्त आकाश को कँपाती हुई एक तीखी वाणी सुनाई दी, "श्रद्धा पूर्ण आत्मविश्वासमयी है, परन्तु तुमने उसे तृणवत समझ कर उपेक्षा की। तुमने समझा कि विश्व असत् है और जीवन का क्या ठिकाना। अतः तुम सुख के क्षणों को ही वास्तविक मान बैठे और वासना-तृप्ति को ही स्वर्ग समझे। यह तुम्हारी उलटी मति है। तुम्हें अपने पुरुषत्व का मोह घेरे हुआ था और तुम भूल गये कि नारी की भी कोई सत्ता होती है। तुम्हें नहीं याद रहा कि अधिकार और अधिकारी समरसता के सम्बन्ध में बँधे हैं।"

यह बात मनु के हृदय में शूल-सी चुभ गयी। "यह कौन ? अरे फिर वही काम !", मनु ने मन में कहा, "जिसने मुझे भ्रम में डालकर मेरे जीवन का सारा सुख ले लिया।" वह फिर बोला—"अनंग ! क्या मैं अभी तक भ्रांत साधना में ही लगा रहा ? क्या तुमने बड़े प्रेम के साथ, मुझे श्रद्धा को प्राप्त करने के लिए नहीं प्रेरित किया था ? जब वह मुझे मिली, तो उसने भी मुझे अपना अमृतमय हृदय सर्मापित कर दिया। परन्तु, फिर भी मैं पूर्णकाम क्यों न हो सका ?"

काम बोला—"मनु ! यह तो ठीक है कि श्रद्धा ने तुम्हें अपना हृदय दे दिया—वह प्रणय से पूर्ण सरल हृदय, जिसमे जीवन का मान भरा था। परन्तु, तुमने उसे कब पाया ? तुमने तो सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह को ही पाया—तुम तो उसके सौन्दर्य-सिन्धु से अपना विष-पात्र ही भरते रहे। पुरुष स्वय अपूर्ण है ; उसकी पूर्ति होती है परिणय में—नारी उसकी पूरक है। परन्तु तुम अपनी अपूर्णता को नही समझ पाये और न समझ पाये परिणय के रहस्य को। तुम्हें यही चिन्ता रही कि 'कुछ मेरा हो'। यह संकुचितपूर्णता है, अज्ञान है।

"अब तुम स्वतंत्र बनने चले हो ! सुख-दुःख आदि का द्वन्द्व शाश्वत है। डाली पर कुसुम और कंटक दोनों हैं। तुम अपनी रुचि से प्रेरित होकर जो चाहते हो उसको बीनते हो। प्राणमयी ज्वाला मे प्रेम का प्रकाश भी है और वासना की जलन भी। तुमने अपने जीवन मे वासना को ही सर्वप्रथम स्थान दिया। . . .अच्छा, तो तुम्हारा प्रजातन्त्र शपभरा हो—

"मानव प्रजा मे द्वैतभाव बढे। कोलाहल और कलह निरंतर चलते रहे। एकता नष्ट-हो, भेद-भाव की वृद्धि हो। अभीप्टवस्तु अप्राप्य रहे और निश्चित दु ख की प्राप्ति होती रहे। यह वासना की संकुचित दृष्टि तुम्हें दुःखी करे—सब-कुछ साधन पास होने पर भी तृप्ति न मिले ; एक हृदय दूसरे को न पहचाने और विश्व गिरता-पडता चले। उमगे और इच्छाएँ बढ़ती जाये। अश्रुपात और हाहाकार का बोलबाला हो। दु.ख और दारिद्रय का नृत्य हो और मनुष्य तृष्णा की ज्वाला का पतंग बन जाये।

"पवित्र प्रेम का अभाव हो जाये। मस्तिष्क और हृदय के बीच संघर्ष हो। भेद-बुद्धि बाधा भरे पथ पर ले चले। सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश ही विद्या का गौरव प्राप्त करे। तुम समझ न सको कि बुराई से शुभ इच्छा की शक्ति बड़ी है। अतः तुम्हारी तर्कभरी युक्ति विफल हो। सारा जीवन युद्ध बन जाये और तुम अपनी शंकाओ मे ही व्याकुल रहो। मनुष्य अपने वास्तविक रूप को छुपा कर अपने कृत्रिम रूप को दिखलाये और पृथ्वीतल पर एक चलता-फिरता दंभ-स्तूप दिखाई पडे।

"श्रद्धा इस संसृति की व्यापक रहस्य है। वह विशुद्ध विश्वासमयी है। तुम्हें अपना सर्वस्व समर्पण कर देने पर भी, वह तुम से छली गयी। अतः तुम वर्तमान से वंचित होकर भविष्य की चिन्ता मे ही व्यग्र रहो। श्रद्धा-वंचक मानव-सन्तान अधीर होकर केवल लकीर पीटते रहें। वह श्रद्धा के इस रहस्य को न जान पावे कि 'यह लोक कल्याणभूमि' है, अपितु उसे मिथ्या मानकर परलोक की प्रवञ्चना से प्रताड़ित रहें।"

यह कहते-कहते काम रुक गया। अभिशाप की प्रतिध्वनि भी आकाश

में लीन हो गयी । मनु का हृदय अशांत था । वे सोच रहे थे—"आज वही काम फिर मेरा अदृष्ट बनकर आगया । जिसने पहले मेरे जीवन पर काली छाया डाली थी, वही आज मेरा भविष्य लिख गया । अब जीवन में अनन्त यातना चलेगी । अब तो कोई उपाय भी न बच रहा ।

* * *

सरस्वती कल-कल करती हुई बह रही थी । मनु चला जा रहा था । प्राची से मधुर आलोक फैल रहा था । प्रभात का शीतल पवन मंद-मंद बह रहा था । उसी समय मनु को एक सुन्दरी दिखाई दी । सुस्मित मुख-मंडल के आस-पास तर्कजाल-सी बिखरी हुई अलकें थीं । वक्षस्थल पर ज्ञान और विज्ञान-से एकत्र धरे हुए थे । एक हाथ में कर्म-कलश था और दूसरे में अभय मुद्रा । उसके चरणों में एक गतिभरी ताल थी और उदर-प्रदेश में एक त्रिगुणतरंगमयी त्रिबली ।

"कौन हो तुम ?", मनु ने मौन भंग करते हुए पूछा, "आलोकमयी स्मित-चेतना-सी या हेमवती छाया के समान तुम कौन हो ?"

"मैं इड़ा हूँ", नारी ने अपने प्रतिभा-प्रसन्न मुख को खोलकर कहा और फिर मनु से पूछा—"कहो, यहाँ पर विचरने वाले तुम कौन हो ?"

"बाले ! मेरा नाम मनु है । मैं एक दुखी पथिक हूँ ।"

"स्वागत पथिक ! परन्तु, मेरा यह सारस्वत प्रदेश तो उजड़ा पड़ा है । एक भौतिक हलचल हुई थी । उस से यह मेरा देश उथल-पुथल हो गया । मैं अभी इस आशा में पड़ी हुई हूँ कि कभी मेरे दिन फिरेंगे ।"

"मैं तो आया हूँ देवि !" मनु ने बीच ही में कहा, "मुझे बता दो कि जीवन का सहज मोल क्या है ? इस विश्व में जिसने यह सृष्टि का पसारा फैला रक्खा है वह महाकाल होकर भीषण ताण्डव नृत्य कर रहा है । क्या उस निष्ठुर ने प्राणियों को त्रस्त करने के लिए ही यह सृष्टि रची है ? तो हम मूर्खतावश उस नाशमयी को सृष्टि क्यों समझे हुए हैं ? यहाँ तो सर्वत्र सुख पर विषाद का आवरण ही पड़ा दिखाई पड़ता है । इस सृष्टि का स्वामी किस काम का, जो उस तक हमारी पुकार नहीं पहुँच सकती !"

"देखा है वह सुदूर शनि-लोक ?" इड़ा बोली, "उससे भी परे कोई तेज-पुञ्ज सुना जाता है । वह मनुष्य की क्या सहायता कर सकता है ? मनुष्य को नियति से शक्ति प्राप्त करना चाहिए । उसे भाग्य पर भरोसा न कर, अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए । वह स्वयं अपना सहायक है । तुम कर्म करने को कमर कसकर प्रकृति के पटल खोलो ; सबका नियमन एवं शासन करो और अपनी सामर्थ्य को बढ़ाओ । विज्ञान की सहायता से तुम जड़ता को चैतन्य करो और संपूर्ण विश्व में यश-विस्तार करो ।"

मनु को लगा कि उसे लक्ष्य-प्राप्ति हो गयी। वह प्रसन्न होकर बोला—"इड़े ! तुम उषा सी आज कितनी उदार होकर आयी हो। तुमको देखते ही, मेरे जीवन का अन्धकार मुख छिपा कर भाग गया। मेरे सुप्त मनोभाव जाग उठे और उल्लास हिलोरें लेने लगा। जब मैंने औरों का सहारा छोड़कर बुद्धिवाद को अपनाया, तो मानो आज मुझे स्वयं बुद्धि देवी ही प्राप्त हो गयी। तुम्हारे मिलने से मेरे विचारों को स्थिरता मिली और मेरे विकल्प संकल्प बन गये।"

स्वप्न सर्ग

विरहिणी श्रद्धा अब उस मकरंद-हीन पुष्प की भाँति थी, जो भूतल पर पड़ा हुआ हो। संध्या आती और सबको शान्ति दे जाती। पर श्रद्धा को कहाँ चैन ! उसका जीवन तो सूना हो चला था। रात आते ही निःश्वासों के साथ चिन्ताओं की शृंखला बँध जाती। एक के बाद दूसरी ऋतु आई और एक-एक करके बारह वर्ष बीत गये। परन्तु, उसका परदेसी अभी नहीं आया। श्रद्धा के जिस गर्भ को छोड़कर वह गया था, वह अब सुन्दर बालक बन गया था।

एक दिन सायंकाल आया और श्रद्धा स्मृतियों और चिन्ताओं में उलझ गयी। उसको छुटकारा सा देती हुई ध्वनि सुनाई पड़ी 'माँ !' फिर एक मीठी किलकार से वह सूनी कुटिया गूँज उठी। माँ उत्कंठित होकर दौड़ी। अलकें बिखेरे और धूल से सना बालक आकर उससे लिपट गया।

"कहाँ था नटखट ! अब तक", श्रद्धा ने उसको चिपटाते हुए कहा, "तू हिरनों की तरह न जाने कहाँ चौकड़ी भरता रहता है ! मैं डरती हूँ कि तू रूठ न जाय, इसीलिए मना नहीं करती।"

"माँ तुमने बहुत अच्छी बात कही—मैं रूठूँ और तू मुझे मना। ले मैं अब सोता हूँ और आज नहीं बोलूँगा। पके फल खूब खाये हैं और नींद खूब आयेगी।"

श्रद्धा ने बेटे को चूम लिया। वह हर्ष और विषाद में डूबने-उतराने लगी।

* * *

लड़का सो गया और श्रद्धा को भी धीरे-धीरे नींद आगयी। उसने एक स्वप्न देखा—"दुःखी मनु को एक नारी का सहारा मिल गया है ; वह नारी इड़ा है। मनु राजा बना ; प्रजा को आश्रय मिला और उसने अपने श्रम का उपहार मनु को भेंट कर दिया। सुन्दर सुदृढ़ घर बन गये। सारस्वत नगर में उसे सबका सहयोग प्राप्त है। खेतों में कृषक प्रसन्न होकर हल चला रहे थे। धातु गलाकर आभूषण और अस्त्र बनाये जाने लगे, अनेक यंत्रों और उपकरणों का निर्माण होने लगा। कहीं घन की चोट सुनाई पड़ती है, तो कहीं रमणी का कलकंठ। सब अपने-अपने वर्ग बनाकर श्रम करते और सम्मिलित प्रयत्न

से श्रीवृद्धि करते। ज्ञान और व्यवसाय मानवीय परिश्रम और बल की छाया में खूब वृद्धि प्राप्त कर रहे थे।

श्रद्धा उस आश्चर्य-लोक में चली जा रही थी। वह एक सिंह द्वार पर पहुँची। वहाँ प्रहरी खड़े हुए थे। उनसे बचकर किसी प्रकार भीतर पहुँची। ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों पर वलभी-युक्त रम्य प्रासाद खड़े थे। श्रद्धा सोच रही थी कि 'मैं कहाँ आ गयी।' इतने में उसने एक मंडप के नीचे सिंहासन देखा जिसके सामने कई मंच रक्खे हुए थे। एकाएक उसकी दृष्टि मनु पर पड़ी। उसके हाथ में प्याला था। वह पी रहा था और इड़ा एक मंच पर बैठी उसके प्याले में आसव ढाल रही थी।

"क्या यहाँ अभी कुछ और करने को शेष है?" मनु ने पूछा।

"इतने में ही कृतकृत्य!" श्रद्धा ने आश्चर्यपूर्वक कहा, "क्या सब साधन स्ववश हो चुके?"

"नहीं, अभी मैं तो रीता हूँ—मैंने देश तो बसाया है, परन्तु मेरा मानस देश ज्यों का त्यों सूना है।....बोल मेरी चेतनते! तू किसकी है?"

"मैं तुम्हारी प्रजा हूँ। मैं तो तुम्हें सभी का प्रजापति मानती हूँ, फिर यह सन्देह-भरा नया प्रश्न क्यों?"

"प्रजा नहीं, तुम मेरी रानी हो।" मनु बोले, "मेरे धुँधले भाग्याकाश में तुम प्राची का प्रकाश हो। मैं अतृप्त हूँ, तुम्हारे अधर-रस का प्यासा हूँ। बोलो, मेरी प्यास कब बुझेगी? ये प्रचुर सुख-साधन, ये रुपहली रातें, यह उन्मद मन और यह शिथिल शरीर! ऐसी अवस्था में तुम प्रजा मत बनो, मेरी रानी!" यह कहते-कहते नर-पशु हुंकार करके उठ खड़ा हुआ। उसने इड़ा को अपनी भुजाओं में जकड़ लिया। इड़ा चिल्ला पड़ी। और छूटकर भागी।

"उसके अतिचार से भयानक हलचल मच गयी। आत्मजा प्रजा के साथ यह अत्याचार! प्रतिशोध-भरी देव-शक्तियाँ क्रोध उगलने लगीं। रुद्र-नयन खुल गया। प्रकृति त्रस्त हो गयी। पृथिवी काँपने लगी। व्याकुल प्रजा राजद्वार पर उमड़ आयी। प्रहरियों के दल भी झुक आये। कोलाहल में घिरे हुए मनु किंकर्त्तव्य-विमूढ़ थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि आज इतनी प्रजा क्यों जुट रही है। मनु मन ही मन डर रहा था, परन्तु भय को छिपाते हुए उसने आदेश दिया —"द्वार बन्द कर दो, इनको अब यहाँ न आने देना। आज प्रकृति उत्पात कर रही है। अतः मैं सोने जाता हूँ, मुझे सोने दो।" यह कहते हुए वह शयन-कक्ष में घुस गया।

श्रद्धा स्वप्न को देखकर काँप उठी। उसकी आँख खुल गयी। अनेक प्रकार की आशंकाएँ उसके मन में उठने लगीं। वह रात भर इसी उधेड़-बुन में पड़ी

रही ।

संघर्ष सर्ग

श्रद्धा का स्वप्न सच्चा था । सारी घटनाएँ ज्यों की त्यों हुई थीं । इड़ा लज्जित और संकुचित थी ; परन्तु प्रजा में क्षोभ बढ़ रहा था । भौतिक विप्लव से घबराई हुई प्रजा राज-शरण में आयी, परन्तु उसे वहाँ मिला अपमान और दुर्व्यवहार । इड़ा का पीला मुख देखकर सबको और भी क्रोध आ रहा था । भीड़ बढ़ती जा रही थी । प्रहरीगण द्वार बन्द करके बैठे हुए थे ।

चिन्तित मनु सोच रहे थे—मैं इस प्रजा का संगठन करके कितना सन्तुष्ट था ! मैंने बुद्धि-बल से इनका नियमन और शासन करके इन्हें उन्नत किया । परन्तु क्या मुझे भी नियम मानने पड़ेंगे ? क्या मैं ही अपनी सृष्टि से त्रस्त रहूँ ? इड़ा मुझे नियमों में बाँधना चाहती है । विश्व एक बंधन-विहीन परिवर्तन ही तो है । कभी-कभी हम पुनरावर्त्तन देखकर उसे नियम मान बैठते हैं । अतः 'विश्व एक नियम में बँधा है' यह पुकार-सी सर्वत्र फैल गयी है । इन्होंने इस नियम को परखा और फिर सुख-साधन प्राप्त किया । परन्तु मैं नियामक हूँ, चिर बंधन-हीन हूँ, मृत्यु की सीमा का उल्लंघन करने वाला अमर हूँ ।

"किन्तु", इड़ा ने आकर कहा, "नियामक नियम न माने, तो फिर सर्वनाश निश्चित है ।"

"ऐं !" मनु ने मुड़कर देखा और कहा, "तुम फिर यहाँ आगयी ! क्या कुछ और उपद्रव की बात सोची है ? क्या इतने से सन्तोष नहीं हुआ ?"

"मनु !" इड़ा ने कहा, "तुम चाहते हो कि सब तुम्हारा शासन और स्वत्व मानते रहें और अपनी तुष्टि की बिल्कुल चिन्ता न करें । यह न हुआ है और न होगा । निर्बाधित अधिकार आज तक कौन भोग सका है ? यह मनुष्य चेतना का ही एक विकसित आकार है; प्रत्येक आकार ही एक चिति-केन्द्र है । इन चिति-केन्द्रों में परस्पर स्पर्धा है, संघर्ष है, जिसमें जो उत्तम सिद्ध हो वही संसृति का कल्याण करे । इसीलिए व्यक्ति-चेतना को परतंत्र होना पड़ता है । अपना जिसमें श्रेय हो उसी में सुख होना चाहिए; लोक को सुखी करने के लिए व्यक्ति राष्ट्र-शरीर में अपना व्यक्तित्व रमा दे । देश की कल्पना काल में और काल महाचेतन में लीन हो जाता है । वह अनन्त चेतन नाच रहा है; तुम भी नाचो, ताल से ताल मिलाकर—अनजाने भी अपना कोई विवादी स्वर न छेड़ो ।"

"अच्छा !" मनु बोला, "तुम्हें यह सब समझाने की आवश्यकता नहीं । यदि मेरी अभिलाषा पूरी न हो, तो प्रजापति का अधिकार ही क्या ? मुझे कोरे दान में विश्वास नहीं, मुझे चाहिए प्रतिदान । जब तक तुम मुझे मनचाहा प्रति-

दान नहीं दे सकती, तब तक अपना अभी का उपदेश लौटा लो।......... इड़े ! मैं तुझ पर अपना अधिकार चाहता हूँ। तुम कहती हो कि विश्व एक लय है जिसमें मैं अपने को लीन कर दूँ। परन्तु इसमें क्या सुख धरा है ? मैं तो चाहता हूँ कि चाहे कितना ही बड़ा संकट या विप्लव क्यों न हो, परन्तु तुम मेरी रहो, मेरे पास रहो।"

"आह !" इड़ा ने दीर्घ श्वास लेते हुए कहा, "क्या तुम मेरी अच्छी बातें कभी न समझोगे ? प्रजा क्षुब्ध होकर शरण माँग रही है। प्रकृति का आतंक निरंतर बढ़ता जा रहा है। सावधान ! मैं तुम्हारी ही कल्याण-कामना से कुछ कहना चाहती थी। परन्तु, यहाँ अब और रहने और कहने से कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता।"

"मायाविनि !" मनु उत्तेजित होकर बोला, "बस, तुमने इतने से ही छुट्टी पाली। तुम्हीं अभिशाप बनकर मेरे सामने आयी और मुझसे संघर्ष का सूत्रपात कराया। मैंने चार वर्ण बनाये और श्रम-विभाग किया। एसे-ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ जिनकी कभी स्वप्न में भी आशा न थी। आज मनुष्य शक्ति का खेल खेलने में आतुर है; वह प्रकृति के साथ निरंतर संघर्ष कर रहा है। अब डर की क्या बात ?............राष्ट्र-स्वामिनी ! अब नियमों की बाधा मत उपस्थित करो। मेरे इस हताश जीवन में कुछ सुख के क्षण आ जाने दो। मुझे तुम्हारा वैभव और ऐश्वर्य नहीं चाहिए। मैं तो सब उपायों से तुम्हें अपना कह सकूँ, यही एक इच्छा है। यदि यह नहीं हो सकता, तो इस सारस्वत देश को ध्वस्त हुआ समझो।"

"मनु !" इड़ा बोली, "मैंने जो किया उसको इस प्रकार न भुलाओ और न अपनी सफलता पर ही फूल जाओ। मैंने तुम्हें प्रकृति के साथ संघर्ष सिखाकर या तुम्हें केन्द्र मानकर कोई अनहित नहीं किया। मैंने इस सारी विभूति का तुम्हें स्वामी बनाया। किन्तु आज मेरा यही अपराध है कि मैं तुम्हारी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाती, अपितु हितकारी बात कहती हूँ। मनु ! अब भी चेतो। अभी समय है। तुम मुझ पर विश्वास करो, तो अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। यदि तुम धैर्य धारण करो, तो सब कुछ फिर बन सकता है।"

यह सुनते-सुनते मनु का मन फिर विकृत हो गया। उसकी दुर्भावना को ताड़कर, इड़ा ने अपने पैर द्वार की ओर बढ़ाये। परन्तु मनु ने उसे अपनी भुजाओं में कसकर रोक लिया। वह असहाय देखती रही। अबला क्या करती ? मनु ने फिर उससे कहा—"यह सारस्वत देश तुम्हारा है और तुम इसकी रानी हो। मुझे अपने हाथ की कठपुतली बनाकर मनमानी करवाती हो। मैं यह दासता स्वीकार नहीं कर सकता। मैं शासक हूँ, चिर स्वतंत्र हूँ; यदि मेरा अधिकार तुम्हारे ऊपर

हो, तभी जीवन सफल हो सकता है। अन्यथा मैं सारा भार छोड़ता हूँ और शासन-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न होने देता हूँ।...........”

मनु यह कह ही रहा था कि सिंहद्वार अरराकर टूट गया और जनता भीतर घुस पड़ी। “मेरी रानी” की पुकार मच गई! मनु हाँफ रहे थे। उनके पैर काँप रहे थे। थोड़ी देर में उन्होंने अपने को सँभाला और राजदण्ड हाथ में लेते हुए उच्चस्वर में कहा—“तुम लोग मेरी बात सुनो। मैंने तुम्हें तृप्त करने वाले सुख साधन बतलाये। मैंने ही श्रम-विभाग किया और वर्ण-व्यवस्था कायम की। आज हम प्रकृति के अत्याचारों को चुपचाप नहीं सहते; हम कुछ-न-कुछ उनका प्रतिकार करते हैं। आज हम पशु या गूँगे वनचर नहीं है। आज हम सभ्यता के उच्च स्तर पर आसीन हैं। क्या मेरा यह महान उपकार तुम भूल गये ?”

वे लोग क्रुद्ध होकर बोले—“देखो पाप अपने मुख से ही पुकार उठा है!” फिर स्वर में दृढ़ता लाते हुए उन्होंने कहा, “तुमने हमें योग-क्षेम की अवश्य शिक्षा दी, परन्तु उससे भी अधिक तुमने हमें लोभ सिखाया जिससे हम निन्नानवे के फेर में पड़ गये। आज हम विचार-संकट में पड़े हैं। हमको यही सुख मिला कि हम सम्वेदनशील हो गये और कल्पित दुःखों को मानकर दुःखी होने लगे। तुमने हमें यन्त्र देकर हमारी प्राकृतिक शक्ति को छीन लिया और यन्त्र की सहायता से उत्पादन बढ़ाकर शोषण के द्वारा हमारे जीवन को जर्जर कर डाला। और फिर इड़ा पर यह अत्याचार! क्या तुम अभी तक इसीलिए हम सब के बल से जीते रहे! आज हमारी रानी इड़ा यहाँ बन्दिनी है; फिर तेरा भी निस्तार कैसे हो सकता है!”

यह सुनते ही मनु बोले—“अच्छी बात है! तो आज मैं जीवन-संग्राम में अकेला हूँ—प्रकृति और उसके पुतलों के भीषण दल के बीच में एकाकी हूँ। परन्तु फिर भी एक साहसिक का पौरुष सब लोग देख लें और इस राजदण्ड को वज्र के समान बना समझ लें।” यह कहकर मनु ने अपना प्रचण्ड अस्त्र सँभाला। भयंकर युद्ध हुआ। प्रजा का दल झुंझलाता हुआ शस्त्रों की चकाचौंध करता हुआ आँधी के समान बढ़ रहा था। तीखे तीरों की वर्षा हो रही थी और मनु उन आघातों को रोकते हुए खंग-प्रहार कर रहे थे। मनु घायल होकर कुछ पीछे हटे और एक खम्भे से टिक गये। “बस अब इसको मत जाने देना” किसी ने कहा। मनु ने घूमकर देखा, ये किलात और आकुलि के वचन थे जो इस विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे। मनु सजग होकर उधर ही बढ़े और उन दोनों से बोले—“ओ किलात और आकुलि! यह उत्पात मचाने वाले तुम ही दोनों हो? मैंने तुमको अपना समझ कर यज्ञ-पुरोहित बनाया था। अच्छा! तो, आओ देखो बलि कैसी होती है और कैसा होता है यह रण!” यह कहकर मनु ने प्रहार किया और दोनों असुर-

पुरोहित उसी क्षण धराशायी हो गये ।

इड़ा बराबर कहती थी—"बस, युद्ध बन्द करो । देखते नहीं यह प्रकृति का ताण्डव-नृत्य हो रहा है, जिससे भयंकर जन-संहार स्वयं हो ही रहा है । फिर, हे पागल प्राणी ! अपना जीवन क्यों खोता है ? ओ अभिमानी ! जरा ठहर जा, सब को जीने दे और फिर अपने आप भी सुख से जी ले ।" परन्तु, वहाँ कौन किसकी सुनता ! रणवेदी पर सामूहिक बलि हो रही थी । न मनु का हाथ रुकता था, और न प्रजा-पक्ष का ही हाथ रुकता था । रक्त पानी होकर बह रहा था । भयंकर रुद्र-धनुष धूमकेतु के भाँति जला और अन्तरिक्ष में महाशक्ति के हुंकार हुए । सभी शत्रु भीषण वेग से मनु पर प्रहार करने लगे और मनु मुमूर्षु होकर वहीं गिर पड़े ।

निर्वेद सर्ग

रात का समय था । चारों ओर सन्नाटा था । सरस्वती नदी सर्राटे से बहती चली जा रही थी । सारस्वत नगर युद्ध का विष-विषाद लेकर मलिन हो रहा था । आकाश में उल्काधारी प्रहरियों की भाँति तारे विचर रहे थे । घायलों की सिसकियों में मर्म-व्यथा प्रकट होती थी । पवन कुछ खेद और अवसाद-सा लिये हुए ठहर-ठहर कर चलता था । यज्ञ-मंडप के सोपान सूने पड़े थे । वहाँ केवल इड़ा बैठी हुई थी । मनु का घायल शरीर भी वहीं पड़ा था और इड़ा ग्लानि से भरी हुई कुछ बीती बातें सोच रही थी ।

"उसने मुझे प्रेम किया था । जो प्रेम सीमा तोड़ देता है वह अपराध की श्रेणी में आ जाता है । उसने अपराध किया और वह अपराध भी कितना भयंकर ! ....एक दिन था जब वह एक गृहहीन दुखी परदेसी के रूप में यहाँ आया था । वह यहाँ नियामक प्रजापति बना—सागर की लहरों से उठकर शैल-शृंग पर आसीन हुआ । आज वही मुमूर्षु-सा पड़ा हुआ है ! जो मेरा उपकारी था वही आज अपराधी बना पड़ा है ।..........भला और बुरा, सुख और दुःख वस्तुतः एक ही अंकुर की दो कोंपलें हैं, अतः क्यों न दोनों को ही प्यार किया जाय । सुख बढ़ा कि दुःख बना; परन्तु किस बिन्दु पर रुका जाय, यह किसको पता ? प्राणी भविष्य की चिन्ता में वर्तमान का सुख छोड़ कर अपने ही मार्ग में विघ्न बन जाता है ।"

सोचते-सोचते उसके मन में आया कि—मैं इस अपराधी को दंड देने बैठी हूँ या रखवाली करने । सहसा उसे एक दूरागत ध्वनि सुनाई पड़ी । वह चौंक पड़ी । उसने कान लगाकर सुना । कोई कह रहा था :—

अरे बता दो मुझे दयाकर
कहाँ प्रवासी है मेरा ?
उसी बावले से मिलने को
डाल रही हूँ मैं फेरा।

रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मैं
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किसको मैं !

यही भूल अब शूल सदृश हो
साल रही उर में मेरे,
कैसे पाऊँगी उसको मैं,
कोई आकर कह दे रे !"

इड़ा ने उठकर देखा। राजपथ पर उसे एक धुँधली-सी छाया चलती दिखाई दी। उस की वाणी में वेदना थी, वस्त्र अस्त-व्यस्त थे, और उसके बाल खुले हुए थे। उस की उंगली पकड़े हुए एक बालक चल रहा था। वे दोनों श्रद्धा और मानव थे। वे चलते-चलते बहुत थक गये थे और मनु को खोज रहे थे। इड़ा उनको देखकर द्रवित हो गयी और उनके पास पहुँचकर पूछने लगी—"तुम इस रात्रि में कहाँ भटकती फिरती हो ? तुम्हें कौन छोड़ गया ? बैठो, और अपने दुःख की बात सुनाओ। जीवन की यात्रा बड़ी लम्बी है, उसमें कभी खोये हुए भी मिल जाते है।"

श्रद्धा इन सहानुभूति-भरे वचनों को सुनकर रुक गयी और इड़ा की ओर चलने लगी। वहाँ वेदी पर अग्नि थी ही; वह सहसा धधक उठी जिससे सारा मण्डप आलोकित हो उठा। इस प्रकाश में श्रद्धा ने कुछ देखा और वह डग भरती हुई उसी ओर चल पड़ी। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने देखा कि स्वप्न सच्चा था, और वह घायल हुए मनु ही पड़े हुए थे। "आह प्राणप्रिय !" वह बोली, "यह क्या ? तुम्हारा यह हाल !" यह कहते-कहते श्रद्धा का हृदय अश्रु बनकर बह पड़ा। इड़ा आश्चर्य से देख रही थी। श्रद्धा मनु के पास बैठ गयी और उसी को अपने कोमल-करों से सहलान लगी। उसका मधुर स्पर्श मनु को शीतल अनुलेप-सा लगा। उसकी आँखें खुलीं और आँखों में अश्रु-बिन्दु आ गये।

उधर कुमार ऊँचे भवन, मंडप और वेदी को देख-भाल रहा था। उसे उन सब में एक नवीनता दिखाई पड़ती थी और वे उसे आकर्षित कर रहे थे।

"अरे !" श्रद्धा ने जोर से कहा, "बेटा ! आ जा, तू भी आ जा और अपने

पिता को देख ले। वे यहाँ पड़े हुए हैं।" यह सुनते ही कुमार को रोमांच हो गया और उसके मुँह से निकला—"अरे पिता आ गया!" फिर वह पास पहुँच कर बोला—"माँ! तू बैठी क्या कर रही है? पिता जी प्यासे होंगे; कुछ जल दे उन्हें।" सारा मंडप मुखर एवं सजीव-सा हो गया। एक छोटे-से कुटुंब का-सा वातावरण उस घर में छा गया और उसके साथ फैल गया श्रद्धा का एक मधुर संगीत-स्वर :—

"तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!

विकल हो कर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय की बात रे मन!

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की;
मैं उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन!

जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन!

मनु ने श्रद्धा को पहचान लिया और बोले—"श्रद्धे! तू आ गयी।"—फिर इधर-उधर दृष्टि डालते हुए, उसने कहा—"अरे, तो क्या मैं अभी वहीं पड़ा हूँ। वही भवन, वही स्तम्भ और वही वेदी।" फिर उसने आँख बन्द कर ली। और और बोला—"श्रद्धे! मुझे यहाँ से दूर ले चल, नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि मैं तुझे फिर खो बैठूँ। मेरा हाथ पकड़ ले; चल मैं तेरे सहारे चलता हूँ।" सहसा उसकी दृष्टि इड़ा पर पड़ी और उसके हृदय में घृणा उमड़ पड़ी वह बोला—"वह तू कौन! परे हट; श्रद्धे! इससे दूर रह।"

श्रद्धा ने मनु को जल पिलाया। तब वह कुछ स्वस्थ हुए और कहने लगे—"मुझे यहाँ से ले चलो। मुझे यहाँ मत रहने दो। हम कहीं भी गुहा बनाकर रह लेंगे। पर्याप्त दुःख सहे और भी जो होगा सो सह लेंगे।"

'जरा ठहरो' श्रद्धा ने बीच ही में कहा, "स्वस्थ होओ, कुछ बल आने दो; तुम्हें शीघ्र ही ले चलूँगी मैं।" फिर उसने इड़ा की ओर देखते हुए कहा, "क्या इतने क्षणों तक यह हमें यहाँ रहने नहीं देंगी ?" इडा सकोच से गड़ी जा रही थी। श्रद्धा अविचल थी। परन्तु मनु बोल उठे—"एक समय था जब मेरे जीवन में एक साध थी और मेरा यौवन अलसायी आँखें मूँदे हुए सुख भोग रहा था। सहसा अन्धकार की आँधी उठी और एक हलचल मे विश्व विक्षुब्ध हो उठा। उस समय जब तुमने अपनी मगलमयी मधुर स्मिति दिखलाई तो तुम्हारी अमर छवि मेरे हृदय पर अंकित हो गयी और मुझे, सुन्दर की मृदु-महिमा सिखलाने लगी। उस दिन मैंने जाना कि सुन्दर किसे कहते हैं। तुमने मेरे शुष्क जीवन में हरियाली उत्पन्न कर दी—और जिस विश्व मे दुःख की आँधी और पीड़ा की लहरी उठ रही थी वही वर्षा के कदम्ब-कानन के समान हो गया। तुमने मुझे हँस-हँसकर सिखलाया कि विश्व एक खेल है जिसको खेलते चलना चाहिए। तुमने मुझ से मिल कर मुझे सब से मेल करना सिखाया। तुम मेरे चिर अतृप्तिमय जीवन में सन्तोषस्वरूप थीं। मैं तुम्हारा अत्यन्त आभारी हूँ। परन्तु मैं कितना नीच हूँ कि मैं तुम्हारी मंगल-माया को समझ न सका और आज भी हर्ष, शोक, क्रोध और मोह के चक्कर में पड़ा हुआ हूँ। आज यह मेरा शापित-सा जीवन भटक रहा है। और मैं सब के ऊपर—अपने ऊपर भी झुँझलाता और खीजता हूँ। ऐसा लगता है तुम मुझको जो देना चाहती थी मैं उस को न पा सका। पाऊँ भी कैसे ? कहा तो तुम्हारी वह अजस्र-मधुधारा और कहाँ मैं एक क्षुद्र-पात्र, अनेक छिद्रों से परिपूर्ण। यह कुमार मेरे जीवन का एक श्रेष्ठ अंश है। यह सुखी रहे और सब सुखी रहें। बस, मुझ अपराधी को छोड़ दो, जाने दो।"

श्रद्धा चुपचाप सुनती रही। मनु के भीतर उठती हुई आँधी को वह भली भाँति समझ रही थी। परन्तु वह कुछ बोली नहीं।

* * *

दिन बीत गया और रात आयी। कुमार सो गया और उसके पास ही सो गयी इड़ा। श्रद्धा भी हारी-थकी, हाथों का तकिया बनाये लेट रही। वह मन-ही-मन कुछ सोच रही थी। धीरे-धीरे सब सो गये, केवल मनु सोच रहे थे, "जीवन कैसी विकट पहेली है ! इसमें कितनी व्यथा है ! यह एक इंद्रजाल है जिससे अब भागना ही अच्छा। अपने इस कलुषित मुख को श्रद्धा के सामने कैसे दिखाऊँ ? फिर चारों ओर शत्रु-ही-शत्रु और तिस पर सब-के-सब कृतघ्न। इनका कैसे विश्वास किया जाय ! अच्छा यही है जहाँ शान्ति मिले वहीं जाकर उसको खोजूँ।

* * *

प्रातःकाल हुआ, तो मनु का वहाँ पता न था।

दर्शन सर्ग

एक चन्द्रहीन रात का सवेरा था । श्रद्धा नदी के किनारे खड़ी थी और वह निर्निमेष जल-प्रवाह को देख रही थी ।

"माँ !" कुमार ने आकर कहा, "तू इधर इतनी दूर आ गयी ! इस निर्जन में तू क्या देख रही है ? चल माँ ! घर चल ।" श्रद्धा ने उत्तर में उसे चूम लिया। वह फिर बोला—"माँ ! तू इतनी उदास क्यों है ? तू कई दिनों से यों ही चुप रहती है और न जाने क्या सोचती रहती है ? कुछ तो बता मैया ! तुझे क्या दुःख है ?"

श्रद्धा ने कहा—"कितना सुन्दर और कितना उदार है यह विश्व ! संसार के हर्ष और शोक कल्पित हैं । आकाश-सरोवर का यह मरालरूपी जगत कितना सुन्दर और विशाल है ! इसके स्तर-स्तर में मौन शान्ति भरी है । यह अत्यंत शीतल है और इसमें दृश्यमान ताप केवल एक भ्रांति है। यह परिवर्तनमय होने से ही चिर-मंगल है........यह मेरा निवास अत्यंत मधुर कान्तिवाला है; यह सुखद शान्ति से भरा एक नीड़ है ।"

"अम्ब !" किसी ने पीछे से कहा, "फिर इतना विराग क्यों ? मुझे अपना स्नेहपात्र क्यों न बनाया" श्रद्धा ने मुड़कर देखा । यह इड़ा थी। उसके मुख-मडल पर एक विषाद की रेखा थी और उसका सौन्दर्य्य मलिन हो रहा था ।

"तुमसे विरक्ति" ! श्रद्धा ने कहा, "तुमसे विरक्ति कैसी ? तुम जीवन की अन्धानुरक्ति हो; मुझसे बिछुड़े मनु को सहारा देकर तुमने जीवन-रक्षा की। आशामयि ! तुम चिर आकर्षण हो, मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति हो । मेरे पास तुम्हें देने को क्या है ? यह हृदय और कुछ मीठी बातें । मेरा काम है हँसना और रोना, पाना और खोना, इससे लेना और उसको देना, दुःख को सुख बना लेना ।...तुम्हारे प्रभा-पूर्ण मुख को देखकर एक बार मनु हतचेतन होते थे; आज वे तुम्हारे अपराधी हैं । परन्तु नारी में माया और ममता का बल है; वह एक शीतल शक्तिमयी छाया है।...अतः मुझे विश्वास है कि "तुम क्षमा करोगी ।"

"परन्तु" इड़ा बोली, "यहाँ अपराधी कौन नहीं हैं ? सभी जीवन में सुख-दुःख दोनों सहते है, परन्तु वे केवल सुख को ही अपना कहते है । और उनके अधिकारों की तो कोई सीमा नहीं । वे तो बरसाती नालों की भाँति बढ़ते ही जाते हैं । उनकी इस अधिकार-लिप्सा में जो रुकावट पैदा करता है, वही उनका शत्रु बन जाता है । अतः समाज में फूट की वृद्धि होती है । श्रम-विभाग वर्गवाद को जन्म देता है और नियामक विप्लव की सृष्टि करने लगता है । यहाँ सभी लालसा-सुरा में मतवाले हैं; मेरा तो साहस ही जाता रहा । मुझे जनपद-कल्याणी

कहा जाता है, परन्तु आज मैं अवनति का कारण बन रही हूँ, मेरे सुविभाजनों की समता नष्ट हो गई। मेरे नियम टूटते हैं और नित्य उनकी सृष्टि होती है; भयंकर ज्वाला जल रही है। हाय ! क्या मैं अब तक भ्रम में ही रही ? सभी प्राणी असहाय होकर विनाश-मुख में निरन्तर चले जा रहे हैं। सर्वत्र भय की उपासना हो रही है। प्रकृति के साथ संघर्ष करने का बल मिथ्या सिद्ध हो रहा है। यज्ञों को शक्ति चिह्न समझी थी; वे सब आज विफल हो रहे हैं। ... तिस पर मैंने आपका सौभाग्य छीना है। आज मैं अकिंचन हूँ, आत्मग्लानि में गल रही हूँ। मुझे क्षमा प्रदान करो देवि ! जिससे मेरी सुषुप्त चेतनता फिर जाग उठे।"

"इड़ा रानी !" श्रद्धा बोली, "रुद्र-रोष अभी तक शान्त नहीं हुआ है। वस्तुतः तू शिर पर ही चढ़ी रही; तुझे हृदय नहीं मिला। इसीलिए चेतन का सुखमय 'स्व' लुप्त हो गया और आलोक का उदय नहीं हो सका और सारे विभाजन भ्रान्त बन गये।...जीवन एक सततप्रवाहमान सुन्दर धारा है। तर्कमयी ! तू केवल उसकी लहरें गिनने और उसमें प्रतिबिम्वित तारों के पकड़ने में ही व्यापृत है। परन्तु, यह जड़ता की स्थिति है, इस में मत भूल; प्रकाश और अन्धकार, सुख और दुख का द्वंद्व ही इसमें सरल सत्य है; परन्तु तूने इस चेतना का भौतिक विभाजन करके संसार में विराग का वितरण कर दिया है। यह जगत् चिति का अनित्य स्वरूप है जो सैकड़ों रूप बदलता रहता है; इसके मूल में एक उल्लासपूर्ण आनन्द है और यह विरह- मलन, दुख-सुख के कणों का नृत्य नरन्तर करता रहता है। यहाँ तो केवल एक राग ही पूर्ण और तल्लीन है। मैं लोकरूपी अग्नि में नितान्त तप कर प्रसन्न होकर आहुति देती, परन्तु तू तो क्षमा न देकर मुझसे कुछ लेना चाहती है।

"ठीक है" उसने कुमार की ओर देखकर कहा, "मेरे पास तो अब यही निधि बची है। ले लो इसे और मैं अपनी राह जाता हूँ।" "सौम्य !" कुमार को संबोधित कर उसने कहा, "तुम यहीं रहो। तुम दोनों राष्ट्रनीति देखो, परन्तु ऐसा शासन करो कि भय नही प्रेम फैले। मैं अपने मनु को खोजने जाती हूँ। वह कहीं न कहीं मिल ही जायेगा। तब मैं देखूँगी कि तुम्हारी रीति कैसी चलती है। मानव ! तुम यशस्वी होओ।"

कुमार कुछ चकित-सा बोला—"माँ ! तू मुझ से यों मुँह न मोड़, ममता का बन्धन इस प्रकार मत तोड़ ! तेरी आज्ञा का पालन करूँगा और इस प्रण के पालन में चाहे मरूँ या जीऊँ। यदि तू मुझे इस प्रकार छोड़कर जा ही रही है तो मेरी प्रार्थना है कि मुझे फिर यही मीठी गोद मिले।"

श्रद्धा ने कहा—'हे सौम्य ! इड़ा का शुद्ध प्रेम तेरी व्यथा को दूर करेगा।

इड़ा तर्कमयी है और तू है श्रद्धामय तथा मननशील। अतः तू अभय होकर कर्म कर और इसके सन्ताप को दूर कर एवं मानव के भाग्य का उदय कर। प्रिय पुत्र ! माँ का यही सन्देश है कि तू समरसता का प्रचार कर।'

'देवि !' इड़ा ने कहा—'तुम्हारे वचन मिठास और विश्वास से भरे हुए हैं। मैं चाहती हूँ मुझे सदा ये याद रहें। तुम्हारा अपार स्नेह निरन्तर श्रेय का दिव्य स्रोत बन कर करुणा का विस्तार करे जिससे सारे सन्ताप दूर हो जायँ।' इतना कहते कहते इड़ा ने प्रणाम करके श्रद्धा के चरणों की धूलि ली और कुमार के कोमल हाथ को पकड़ लिया। एक क्षण वे तीनों मौन खड़े रहे। वे सब आत्म-विस्मृत थे; यद्यपि वे बाहर से पृथक् थे परन्तु उनके हृदयों का मधुर मिलन हो रहा था। अन्त में वे दोनों नगर की ओर चुपचाप चल दिये—जब वे दूर पहुँचे तो उनकी द्वयता नष्ट हो चुकी थी।

* * *

श्रद्धा आगे बढ़ी। रात आगई थी। आकाश में तारे खिल रहे थे। सरस्वती की लोल-लहरों में एक विचित्र माया दिखाई पड़ती थी। किनारे पर उनके टकराने से छप-छप का शब्द होता था। श्रद्धा दीर्घ-निश्वास लेती हुई आस-पास देखती हुई नदी के किनारे चली जा रही थी। सहसा उसने दो खुले नयन देखे और सुनी अन्धकार के आवरण में एक सनसनाहट। उसने समझा संभवतः नदी की धारा का ही यह शब्द होगा, परन्तु शीघ्र ही भ्रम दूर हुआ और उसने देखा कि पास ही लता-मण्डित एक गुहा है जिसमें एक जीवधारी साँस ले रहा है। वे मनु थे। उन्होंने उच्च शैल शिखरों पर दृष्टि डाली और फिर श्रद्धा की ओर देखा, जिसका शिर उनसे भी अधिक ऊँचा दिखाई पड़ा। उन्हें वह उस समय 'विश्वमित्र मातृमूर्ति'-सी दिखाई पड़ी। वे बोले—'तुम रमणी नही हो। तुमने अपना सब खोकर जिसे रो रोकर पाया था, और जिनसे (इड़ा आदि शत्रुओं से,) मैं अपने प्राण बचाकर भागा था; उन्हीं को तुमने अपना वह पुत्र भी दान कर दिया। क्या उस समय तुम्हारा निष्ठुर मन कराह नहीं उठा !! तुम्हारे मन का प्रवाह अद्भुत है ! वे सब हिंसक हैं, श्वापद हैं और वह बेचारा कोमल बालक है। इड़ा ने फिर भी छल किया। आश्चर्य है तुम अब भी धैर्य धारण किये हुए हो।'

'प्रिय !' श्रद्धा ने कहा—"तुम अभी तक इतने सशंक हो। दान से कोई रंक नहीं बनता। और फिर यह तो दान नहीं, विनिमय या परिवर्तन है। तुम्हारा ऋणात्मक रूप अब धनात्मक बन रहा है। और फिर तुम तो निर्वासित हो ! तुम को क्यों डंक लगता है ? प्रसन्न होकर आदान-प्रदान करो।'

'देवि !' मनु बोले—'आह ! तुम कितनी उदार हो और कितनी निर्विकार

है यह मातृमूर्ति ! हे सर्वमंगले ! तुम सब का दुःख अपने ऊपर लेती हो और सदा कल्याणमयी वाणी कहती हुई क्षमानिलय मे निवास करती हो। मै तुमको नारी-सा ही समझ कर भूल कर बैठा था परन्तु अब समझा कि मेरा यह तुच्छ विचार हे। तुम मेरी लघुता को मत देखो। मै व्यथा का मारा हूँ।'

"प्रियतम !" श्रद्धा ने कोमल स्वर मे कहा, "यह निस्तब्ध निशा मुझे उस दिन की याद दिलाती हे जिस दिन मै निष्कपट भाव से तुम्हारी हुई थी और मैंने आत्म-समर्पण किया था। फिर क्या मै इतनी दुर्बल हूँ जो उस बात को भूल जाऊँ। सच मानो अब मै सदा तुम्हारी हूँ। तो आओ वहाँ चले जहाँ शान्ति का सबेरा मिले। मानव यह देवद्वन्द्व का प्रतीक हे। वह सारी भूल ठीक कर ले।"

मनु निर्निमेष नेत्रो से शून्य की ओर देख रहे थे। चारो ओर, महा अन्धकार नील अञ्जन की भाँति अनन्त शून्य मे अचल बना, खडा था। धीरे-धीरे सत्ता का स्पन्दन डोला और आवरण पटल की गाँठ खुली—अन्धकाररूपी समुद्र से ज्योत्स्ना प्रकट हो कर सरिता का आलिगन करने लगी और वहाँ था एक उज्ज्वल जीवन, एक आलोक पुरुष ! एक मगलमय चेतन ! जिसमे केवल प्रकाश था, कल्लोल था और जिस सर्वांग ज्योतिर्मय विशाल पुरुष के अलक—जाल के रूप मे सारा अन्धकार परिणत हो गया था। शून्य भेदिनी चित् सत्ता, अन्तर्निनाद की ध्वनि से पूरित हो रही थी। स्वय नटराज नृत्यनिरत थे और अन्तरिक्ष प्रहसित एव मुखरित हो रहा था। आनन्दपूर्ण सुन्दर ताण्डव नृत्य मे उन के उज्ज्वल श्रमबिन्दु झरते थे जिनसे तारागण, सूर्य और चन्द्र का निर्माण हो रहा था, साथ ही बडे-बडे पर्वत धूलिकण के समान उडे जा रहे थे। इस प्रकार नटराज के दोनो पैर, सहार और सृजन के युगल चरण, गतिशील हुए, एक अनाहत नाद हुआ और असख्य ब्रह्माण्ड बिखर गये। सारा विश्व महा दोल पर झूलने लगा। उस शक्ति-शरीरी नटराज का प्रकाश सभी पाप और शोक को नष्ट करता हुआ एक ऐसे सौन्दर्य्य-सिन्धु की सृष्टि कर रहा था जिसमे प्रकृति गलकर अपने सुन्दर स्वरूप को लीन कर रही थी। मनु ने उन नृत्य-निरत नटेश को देखा और चिल्ला उठे :—

"यह क्या ? श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणो तक, दे निज संबल ;
सब पाप-पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते है निर्मल ;
मिटते असत्य से ज्ञान-लेश,
समरस अखंड आनन्द-वेश !

रहस्य सर्ग

गिरिराज अपना ऊँचा शिर उठाये अभिमानपूर्वक खड़ा था। दोनों पथिक चढ़ते चले जा रहे थे—आगे श्रद्धा थी और उसके पीछे थे मनु। पर्वत की ऊँचाई बढ़ती ही सी चली जा रही थी मानो वह आकाश को छूने के लिए मचल रही हो। बड़ा कठिन मार्ग था। बड़े बड़े खड्ड मुँह फैलाये खड़े थे। पवन बड़े वेग के साथ उनके प्रतिकूल बह रहा था, मानो, वह उनको आगे बढ़ने से रोक रहा था। वे बहुत ऊँचाई पर पहुँच चुके थे; बादल इन्द्र धनुष की माला पहिने उनसे नीचे इठला रहे थे। सैकड़ों निर्झर बहते हुए उस ऊँचाई से ऐसे लग रहे थे मानों पतली मधु-धाराएँ बिखरी हुई हों। पृथ्वी की सभी वस्तुएँ अपने लघुतम रूप को प्राप्त कर चुकी थीं।

'श्रद्धे !' मनु हाँफता हुआ बोला,—'मुझे कहाँ ले चली हो। मैं थक गया हूँ। मेरा साहस छूट गया है। मेरा श्वास रुक रहा है। अब इस ठंडे वात-चक्र से भिड़ने का दम नहीं। लौट चलो श्रद्धे ! जो मेरे थे और जिनसे मैं रूठ कर चला आया हूँ वे बहुत दूर नीचे छूट चुके हैं। उनकी स्मृतियाँ सता रही हैं। अब आगे नहीं चल सकूँगा।'

श्रद्धा के मुख पर एक मुस्कान दौड़ गयी ; एक निश्छल औरविश्वासभरी स्मिति। उसने अपने व्याकुल साथी को सहारा दिया और मधुर स्वर में बोली, 'अब तो हम बहुत दूर आगये। अब ठठोली करने का कहाँ अवसर ! दिशाएँ काँप रही हैं। ऊपर कुछ अनन्त-सा दिखाई पड़ रहा है। तुम्हारे पैरों के नीचे क्या है ? बोलो, तुम्हें क्या अनुभव हो रहा है ? क्या सचमुच तुम पर्वत पर खड़े हो ?.....हमारे पैरों के नीचे कोई आधार नहीं है परन्तु फिर भी आज हम को यहीं ठहरना है।' यह कहते-कहते श्रद्धा रुक गई और कुछ देर बाद मनु को अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा, 'घबराओ मत यह समतल स्थान है। जरा देखो तो हम कहाँ आ गये।'

मनु ने आँखें खोलकर एक नवीन ऊष्मा का अनुभव किया। ग्रह, तारा और नक्षत्र अस्त थे। भूमण्डल की रेखा विलीन हो चुकी थी, और जा चुके थे ऋतुओं के स्तर। उस निराधार महादेश में एक नवीन चेतनता का उदय था। मनु को तीन आलोक-बिन्दु दिखाई पड़े, तीनों एक दूसरे से पृथक्। उनको देखकर मनु ने पूछा, 'श्रद्धे ! यह कौन-से नये ग्रह हैं ? यह क्या कोई इन्द्रजाल है ?'

श्रद्धा बोली, 'यह तीनों बिन्दु क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लोक हैं। वह देखो ! वह उषा के कन्दुक के समान कमनीय, राग की अरुणिमा से युक्त और भावमयी प्रतिमा का मन्दिर इच्छालोक है। इसमें शब्द, रूप, रस,

स्पर्श और गन्ध की पारदर्शिनी सुन्दर-सुन्दर पुतलियाँ रंगीन तितलियों सी चारों ओर नृत्य कर रही है। यह अपनी भावभरी माया में सोती, जागती और इठलाती फिरती है। वहाँ आलिंगन की-सी मधुर प्रेरणा हृदय को स्पर्श करके सिहरन बन जाती है। यह जीवन की रस-सिञ्चित मध्यभूमि है। यह एक सरिता है जो मधुर-लालसा की लहरों से स्पन्दित होती रहती है और जिसके तट पर मनोहर आकृति वाले, छायामय और सौन्दर्य-विह्वल विद्युत्कण से विचरण कर रहे हैं। सुमन संकुलित भूमि में एक मधुर गन्ध उठ रही है और झीनी-झीनी रस बूँदो वाले अदृश्य फुहारे छूट रहे है। यहाँ संसृतिकी छाया 'चल-चित्र की शान्ति चारो ओर घूम रही है और इस लोक को घेरे हुए माया बैठी मुस्करा रही है। इसका भावचक्र चल रहा है, जिसमें इच्छा की नाभि घूम रही है और नव-रस भरी अराएँ निरन्तर घूमती हुई चक्रवाल को चूम रही है। यहाँ मनोमय विश्व रागारुण चेतन उपासना कर रहा है। वस्तुत. यह मायाराज्य है, जिसमे जीव फँसाये जाते है। इसी लोक की भाव-भूमिका पाप-पुण्य की जननी है। यहाँ चिर वसन्त भी है और पतझड़ भी है; अमृत और हलाहल, सुख और दुःख, सब एक डोर में बँधे हुए विद्यमान है।'

'कामायनी!' मनु बोले, "तुमने यह तो बहुत सुन्दर लोक दिखलाया। परन्तु वह श्याम सा देश कौन है? और उसमें कौन-सा रहस्य विशेष है?" श्रद्धा बोली—'मनु! यह श्याम वर्ण का कर्म लोक है। यहाँ नियति प्रेरणा बनकर कर्मचक्र के समान यह गोलक घूम रहा है। और सब के पीछे कोई-न-कोई व्याकुल एषणा लगी हुई है। यहाँ श्रममय महायन्त्र का प्रवर्तन हो रहा है; कोलाहल, पीड़ा और विकलता का वातावरण है; क्षणभर भी किसी को विश्राम नहीं। प्राण क्रियातन्त्र का दास हो रहा है। भावराज्य के सम्पूर्ण मानसिक सुख यहाँ दुःख मे परिवर्तित हो रहे है और भावराष्ट्र के नियम यहाँ पर दण्ड-स्वरूप होकर कराह रहे है। यहाँ प्रतिक्षण लोग विवश होकर कर्म करते चले जाते है। परन्तु, फिर सन्तोष का नाम नहीं। यह कर्मचक्र नियति चलाती है और तृष्णा से उत्पन्न ममता और वासना का उदय होता है तथा पाणिपादमय पञ्चभूत की उपासना होती है। सारा समाज मतवाला हो रहा है। संघर्ष, विफलता और कोलाहल का यहाँ राज्य है। सब अन्धकार मे दौड़ रहे हैं। यहाँ कर्मों का भयंकर परिणाम होता है, स्थूल आकार और आकांक्षा की तीव्र प्यास है। यहाँ शासन के आदेश और घोषणापत्रो मे विजयों की हुंकार सुनाई पड़ती है और भूख से पीड़ित दलितों को पैरों के तले कुचला जाता है। यहाँ वैभवों और ऐश्वर्यों के ढेर मरीचिका-से दीख पड़ते है, जिनको क्षण भर भोग-कर लोग भाग्यवान बनते है और जो विलीन होते तथा पुनः एकत्र होते रहते

हैं। यहाँ सुयश की लालसा अपराधों की स्वीकृति बनती है और अन्ध प्रेरणा से परिचालित लोग अपने को कर्त्ता मानते हैं। प्राण तत्त्व की साधना का जल यहाँ हिम हो जाता है और प्यासों को मर-मरकर जीना पड़ता है। यहाँ कर्म की नील-लोहित ज्वाला नित्य जलाती, गलाती और ढालती रहती है, परन्तु आत्मा तो वह धातु है जो चोट सहन करके भी ठहरी रहती है।

'बस', मनु ने बीच ही में रोकते हुए कहा, "यह कर्म जगत तो बहुत ही भीषण है। अब तू इसे मत दिखला। वह कौनसा उजला-उजला लोक है, जो चाँदी का विशाल ढेर-सा लगता है।" इसको सुनकर श्रद्धा बोली, "प्रियतम! यह ज्ञानलोक है जिसमें सुख-दुःख से उदासीनता रहती है और निर्मम न्याय चलता है। बुद्धिचक्र तर्क और युक्ति से अस्ति-नास्ति का भेद कर डालता है। न्याय, तप और ऐश्वर्य में पगे यहाँ के प्राणी चमकीले लगते हैं। परन्तु वे मरु-स्थल के सूखे हुए स्रोतों के तट मात्र हैं जिनमें बुद्धि सम्पूर्ण सैकत विभूति की भाँति रहती है और ओस चाटकर प्यास शान्त करने का प्रयत्न करती है। ये अपने परिमित पात्र लिये हुए जीवन का रस माँगते हुए उन निर्झरों की भाँति हैं जिनमें एक-एक बूँद ही शेष है। यहाँ धर्म की तुला पर अधिकार तोले जाते हैं। उत्तमता ही इनकी सम्पत्ति है और यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना अन्धकार को विदीर्ण करती हुई निखर रही है। वे देखो, ये लोग सौम्य-से बने हैं, परन्तु दोषों से सशंकित हैं। यहाँ जीवन का रस से स्पर्श नहीं होता। उसे तो केवल संचित ही होने दिया जाता है। यदि कोई यहाँ उस रस की प्यास की बात करे, तो वह मिथ्या बताई जाती है। इनका लक्ष्य है सामञ्जस्य, परन्तु इनके प्रयत्नों का परिणाम है विषमता। वे इच्छाओं को जुठलाकर कहीं अन्यत्र ही मूल सत्त्व बतलाते हैं। वे लोग स्वयं व्यग्र होते हुए भी शान्त होने का अभिनय करते हैं और केवल शास्त्र की रक्षा में पलते हैं।"

यह कहकर श्रद्धा मनु से फिर बोली—"देखे तुमने ये तीनों लोक! यही त्रिपुर है। ये तीन बिन्दु कितने ज्योतिर्मय हैं, परन्तु फिर भी अपने सुख-दुःख के केन्द्र बने हुए एक दूसरे से कितने अलग हैं। जीवन की यही तो विडम्बना है कि ज्ञान कुछ है और क्रिया कुछ; फिर भला मन की इच्छा कैसे पूरी हो। जब यह तीनों एक दूसरे से नहीं मिल सकते, तो जीवन सुखमय कैसे हो!" श्रद्धा ने जैसे ही यह कहा वैसे ही उसकी मधुर मुस्कान एक महाज्योति की रेखा बनकर दौड़ पड़ी और वे तीनों ज्योतिर्बिन्दु एकाएक परस्पर सम्बद्ध हो गये, जिससे उनमें ज्वाला जाग उठी। वह ज्वाला विषम वायु में लपलपाती हुई धधक रही थी। उन तीनों लोकों के त्रिकोण में प्रलयाग्नि की शक्ति-सी तरंगित हो कर निखर उठी थी और सम्पूर्ण विश्व में शंख और डमरू की ध्वनि-सी

गई थी । अविरल रूप से चितिमय चिता धधक रही थी और महाकाल का भीषण नृत्य चल रहा था । स्वप्न, सुषुप्ति और जागरण भस्म हो गये थे । इच्छा ,क्रिया और ज्ञान मिलकर लय को प्राप्त हो गए थे और छाया था वहाँ एक दिव्य अनाहतनाद, जिसमे श्रद्धायुक्त मनु तन्मय हो रहे थे ।

आनन्द सर्ग

यात्रियो का एक दल एक पहाडी नदी के किनारे किनारे चला जा रहा था । उसके साथ धर्म का प्रतिनिधि एक श्वेत वृषभ सोमलता से ढका हुआ मन्थर-गति से घण्टा ध्वनि करता हुआ चल रहा था और उनके साथ था मानव, जो बाये हाथ मे वृषभ की रस्सी और दाहिने हाथ मे त्रिशूल लिये हुए था । वृषभ के दूसरी ओर गैरिक-वसना सन्ध्या के समान इडा चुपचाप चल रही थी । साथ मे अनेक युवक, बच्चे और महिलाएँ थी, जिनका कल-रव-गान चारो ओर मुखरित हो रहा था । चमरी मृगो पर सामान लदा हुआ था और उनमे से किसी-किसी पर बच्चे भी बैठे हुए थे जिनको उनकी माताएँ पकडे हुए थी । बच्चो का अपनी माताओ से एक सामान्य प्रश्न यही था कि हम कहाँ चल रहे है ? इसके उत्तर मे माताएँ उनको विधिवत् सारी बाते समझाती थी ।

"माँ !" एक ने अपनी माता से कहा, "तू तो कब से कह रही है कि यह देखो, वह तीर्थ आगया, आगे उसी की भूमि दिखाई पड रही है । परन्तु वह अभी तक नही आया । बतादे, माँ ! वह कितनी दूर है ।" "देख," उसकी माता ने कहा, "देखते हो वह देवदारु का वन । बस उसी के बाद जो ढाल आयगा उसको उतरते ही हम लोग उस पवित्र तीर्थ के सामने पहुँच जायेगे ।"

वह बालक दौडा-दौडा इडा के पास पहुँचा और उस तीर्थ के विषय मे विस्तार-पूर्वक जानने के लिये मचल पड़ा । "वत्स !" इडा ने कहा, "जहाँ हम चल रहे है, वह विश्व का पवित्र स्थल है और एक सिद्धक्षेत्र है ।" बालक ने फिर हठ किया और कहा, "मुझे विस्तारपूर्वक क्यो नही बतलाती ?" इडा ने सकुचाते हुए कहा—'सुनती हूँ कि एक दिन उस स्थान पर एक आफत का मारा मनस्वी आया । उसकी अर्धांगिनी भी उसे खोजते-खोजते वहाँ आ पहुँची । वह करुणा की मूर्ति थी; उसके करुणाश्रु उस स्थान मे शान्ति वितरित करने लगे । प्रकृति भी मगल मनाने लगी । सूखे वृक्षो मे पत्ते मुसकाने लगे और चारो ओर हरियाली छा गई । वे दोनो पति-पत्नी अब भी वही विराजते है और अपनी सेवा से ससार को सन्तोष और सुख देते हुए उसकी पीड़ा को हर लेते है । वही पर मानस नाम का एक महा ह्रद है जो यात्रियों के मन की प्यास को शान्त करता है ।"

"अच्छा," उस लड़के ने इडा को बीच ही मे रोकते हुए कहा, "तो तू इस वृषभ

को क्यों खाली चला रही है ? इसी पर बैठ क्यों नहीं जाती है।"

"नहीं," इडा बोली—"यह वृषभ धर्म का प्रतिनिधि है।सारस्वत नगर के हम सब निवासी उस तीर्थ में चलकर अपने रिक्त जीवन-घट को अमृत-जल से भरेगे और इस बैल को वहीं छोड़ देंगे, जिससे कि वह स्वच्छन्दता पूर्वक इधर-उधर घूमता हुआ सुख भोगे।"

मार्ग ढालू हो चला था। यहाँ से एक हरी-भरी घाटी प्रारंभ होती थी। उस घाटी में प्रवेश करते ही सारा श्रम और दुःख दूर हो गया। सामने श्वेतवर्ण विराट कैलास पर्वत विराजमान था। उसकी तलहटी बहुत ही हरी-भरी थी और पेड़ों पर फूल और फल लदे हुए थे। मानस का दृश्य बहुत ही मनोहर था। रात हो चली थी। चन्द्रोदय हो चुका था। मनु मानस के तट पर ध्यान-मग्न बैठे थे और पास ही खड़ी थी श्रद्धा, फूलों से अञ्जलि भरे हुए। यात्रियों ने दोनों को पहिचाना और झुक कर प्रणाम किया। इडा आत्म-विभोर थी और उस सुन्दर दृश्य को देखने के लिये अपने नेत्रों को सराह रही थी। मानव श्रद्धा की गोद में था और इडा उसके चरणों पर गिरकर गद्गद् होकर कहने लगी—

"मै धन्य हुई जो यहाँ आई। हे देवि ! तुम्हारा ममता का आकर्षण ही मुझे यहाँ ले आया। अब मै सचमुच समझी कि मै पहिले कुछ भी नहीं जानती थी। इस दिव्य तपोवन में अपने पाप दूर करने के लिये हम सब लोग एक कुटुम्ब बनाकर आये हैं।" मनु ने मुसकाकर कैलास की ओर संकेत करते हुए कहा, "देखो ! यहाँ पर कोई भी पराया नही है। हम यहाँ पर अपने-पराये का भेद भूलकर केवल एक हम ही हैं। यहाँ पर कोई शापित या तापित नही है। यहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं है। केवल समरसता उमड़ रही है। यह चराचर मूर्त्त विश्व अपने सुख-दुःख से पुलकित है। परन्तु, यह चिति का मंगलमय विराट शरीर चिरसत्य और चिर-सुन्दर है। सबकी सेवा करना अपने ही सुख का संसार है, उसमे पर-सेवा का नाम नही है। मेरी 'मै' की चेतनता सबको स्पर्श कर रही है।" यह कहकर मनु ने मानव की ओर देखते हुए कहा, "चेतन का साक्षी मानव ! निर्विकार भाव से हँसता हुआ-सा मानस के मधुर-मिलन मे सारे भेद-भाव को भुला दे और कहदे, 'यह मै हूँ'—बस, यह सारा विश्व ही तेरा नीड बन जायगा।"

श्रद्धा के सुन्दर अधरों की स्मिति रेखाये रागारुण किरणों की भाँति फैल रही थीं। वह जगत की अकेली मंगल-कामना मानस-तट की वन-वेलि बनकर प्रफुल्लित हो रही थी। वह कामायनी काम की वह पूर्ण प्रतिमा थी जिसमें विश्व-चेतना पुलकित हो रही थी। उसके हास-विहास से सारा संसार मुखरित हो रहा था और सर्वत्र आनन्द का वातावरण छाया हुआ था। वल्लरियाँ नाचती हुई सुगन्ध की लहरे बिखेर रही थीं। मदमाते मधुकर नूपुर से मधुर-मधुर गुञ्जार

रहे थे। मलयानिल चल रहा था और सुमन झड़ रहे थे। सुख का सहचर दुःख रूपी विदूषक अपना परिहास पूर्ण अभिनय करके विस्मृति के पट में छिपकर बैठ गया था। एक मनोहर संगीत उठता था और जीवन की वंशी बजती थी। हिमालय की पाषाणी प्रकृति आज मांसल होकर लास-रास में निरत होकर हँस रही थी। वह चन्द्रकिरीट पहिने धवल-पर्वत पुरुष-पुरातन के समान स्पन्दित होता हुआ मानसी गौरी लहरों का कोमल-नर्तन देख रहा था। एक विमल प्रेम-ज्योति से सब की आँखें प्रति-फलित हो गईं और सब पहिचाने से ही लगने लगे। जड़ और चेतन समरस थे। चारों ओर चेतनता का विलास था और छाया हुआ था सर्वत्र एक आनन्द।

कामायनी का आधार

(१) देवत्व

कामायनी की देव-सभ्यता

कामायनी की सृष्टि जिस जाति के ध्वंसावशेषों पर हुई है, वह देव जाति थी। उसकी शक्ति, समृद्धि और सुख-लिप्सा चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी। विश्व के अपार बल, वैभव और आनन्द उनकी मुट्ठी में थे (१७; १); उनका यश, तेज और सौन्दर्य सप्त-सिन्धु के तरल कणों, द्रुम दलों और चतुर्दिक में व्याप्त हो रहे थे (१७; २); उनके रत्न-सौधों को जिनके वातायनों में मधु-मदिर समीर सञ्चरण करता था, अम्लान-कुसुम-सुरभित मणि-रचित मनोहर मालायें धारण किये हुए तथा अन्य प्रकार से मधुरतम शृंगार किये हुए सुर-बालायें उषा और ज्योत्स्ना के समान अपने यौवन-स्मित एवं मधुप-सदृश निश्चिंत विहार से सुशोभित कर रही थीं (२१, १; १७, ५); उनके सुरभित अञ्चल से जीवन के मधुमय निश्वास चल रहे थे और उनके कोलाहल से देवजाति का सुख-विश्वास मुखरित हो रहा था (१६, ३); उनमें असीम शक्ति थी; प्रकृति विनम्र और विश्रान्त हुई उनके चरणों को चूम रही थी; उनके पाद-प्रहार से आक्रान्त होकर पृथ्वी काँप रही थी (१७, ३) निरन्तर शक्ति-संचय से, सुख-साधन में अविराम वृद्धि होती जा रही थी, यहाँ तक कि—

> **सुख, केवल सुख का वह संग्रह**
> **केंद्रीभूत हुआ इतना**
> **छाया-पथ में नव-तुषार का**
> **सघन मिलन होता जितना। (१६,४)**

इस असीम शक्ति और समृद्धि का स्वाभाविक परिणाम था उद्दण्ड अभिमान तथा उन्मत्त विलास (१७, ४, १६, २)। वे अपने को 'सर्ग के अग्रदूत' समझ

कर रक्षक–या भक्षक–बन बैठे (१५, १); वे स्वयं देव थे, तो सृष्टि भी विश्रृंखल क्यों न होती ? (१७, ४)। देव-यजन के पशु-यज्ञों की पूर्णाहुति-ज्वाला धधकने लगी (२१, २), अमरता के पुतलों का जय-नाद दिशाओं मे गूँज उठा (१५, ४)। इस प्रकार की उपेक्षा-भरी उद्दण्ड अमरता मे चिर-कामना, चिर-अतृप्ति और निर्बाध-विलास का होना अनिवार्य है। अतः वे विकल-वासना के प्रतिनिधि बन गये; चिर-किशोर-वय नित्य-विलासी तथा दिगंत को सुरभित करने वाला मधु-पूर्ण अनन्त वसन्त विचरने लगा (२०, १, १९ ५; २, २); कुसुमित-कुञ्जों में पुलकित करने वाले चुम्बन और प्रेमालिंगन होने लगे, बीन बज उठी, मधुर तानें सुनाई पड़ने लगीं; कंकण क्वणित होने लगे, नूपुर बजने लगे, गीतों में स्वर-लय का अभिसार होने लगा (२०, २; १८, २-४; १९, १)। सौरभ से दिगंत पूरित था, अन्तरिक्ष आलोक-अधीर था; अनंग-पीड़ा-अनुभव सा अंग-भंगियों का नर्तन और मधुकर के मरंदोत्सव-समान मदिर-भाव से आवर्तन हो रहा था, (१९, २-३) सुरा और सुर-बालाओं मे अनुरक्त देव-गण 'विलासिता के नद मे' तिरते हुए दिखाई पड़ते थे—

सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग
कल-कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग।

× × ×

भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद में

वैदिक देव सभ्यता से तुलना

आध्यात्मिक पक्ष को छोड़कर, केवल पुराण-शास्त्रीय (Mythological) दृष्टि से विचार करने पर, देव-सभ्यता का यह चित्र मूलतः वैदिक कहा जा सकता है; कवि की कलात्मक प्रज्ञा का जो चमत्कार यहाँ दिखाई पड़ता है, उसकी आधार-भूमि वेद अथवा पुराणों में विकसित वैदिक परम्परा है। अमरावती के जिस बल, वैभव और विलास का वर्णन पुराणों में मिलता है, उसका आभास ऋग्वेद मे भी मिल जाता है। देवों की शक्ति के सामने असुर तो ठहरते ही नहीं, द्यावा-पृथिवी भी उनका लोहा मानते है और पर्वत भी काँपने लगते हैं (ऋ० २, १२, १३)। मघ, वसु, रवी के वे स्वामी हैं (ऋ० ६, १८, ५; २, १३, ५, ७; १, ३२, १, ५; ६, १७, १, ३; ८, ८५, १६; ५, २९, ४; ८, ७८, ५ इत्यादि); स्वर्ण-आभूषणों से सुसज्जित वे नक्षत्र-मंडित गगन की भाँति चमकते

हैं (ऋ० २, ३४, २; ५, ५५, ११ इत्यादि)। यह अनन्त विश्व देवराज की मुट्ठी में है (ऋ० ३, ३०, ५)। उसके महत्व से आकाश और पृथ्वी परिपूर्ण हैं (ऋ० ४, १६, २)। उसके शौर्य की कहानी नदियाँ तक कह रही हैं। (एता अर्षन्त्यलल्लाभवन्ती ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः। एता वि पृच्छ किमिदं भवन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति, ऋ० ४, १८, ६); उसके जन्मते ही आकाश काँप उठता है (ऋ० ४, १७, २)।

इस बल और वैभव के परिणाम-स्वरूप होने वाली अहम्मन्यता और उद्दण्डता के प्रमाणों की भी कमी नहीं। इन्द्र और देवों का विजयनाद केवल दासों, दस्युओं और असुरों के विरुद्ध ही नहीं होता था, अपितु उनका विजयोन्माद गृह-कलह और अत्याचार की ओर उन्हें अग्रसर करता था। वृत्रघ्न का जो रणोत्साह शंबर के और पिप्रु के पुरों के भेदन करने (ऋ० २, १९, ६; १, ५१, ५); चुमुरी तथा धुनी को बंदी बनाने (ऋ० २, १५, ९; २, १५, ९), दस्युओं का रक्तपात करने (ऋ० १, ५१, ५; ७, ३३, ३) तथा शत्रुओं को निर्दयता पूर्वक परुष्णी में डुबा देने में दिखाई पड़ता है, वही परम सुन्दरी उषा के रथ-भंजन (ऋ० २, १५, ६ तु० क० बड़ा Idenberg R. V. 169; Macdonell. V. M. 63; Griffith, Eng. Trans. 2nd edition, Vol. 1. 1896 P. 432, footnote 1), अपने चिर-सहयोगी मरुतों से झगड़ने (ऋ० १, १७०, २), परम मित्र कुत्स को शत्रु बनाने तथा रथ-दौड़ के विषय में ही सूर्य से लड़ पड़ने में प्रयुक्त होता दिखाई पड़ता है। यही नहीं, शिष्टता की सीमा का उल्लंघन करके, वह अपने अहंकारवश अपनी प्रशंसा भी स्वयं कर डालता है:—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयंवावशाना ममदेवासो अनुकेतमायन् ॥२॥
अहंपुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्व यदावम् ॥३॥

यह आत्म-प्रशंसा (विशेषतः तीसरी और चौथी पंक्तियाँ) हमें 'कामायनी' के अमृत-सन्तान (६६, १) मनु की निम्न-लिखित गर्वोक्ति की याद दिलाती हैं—

और पुकारा "तो सुनलो जो कहता हूँ अब;
तुम्हें तृप्तिकर सुख के साधन सकल बताये,
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये।

आज न पशु हैं हम, या गूँगे काननचारी
यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी ।"

'कामायनी' के देवो के उन्मत्त-विलास (२०, ७) का सादृश्य भी वैदिक साहित्य मे प्रचुरता से मिलता है । देवो के गंधर्व-वर्ग मे, जिसके अन्तर्गत अग्नि (अग्निर्हु गन्धर्वः, श० ब्रा० ९, ४, १, ७, तु० क० वा० स० १८, ३८) चन्द्रमा (चन्द्रमा गन्धर्वः, श० ब्रा० ९, ४, १, ८, तु० क० वा० सं० १८, ४०), सूर्य (सूर्यो गन्धर्वः, श० ब्रा० ९, ४, १, ८) तथा आदित्य (आर्यो वा आदित्यो दिव्यो गन्धर्वः, श० ब्रा० ६, ३, १, १९) भी आते है, कामुकता का तो प्राधान्य ही दिखाई पड़ता है, जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मण-वाक्यो से स्पष्ट हो जायेगा:—

योषित्कामा वै गन्धर्वाः, श० ब्रा० ३, २, ४, ३; ३, ९, ३, २० ।

स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः, ऐ० ब्रा० १, २७ तु० क० श० ब्रा० १४, ६, ३, १; कौ० ब्रा० २, ९; ऐ० ब्रा० ५, २९ इत्यादि । त (गन्धर्वाः) उ ह स्त्रीकामाः, कौ० ब्रा० १२, ३ ।

गन्धर्व लोग वरुण तथा आदित्य की यौवन-सम्पन्न और सौन्दर्ययुक्त प्रजा है[१]; रूप की वे उपासना करते है[२]; गन्ध, मोद और प्रमोद उनके विशेष लक्षण हैं[३] तथा हास, क्रीड़ा और मैथुन मे अनुरक्ति रखने वाली[४] एव सोम वैष्णव की प्रजा युवती सुन्दरी[५] और गन्धोपासिका[६] अप्सराओ[७] से उनका चोली-दामन का साथ मालूम पड़ता है और प्रायः उनका उल्लेख 'गन्धर्वाप्सरसः' की संयुक्त-संज्ञा से किया जाता है । अप्सराओ से केवल गन्धर्वों ही की घनिष्ठता नही है; अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा वायु जैसे प्रतिष्ठित देवो की भी अपनी-अपनी अप्सराएँ हैं[८], और इन्द्र की कामातुरता के उदाहरण तो पुराणो की भाँति वैदिक साहित्य

---

१. वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्तऽइमऽआसतऽइति युवान शोभना उपसमेता भवन्ति श० ब्रा० १३, ४, ३, ७ तु० क० शां० श्रौ० सू० १६, २, ८; आ० श्रो० सू० १०, ७, ३ ।

२. रूपमिति गन्धर्वाः उपासते श० ब्रा० १०, ५, २, २० ।

३. गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे, जै० उ०, ३, २५, ४ ।

४. किं नु ते अस्मासु अप्सरसु । हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे, जै० उ०, ३, २५, ८ ।

५. सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ताः इमा आसत इति युवतय शोभना उपसमेता भवन्ति, श० ब्रा० १३, ४, ३, ८ ।

६. गन्ध इत्यपसरसः श० ब्रा० १०, ५, २, २० ।

७. श० ब्रा० ९, ४, १, ४; जै० उ० १, १२, १; तां० १९, ३, २ ।

८. श० ब्रा० ९, ४, १, ७—१२ ।

में भी भरे पड़े है[९]। काठक सहिता, २४, १, में स्त्रियों को संगीतज्ञ की वशवर्तिनी कहा गया है और देवों के संगीत पर ही मुग्ध होकर सुन्दरी वाग्देवी गन्धर्वो के पास से पुनः लौट आती है।

जै० ब्रा० १९७ में, प्रतिदिन प्रातःकाल 'जराबोधीयम्' साम गाकर ही, असित धामन की पुत्री का प्रेमी उसे अपने फन्दे में फँसाता है। अंगिरस, मरुत और उषा आदि विभिन्न देवी-देवियाँ भी संगीतज्ञ कहे गये है,[१०] जिनमे से उषा सुन्दरी अपने जार सूर्य को रिझाने के अतिरिक्त प्रभात में ही मनुष्य, पशु और चिड़ियों तक को जगा देती है।[११]

इस उपर्युक्त गंध, मोद, प्रमोद और प्रणय की झलक 'कामायनी' में भी भली भाँति झलक रही है—

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगंत पूरित था
अन्तरिक्ष आलोक अधीर
सब में एक अचेतन गति थी
जिससे पिछड़ा रहे समीर!

वह अनंग पीड़ा अनुभव सा
अंग भंगियों का नर्तन,
मधुकर के मरंद उत्सव सा
मदिर भाव से आवर्तन।

इसी अतीत प्रणय की स्मृति इन पंक्तियों मे समाविष्ट है—

कुसुमित कुञ्जों में वे पुलकित
प्रेमालिंगन हुए विलीन
मौन हुई हैं मूर्छित तानें
और न सुन पड़ती अब बीन।

अब न कपोलों पर छाया सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप;

---

९. दे० हॉपकिन्स० जा० अ० ओ० सो० ३६, १९१७, पृ० २४२-२६८; बृहद्देवता।

१०. ऋ० ५, ५७, ५; १, ८५, २; १०; २, २३, १; १०, ११२, ९; १, ९२, ३, १२३, ५ आदि।

११. १, ४८, ५-६; ४९, ३; ९२, ९; ११३, ४-६, ८-९, १४ इत्यादि

भुज मूलों में, शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप ।

देवों की विलासिता उनके खान-पान में भी कम नहीं है। देवों के पेय के मद, मधु, सोम आदि नाम हैं और उनके 'सधमादों' का उल्लेख प्राय: मिलता है*। अमर देवों के पीने का पात्र 'चमस' है, जिनमें प्रधान देव-पान चमस है :—

इममग्ने चमसं मा जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
एष यश्च मसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते

ऋ० १८, १६, ८

सुपलाश वृक्ष पर देवों के साथ यम खूब पीते हैं (ऋ० १०, १३५, १); इन्द्र के पेट म तो सोम के लिए सागर-सा स्थान है (ऋ० १, ३०, ३) और वृत्र-वध के समय उसने सोम के तीन सरोवर पी लिये और तीन सौ भैंसे खा लिये :—

सखा सख्ये अपचत्तू यमग्निरस्य क्रुत्वः महिषा त्री शतानि ।
त्री साकमिन्द्रो मनषः सरांसि सुतं पिवद् वृत्रहत्याय सोमम् ।
त्री पच्छता महिषाणामघो मास्त्री सरांसि मघवा सोम्यापाः ।
कारं न विश्वे अह्वन्त देवाभरनिन्द्राय यदहिं जघान ॥

ऋ० ५, २९, ७-७

'परम व्योम' में यम और वरुण मस्त रहते हैं (मदन्ति) और अंगिरस आदि देवों के साथ पितर भी आनन्द लेते हैं (ऋ० वे० १०, १४, ७; ५, ६)। इस प्रकार के आहार और पान देवताओं को प्रिय होने के कारण उनके लिए यज्ञों में ऐसे ही पदार्थ प्रदान किये जाते है। अत: यज्ञों में सोम और नशीली वस्तुयें चढ़ाई जाती हैं (ला० श्रौ० सू० ५, ४, ११; का० श्रौ० सू० १९ १; शां० श्रौ० सू० १५, १५; १४, १३, ४, श० ब्रा० ५, १, २, १२; ५, १, ५०, २४; १२, ७, ३, १; १२, ८, १; १२, ७, ३, ८; आप० श्रौ० सू० १८, १.९) ऋषि कक्षीवान् आदि सुरा की प्रशंसा करते है (ऋ० १, ११६, ३; १०, १०७, ९; ९, २, १२); वह यज्ञ को पवित्र करती है (श० ब्रा० १२, ८, १, १६)। पशुओं की बलि दी जाती है (का० श्रौ० सू० अ० ६; श० ब्रा० ३, ६, ४; ३,

---

***वा० सं० १०, ७; श० ब्रा० ५, ३, ५, १९, ऋ० वे० १०, १४, १०; अ० वे० ६, १२२, ४; ७, ११३, ३; ११४, ४, १८, २, ११ "सधमादः" का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने** "a joint banquet" a common entertainment, 'a party dinner' **किया है; तु० क० सह तृप्तिर्हर्षो वा यथा भवति तथा मदंति—सायण ।**

८, १; ३, २, १४; ५, ३, १, १०; ६, २, २, १५, आ० गृ० सू० १, ११ पा० गृ०सू० २, ११, १५) और पशु से प्राप्त होने वाले आज्य, आमिक्षा, वपा, मांस, लोहित, पशुरस आदि की भी आहुति दी जाती है (ऐ० ब्रा० २, ३, ६) और उनके तैयार करने तथा आहुति देने की विधियाँ भी विस्तार के साथ दी गई हैं (ऐ० ब्रा० १, १, १; २, १-९; २, ३, ६; २, ३-६; श० ब्रा० १, २, २; ला० श्रौ०सू० ५, ४, ५; आप० श्रौ० सू० १२, ३, १२; १२, ४, ९, १४; कौ० श्रौ० सू० ५, ३०९; तै० ब्रा० ३, २, ६)। सौत्रामणी नामक देवसृष्ट इष्टि* में हत्या आदि पापों से बचने के लिए सुरा की आहुतियाँ दी जाती हैं। (श० ब्रा० १२, ८, १, ८; ५, ५, ४, १२; ७, १, १४)

मांस-भक्षण, पशुबलि और सुरापान के इन उल्लेखों को देखकर 'कामायनी' में देवों तथा देवसन्तान मनु का पशु-बलिदान, सोम तथा सुरा का सेवन यथार्थ प्रतीत होने लगता है और इस खान-पान का उपर्युक्त कामुकता से सम्बन्ध जोड़कर जब हम विचार करते हैं,तो श्रद्धा को सोम पिलाने का प्रयत्न करते हुए मनु वैदिक देव की प्रतिकृति मालूम पड़ते हैं :—

देवों को अर्पित मधु-मिश्रित
सोम अधर से छूलो, (१३६, ४)

इस पृष्ठभूमि से यज्ञस्थली का यह चित्र भी सहज ही कल्पित किया जा सकता है :—

यज्ञ समाप्त हो चुका था तो भी
धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य ! रुधिर के छींटे !
अस्थि खण्ड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।
सोमपात्र भी भरा, धरा था,
पुरोडाश भी आगे।

कामायनी और वेदों में देवत्व

देव-सभ्यता के उपर्युक्त दो चित्रों में इतना साम्य होने पर भी कामायनी और वेदों के देवत्व में पर्याप्त भिन्नता-सी प्रतीत होती है। कामायनी को पढ़ने से,

---

*देवसृष्टो वाऽएषेवष्टिर्यत्सौत्रामणि, श० ब्रा० ५, ५, ४, १४।

देव जाति एक मनुष्य-जाति मालूम पड़ती है, जो अपनी शक्ति और समृद्धि के उन्माद में अपने को 'सर्ग के अग्रदूत' और अमर समझने लगी है। अतः नष्ट हुई देव-जाति पर अनुताप करते हुए मनु कह उठते हैं :—

देव न थे हम × × ×
× × ×
हाँ, कि गर्व-रथ में तुरंग सा
जितना जो चाहे जुतले। (२३, ४)

इसके अतिरिक्त कामायनी के देवों के सारे क्रिया-कलाप इसी मृत्युलोक में होते हैं और उन्हीं के द्वारा छोड़े हुए उपकरणों से मानवसभ्यता का विकास करने के लिए श्रद्धा मनु से आग्रह करती है :—

देव असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है वन मानव सम्पत्ति,
पूर्ण हो मन का चेतन राज। (६६, २)

वैदिक साहित्य में भी यद्यपि देवलोग अधिकतर अमर, अविनाशी और सर्व-शक्तिमान ही लगते हैं, परन्तु फिर भी कभी कभी उनकी नश्वरता तथा अमरत्व के लिए प्रयत्नशीलता का उल्लेख भी मिल जाता है। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि देवों के दो वर्ग से किये गये हैं—एक वर्ग के लिए तो समष्टि-बोधक 'देवाः' शब्द आता है और दूसरे वर्ग के लिये, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के व्यक्ति-गत नामों का प्रयोग होता है। अतः कहा गया है कि देवता लोग पहले कभी मरा भी करते थे (अ० वे० ११, ५, १९; १४, ११, ६ श० ब्रा० १०, ४, ३३) और बाद में उन्होंने अमरत्व को प्राप्त किया (ऋ० वे० १०, ५३, १०; ४, ५४, २; वा० सं० ३३, ५४ इत्या०), यही बात इन्द्र (ऐ० ब्रा० ८, १४, ४), अग्नि (ऐ० ब्रा० ३, ४) और प्रजापति आदि देवताओं तक के लिए भी कही गयी है।

कामायनी में भी कदाचित् इन्हीं दो प्रकार के देवों के लिए कहा गया है 'देव न थे हम और न ये हैं', क्योंकि प्रसाद के मतानुसार विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, आदि देव तो केवल 'प्रकृति के शक्तिचिह्न' ही हैं, और मनु की जाति के लोग केवल मनुष्य। इन सव का नियन्ता तो कोई और 'विराट' है :—

वह विराट था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज;
'कौन ?' हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

विश्वदेव, सविता वा पूषा
सोम मरुत चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा
जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे प्रकृति के शक्ति चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे ।

विकल हुआ सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय ।

देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले ।

(३२, १; ३३, १-४)

कामायनी का यह विराट, जिसके लिए "कौन ?" का अचानक प्रश्न होता है और जिसके शासन में सविता आदि देव कहे गये हैं, द्यावापृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, आपः आदि देवों का जनक और नियामक वैदिक "क" (कौन ?) देव से पूर्णतया मिलता है; और निम्नलिखित वैदिक मंत्र में लगभग वही भाव व्यक्त किया गया है, जो यहाँ प्रथम आठ पंक्तियों में किया गया है :—

ऋ० वे० १०, १२१; को देवता

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृल्हा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

यङ्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने
यत्राधि सूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४ ॥

आपो ह यद्बृहती विश्वमायन्
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
तेतो देवानां समवर्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्य-धर्मा जजान
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६ ॥

प्रसादजी इस 'विराट' या 'कः' के व्यक्त विश्व में दो रूप मानते प्रतीत होते हैं—पहला 'शिव' जो जगत का कल्याण करता है ; दूसरा रुद्र जो अतिचार और पाप का दण्ड देने के लिए अपनी संहारिणी शक्ति का प्रयोग करता है:—

उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी
अतिचारी था स्वयं प्रजापति देव अभी शिव बने रहे !
नहीं इसीसे चढ़ी शिंजनी अगजग पर प्रतिशोध भरी ।

(१९३,२)

परन्तु, यदि वह विराट् सर्वव्यापक है, तो उसे दोनों रूपों में सर्वत्र विद्यमान मानना पड़ेगा और पालन तथा संहार दोनों क्रियाएँ व्यक्त जगत में निहित उसकी शक्तियों द्वारा सम्पादित होने वाली मानी जा सकेंगी । इसका अभिप्राय यह होगा कि प्रत्येक जीव में और प्रकृति के प्रत्येक अंग में दोनों शक्तियाँ हैं और जो मानवी या प्राकृतिक शक्तियाँ आज जगत के कल्याण के लिए प्रयुक्त हो रही हैं वह कल संहार करने में लग सकती हैं । इसीलिए प्रसादजी ने मनु के विरुद्ध कोप इन्हीं दोनों (मानवी और प्राकृतिक) "देव-शक्तियों" (१९३, १०५) द्वारा दिखलाया है :—

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना ।

आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर थर कँपना।

* * *

देखा उसने जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं;
नियमन एकझुकाव दबा-सा, टूटे या ऊपर उठ जाय।
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अवरुद्ध रही।

अवश्य ही यदि यह विराट निराकार है तो उसकी शक्तियाँ 'प्रकृति' और "उसके पुतलों' द्वारा ही सक्रिय हो सकती है, यह विभिन्नतामय जगत ही उसका मूर्तस्वरूप है, मर्त्य-स्वरूप है (तु० क० श० ब्रा० १०, १, ३, ४) जिसके द्वारा वह कर्म करता हुआ माना जा सकता है। मनु के ऊपर भी देव 'आग' ने अपनी 'ज्वाला' इन्हीं रूपों में प्रकट की—

तो फिर मैं हूँ आज अकेला जीवन रण में
प्रकृति और उसके पुतलों के दल भीषण में।

* * *

यों कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र सम्हाला।
देव आग ने उगली त्योंही अपनी ज्वाला।

(२०८,१-३)

इन्हीं शक्तियों के सामूहिक रूप को ही लेकर आगे चलकर कवि ने 'रुद्र नाराच भयंकर' की कल्पना की है:—

धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरीं मनु पर, मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर,
रक्त नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर

(२१०,१-३)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कदाचित् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कामायनी में देव शब्द एक तो मनुष्यों की 'देव-जाति' के लिए प्रयुक्त हुआ है, दूसरे प्रकृति-शक्तियों के लिए और इन सब का नियामक तथा इन सब को निमित्त बनाकर कर्म करने वाला कोई और 'विराट्' है ; वही वास्तव में अमर है, और ये दोनों तो परिवर्तन के पुतले हैं।

(२) असुरत्व

कामायनी की देव सभ्यता में असुरत्व

देवों और देव सभ्यता के विषय मे, ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें बहुत-सी ऐसी बाते आ गई है जो लौकिक और शास्त्रीय दृष्टि से दैवी न होकर आसुरी है; कामुकता, पशु-हिसा, सुरापान, अहकार इत्यादि देवोचित गुण नही। श्रीमद्भगवद्गीता में अन्य गुणों के साथ दम, तप, अहिसा, दया, अलोलुपता, मृदुता, अचपलता, शौच और अतिमानिता के अभाव को भी दैवी सम्पत्ति में गिनाया है (१६,१-३) अहिसा ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष तथा तप की यमों और नियमों में गणना होती है (योग साधनपाद सू० ३०, ३२); वेदों ने ब्रह्मचर्य तप आदि से देवताओ को भी अमरत्व की प्राप्ति होना बतलाया है (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत, अ० वे० ११,५,१९ और दे० ऋ० वे० १०, १६७, १; तै० ब्रा० ३, १२, ३, १; श० ब्रा० १०, १, ३१, तै० सं० १ ७, १३; ६,५,३,१ आदि); मनुस्मृति मे अहिसा, ब्रह्मचर्य और इन्द्रियसंयम को आवश्यक तो कहा ही है (२,८८; २,१५९,१६०; १, १०८-१०९; २,१२). साथ ही यहाँ तक कह डाला है कि :—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छन्ति कर्हिचित् (२,९७)

इसीलिए प्रसादजी ने कामुकता, पशुहिसा, सुरापान, अहंकार, आदि अदेवोचित विशेषताओं से युक्त देव-सभ्यता को 'देव-दम्भ' कहा है (देव दम्भ के महा मेघ में सब कुछ ही बन गया हविष्य, १५,३) और मनु को भी उनके अपने ही शब्दों में 'अमरता का दम्भ' बतलाया है :—

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह ! सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय सा विष्कम्भ। (२२,१)

वास्तव मे देव-सभ्यता का यह अदेवोचित वासना-प्रधान रूप ही कहा जा सकता है और सम्भवतः प्रसादजी ने इसके लिए 'दम्भ' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर श्रीमद्भगवद्गीता की 'आसुरी सम्पति' की ओर संकेत करने के लिए किया है क्योंकि वहाँ भी संक्षेप में आसुरी गुण दिखलाते हुए सब से पहिले 'दम्भ' की गणना की गयी है।

दंभो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।
(१६,४)

सच्ची देव-सभ्यता

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि 'कामायनी' की जो सभ्यता जलप्लावन में नष्ट हो गयी, वह असुरत्व-विशिष्ट देव-सभ्यता थी, शुद्ध देवत्वपूर्ण नहीं।

शुद्ध देव-सभ्यता का सूत्रपात लेखक ने देव-दम्भ से निर्विण्ण तथा अपने और प्रकृति-शक्तियों के देवत्व में विश्वास खोये हुए मनु (दे० ३२-३३) द्वारा कराया है। वरुणादि 'प्रकृति के शक्ति-चिह्नों' तथा अपनी देव-जाति के मिथ्याभिमान को दूर फेंक कर वे कहते हैं कि "इस महानील परमव्योम और अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्-कण, किसका संधान करते-से, आकर्षण में खिंचे हुए ; छिप जाते और निकलते हैं ? किसके रस से सिंचे हुए तृण, वीरुध लहलहे हो रहे हैं ? किसकी सत्ता सिर नीचा कर सब यहाँ स्वीकार करते हैं ? और सदा मौन हो जिसका सब प्रवचन करते हैं वह अस्तित्व कहाँ है ?" इसी प्रकार का यह चिन्तन 'अनन्त रहस्य' की कल्पना तक पहुँच जाता है और मनु को "उसका" कुछ "भान" होन लगा है :—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान । (३४,५-५)

जगन्नियंता एक देव की कल्पना के पश्चात् उन्हें 'अपने' 'आत्मभाव' का बोध हुआ (३५,४) और वे पाक-यज्ञ का निश्चय करके, वृक्षों की शुष्क डालियों और शालियों से अग्निहोत्र करने लगे, और यज्ञ से बचे हुए अन्न को किसी अपरिचित अज्ञात अतिथि की तृप्ति के लिए दूर रखने लगे :—

पाक-यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियों को चुनने;
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना
लगी धूम पट थी बुनने ।
शुष्क डालियों से वृक्षों की
अग्नि अर्चियाँ हुईं समिद्ध,

आहुति की नव धूम गंध से
नभ कानन हो गया समृद्ध ।

और सोचकर अपने मन में,
जैसे हम हैं बचे हुए
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए ।

अग्नि होत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे ।

इस प्रकार ईश्वर-विश्वास, सहानुभूति और अहिंसा के साथ यज्ञ करते हुए,

तप में निरत हुए मनु, नियमित
कर्म लगे अपना करने ।(४१-५)

और धीरे-धीरे वे "तप से संयम का संचित बल" प्राप्त कर सके । यह भी एक 'अमरता के पुतले' की सभ्यता है, एक देव सन्तान का कार्यकलाप है और इसी को और अधिक स्पष्ट रूप से श्रद्धा मनु के सामने रखती है :—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो
सब को सुखी बनाओ ।
रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति सेवा-भाग हमारा
उसे विकसने को है ।

उदारता, पर-दुःखकातरता, यज्ञ की रचना-मूलकता तथा सेवाभाव पूर्णतया वैदिक हैं । ऋग्वेद का सिद्धान्त है "केवलाघो भवति केवलादी" (१०,११७,६), और वह हिंसा (१, ४१, ८), दुर्वचन (१,४१,८), प्रवंचना (२, २७, १६; ७, ६५, ३; ८, ४९, ३), द्यूत (२, २९, ५), सुरापान क्रोध और पाँसा खेलने (७,८६,६) को पाप मानता है। पारस्परिक व्यवहार में सदाचार का स्थान इतना ऊँचा था कि ऋग्वैदिक ऋषि वरुण से न केवल मित्र, साथी, भाई और सजातीय के प्रति किये गये पापों के लिए क्षमा-याचना करता है, अपितु उन

पापों के लिए भी जो शत्रु के प्रति किये गये हों अथवा जो ज्ञात भी नहों (ऋ० ५,८५,७-८)। पुरुषसूक्त का पुरुष-यज्ञ, जिसके आधार पर सारे वैदिक यज्ञ स्थित मालूम पड़ते हैं (दे० ए० बी० कीथ० फि० वे० उ० प्रथम अ० और श० ब्रा० १,३,२,१; ३,१,४,२३; कौ० १७,७; २५,१२; २८,९; श० ब्रा० १, ३,२,१; ३,५,३,१; तै० ३,८,२३; श्रो० १,४,२४; २,६,१ इत्यादि) यथार्थतः रचनामूलक ही है और ऋग्वेद में सोम, मधु, दुग्ध और कभी यव आदि की पंक्ति के अतिरिक्त पशु-बलि आदि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता ; वहाँ पर पाक-यज्ञ को अन्न-सोम-यज्ञ का ही पर्याय मानना पड़ेगा। इसी परम्परा को लेकर, ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ऋण' और 'यज्ञ' की कल्पना की गयी मालूम पड़ती है— 'ऋणोह जायमान एव' मनुष्य ऋण से लदा हुआ जन्म लेता है और जो कुछ वह देवों, पितरों, मनुष्यों आदि के प्रति करता है, वह उनके प्रति उपकार नहीं, अपितु अपने को ऋण से मुक्त होने के लिए ही उपाय करता है, तै० आ० २, १०; २,३-४; श० ब्रा० १,१,२,१९; १; ७, २१-५ इत्यादि) सब से अधिक मार्के की बात यह है कि देव, ऋषि, पितृ और मनुष्य के प्रति देय ऋणों में से मनुष्य-ऋण सब से बड़ा माना गया है, जिसको सेवा द्वारा चुकाने से अन्य सभी ऋण (एतानि सर्वाणि) चुक जाते है (श० ब्रा० १, ७,२,५)। अतः पुरुषसूक्त में 'यज्ञ-पुरुष' ने सृष्टि-यज्ञ में आत्म-बलिदान द्वारा सारी सृष्टि करके यज्ञ की रचना-मूलकता की जो नीव डाली थी, उसी के विकास के लिए संसृति-सेवा-भाव-युक्त मनुष्य-यज्ञ-प्रधान 'ऋण' और 'यज्ञ' का क्रियात्मक दर्शन कितना स्पष्ट और दिव्य प्रतीत होता है। इसी को संक्षेप मे, प्रसादजी ने जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रकार कहा है—

> **रचना-मूलक सृष्टि यज्ञ यह**
> **यज्ञ-पुरुष का जो है**
> **संसृति-सेवा-भाव हमारा**
> **उसे विकसने को है।**

यही वास्तविक देव-सभ्यता है ; यही दैवी-सम्पत्ति-समन्वित आचार है, यही आर्य-जाति की आदर्श सात्विक वृत्ति है, जिससे देवत्व प्राप्त होता है :—

> **देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः**
> **मनु० १२,४०**

असुर-सभ्यता (कामायनी में)

जल-प्लावन द्वारा नष्ट हुई देव-सभ्यता में जो देव-दम्भ या असुरत्व देखा गया है वह देव-सभ्यता के शुद्ध-रूप को देखने से और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

परन्तु, प्रश्न यह होता है कि यह असुरत्व देव-सभ्यता में आया कैसे ?

इसके उत्तर के लिए, जल-प्लावन से पूर्व की देव-सभ्यता में 'दम्भ' प्रविष्ट होने का तो प्रत्यक्ष कोई कारण कामायनी में दिया नहीं है, परन्तु तप और संयम के साथ अहिंसा-व्रत का पालन करते हुए, शालियों और शुष्क समिधाओं से पाक-यज्ञ करने वाले मनु के पुनः दम्भ, दर्प और असंयम की ओर जाने का कारण अवश्य दिया है, जिससे पहली घटना का कारण भी अनुमान किया जा सकता है। यह कारण है असुरों का प्रभाव :—

"असुर पुरोहित किलात और आकुलि उस विप्लव से बचकर भटक रहे थे, उन्होंने अनेक कष्ट सहे थे। मनु के पशु को देख-देखकर व्याकुल और चंचल रहने वाली उनकी आमिष-लोलुप-रसना औरों से कुछ कहती थी। एक दिन आकुलि बोला—'क्यों किलात! तृण खाते-खाते और कहाँ तक देखूँ और बेवसी में लोहू का घूँट पीता रहूँ। क्या इसका कोई उपाय ही नही कि इसको खाऊँ ? बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ !' आकुलि ने तब कहा, देखते नहीं, उसके साथ एक मृदुलता की ममता की छाया हँसती हुई रहती है। वह आलोक-किरण सी अन्धकार को दूर भगाती है जिसके हलके घन से मेरी माया बिध जाती है। तो भी चलो, आज कुछ करके ही स्वस्थ रहूँगा; जो भी सुख-दुख आवेंगे, उनको सहज सहूँगा।" (११९-३-५; १२०, १-४)

यों ही विचार कर दोनों उस कुञ्ज-द्वार पर आये, जहाँ ध्यान लगाये मनु सोचते बैठे थे—"यज्ञ कर्म से जीवन के स्वप्नों का स्वर्ग मिलेगा, इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा। किन्तु पुरोहित कौन बनेगा ? अब यह नया प्रश्न है ? किस विधान से यज्ञ करूँ ! यह पथ किस ओर गया है ! श्रद्धा मेरी वह पुण्यप्राप्य अनन्त अभिलाषा है ; इस निर्जन वन में, मेरी आशा अब किसको पुरोहित होने के लिए खोजे" (१२१,१—३)

यह सुनते ही, असुर मित्रों ने अपना मुख गम्भीर बनाये हुए कहा—"जिनके लिए यज्ञ होगा, हम उनके भेजे हुए आये हैं। क्या तुम यजन करोगे ? फिर यह किसे खोज रहे हो ? अरे ! पुरोहित की आशा में, तुमने कितने कष्ट सहे हैं। जिनसे निशीथ और सवेरा प्रकट होते हैं, यह आलोक और अँधेरा जिनकी छाया है, इस जगती के वे ही 'मित्र वरुण' पथ-दर्शक हों, मेरी सब विधि पूरी होगी। चलो आज फिर से वेदी पर ज्वाला की फेरी हो।" (१२२, १-१),

'फिर क्या था ?' नूतनता का लोभी मनु नाच उठा। यज्ञ-भूमि वीभत्स श्मशान-भूमि बन गयी। 'यज्ञ समाप्त हो चुका, तो भी ज्वाला धधक रही थी। ओह दारुण दृश्य ! रुधिर के छींटे ! अस्थिखण्ड की माला ! वेदी की निर्मम प्रसन्नता और पशु की कातर वाणी ! वातावरण कोई कुत्सित प्राणी बना हुआ

था । सोम-पात्र भी भरा हुआ धरा था । और पुरोडाश भी आगे था (१२३, ५; १२४, १-३) पुरोडाश के साथ मनु सोम का पान करने लगे, प्राण के रिक्त अंश को मादकता से भरने लगे (१२५,४) । मनु को अब मृगया छोड़ और अधिक काम नहीं रह गया था ; हिंसा ही नहीं, उसका अधीर मन कुछ और भी खोज रहा था (१४७,२-३) ।

इस प्रकार मनु ने किलात और आकुलि के प्रभाव में आकर हिंसक राक्षसी वृत्ति को ग्रहण किया, 'दृप्त-भावना' को अपनाया, ईर्ष्या-द्वेष को अपने में स्थान दिया, स्वेच्छाचार और अतिचार की ओर कदम बढ़ाया ।

असुर पुरोहितों का यह वचन कि 'चलो आज फिर से वेदी पर ज्वाला की फेरी हो', सूचित करता है कि सम्भवतः जल-प्लावन से पूर्व देव-दम्भ के भी कारण ये ही लोग रहे होंगे ।

असुर-सभ्यता (वेदों में)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऋग्वेद के समय में पशुबलि आदि क्रूर कर्मों का उल्लेख नहीं मिलता ; बाद में अथवा उस समय भी जो प्रमाण मिलते हैं, सम्भवतः वह भी असुर-सभ्यता का प्रभाव है । अतः सर्वत्र निषिद्ध पदार्थ सुरा की प्रशंसा करने वाले कक्षीवान ऋषि (ऋ० वे० १, १२६,२२६) उशिज् के पुत्र असुर हैं (उशिज्=उशन्, दे० वेल्वेल्कर, क्रियेटिव एज, पृ० २२२; गेल्डनेर भाष्य, ऋ० वे० १,११७,६) ; कक्षीवान के पुत्र सुकीर्ति काक्षीवत् केवल ऋ० १०,१३१ के ऋषि हैं, परन्तु वहाँ भी अपनी असुर-परम्परा के अनुसार, अश्विन को नमुचि असुर के साथ सुरापान करते हुए बतलाते हैं :—

> **युवं सुरामश्विना नमुचावसुरे सचा**
> **विपिपाना शुभस्पती इन्द्र कर्मस्वावतम् ।**
> **युवमिव पितरावश्विनोभेन्द्रा वायुः काव्यैदंसनाभिः ।**
> **यत्सुरां व्यपिबः शचीभिः सरस्वा त्वा मघवन्नमिष्णक**
> **१०,१३१,४-५**

कुछ विद्वानों का तो मत है कि सुरा पीने वाले देवता अश्विना को भी पहले देवताओं में अच्छा स्थान प्राप्त नहीं था (दे० वै० मा० पृ० ५१, ५२ तु० क०); सम्भव है कि इसका कारण उनका आसुरी सम्बन्ध हो, क्योंकि उनके लिए सुरा के अतिरिक्त लोहित प्रजा का भी उल्लेख मिलता है । (श० ब्रा० ५,५,४,१); इन्द्र के वृषभ-भक्षण का वर्णन भी कक्षीवान् ऋषि के शिष्य वसुक्र (दे० ऋ० १०,२५, १०) ऋषि के मन्त्र में आता है (ऋ० १०, ८, ३) । इन्द्र के द्वारा महिष खाने तथा तीन सरोवर सोम पीने का प्रकरण भी

महासुर वृत्र की हत्या में आता है और उसका सम्बन्ध उशना (ऋ० ५,२९, ८-९) से भी मालूम पड़ता है, जो अवश्य ही असुरों के पुरोहित थे और जिनको प्राप्त करने के लिए इन्द्र को अनेक प्रयत्न करने पड़े (जै० उ० २, ७,२ ;ता० ७,५, २०,१४,१२,५) थे । सुरापानप्रधान सौत्रामणी यज्ञ को अपवित्र और अब्राह्मण कर्म माना जाता था, अतः उसको पवित्र तथा ब्राह्मण-यज्ञ सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण बनाये जाते थे । (तु० क० तस्मादेव ब्राह्मण यज्ञएष यत्सौत्रामणी, श० १२,१,१,१; पवित्र वै सौत्रामणी श० १२,८,१,८) इस यज्ञ की उत्पत्ति नमुचि-संहार या वृत्र-वध से होने वाली ब्रह्महत्या से इन्द्र की रक्षा करने के लिए हुई मानी जाती है (श० ५,५,४,१२,१२,९,१,१; १२,७,३,४; बृहद्देवता), सम्भवतः असुरपुरोहित उशना ने अपनी सेवाओं के बदले में, अपने असुर योद्धाओं को ब्राह्मण बतलाकर ओर सौत्रामणी में सुरापान प्रतिष्ठित करवाकर विजेताओं पर अपनी सांस्कृतिक विजय प्राप्ति करने के लिए प्रयत्न किया था, क्योंकि अन्यथा आर्य-जाति सुरा को सदैव अशिव मानती रही है (अशिव इव वाऽएषभक्षो यत्सरा ब्राह्मणस्य श० ब्रा० १२,८,१,५) ।

सांस्कृतिक विजय के लिए किये गये विजित असुरों के प्रयत्नस्वरूप ही आर्य-सम्यता में अनेक आसुरी बातें आगई मालूम पड़ती हैं । जिन पाक-यज्ञों में पहले केवल अन्नादि के यज्ञों को गिनती होती थी, उनमें अब न केवल पशु-यज्ञ गिना जाने लगा (सायं प्रातर्होमोस्थालीपा को नवश्चयः । बलिश्च पितृयज्ञ-श्चाष्टका सप्तम पशुरित्येते पाकयज्ञाः, गो० १,५,२,३), अपितु केवल पशुयज्ञों को ही पाकयज्ञ कहने लगे (पशव्यो हि पाकयज्ञः, श० २,३,१,२१) श्येनादिक अभिचार आर्य धर्म में घुस आये और बात-बात में पशु-बलि का विधान होने लगा । असुरों को बड़ा और देवों को छोटा कहा जाने लगा (तु० क० कनीयसा एव देवा ज्यायांसा असुराः, श० १४,४,१,१; ता०१८, १,२; १२,१३,३१)। जो माया विशेषकर असुरों की वस्तु थी (तेभ्य असुरेभ्यः तमश्च मायां प्रददौ श० २,४,२,५,१०,५,२,२०; कौ० २३,४) उस का उल्लेख देवों के साथ भी होने लगा (तु० क० के० इन्द्रस्य मायया) ।

(३) देवासुर-संग्राम---

(क) ऐतिहासिक

देवों और असुरों में होने वाला उक्त संग्राम ऐतिहासिक ज्ञात होता है; ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके उल्लेख भरे पड़े हैं; "देवा असुराः संयुक्ता आसन्" प्रायः देखने में आता है । असुरों के देश के विषय में यहाँ अधिक विवेचन नहीं किया

जा सकता। अभी तक विद्वानों के तीन मत हैं—पहले मत के अनुसार वे अस्सुर या असीरिया के रहने वाले थे; दूसरे लोग, जिसमें राखालदास बनर्जी मुख्य हैं, असुरों को अहुर मज्द के पूजक ईरानी मानते हैं। तीसरे मतानुसार वे भारतीय ही थे, जिनसे आर्यों को लड़ना पड़ता था। तीसरे मत की पुष्टि के लिए कहा जाता है कि 'असुराणां वा इयं पृथिवी अग्र आसीत्' (तै० ब्रा० ३,२,९,६) आदि ब्राह्मणवाक्यों से प्रकट होता है कि असुर यहाँ के आदिम निवासी थे। परन्तु देवों और असुरों को एक ही प्रजापति की सन्तान होना भी लिखा है और दोनों के पारस्परिक बटवारे का भी उल्लेख मिलता है। (तै० ब्रा० १,४,१,१,२,२, ९,५-८ श० ११,१,६,७-८, इत्यादि)। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि देवों और असुरों का युद्ध एक ऐतिहासिक सत्य भी है, परन्तु वेद में इसका अर्थ आध्यात्मिक और आधिभौतिक ही मानना पड़ेगा (दे० लेखक-कृत "वैदिक दर्शन")

(ख) सांस्कृतिक

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित देवासुर-शत्रुता की भयंकरता को देख कर अनुमान होता है कि दोनों जातियों का संग्राम चिरकाल तक होता रहा और असरों के पराजय स्वीकार करने पर भी सांस्कृतिक संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा। उशना, कक्षीवत् और वसुक्र आदि असुर पुरोहितों के प्रयत्नों से पशु-बलि, मांस-भक्षण, सुरापान आदि जो देव-समाज में आ गये थे और जिनको देवों की ही सम्पत्ति सिद्ध करने का जो प्रयत्न ऊपर दिखाया जा चुका है, उनके विरुद्ध देव जाति के ऋषियों का विरोध लगातार होता चला आया प्रतीत होता है। ब्राह्मणों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि असुर-प्रभाव को दूर करने के लिय आसुरी कर्मकाण्ड को बदल कर दैवी रूप-देने के लिए सदा यत्न होता आ रहा है। अतः पशु-हिंसा को रोकने के लिए कौषीतकी ब्राह्मण कहता है कि जिस प्रकार इस लोक में मनुष्य पशुओं को खाते हैं उसी प्रकार से परलोक में पशु मनुष्य को खाते हैं (११,३), यज्ञ में पशुबलि रोकने के लिए, कहा जाता है कि पशु को मारने की आवश्यकता नहीं, उसका नाम ले देना बलि देने के समान है (अथैतत्पशु ध्नवन्ति यत्संज्ञयपयन्ति, 'शा० ३,८,२,४,२,२,२,१,११, ३,२,१)। पशु के स्थान में अन्न, फल, दुग्ध आदि विधान कुछ ब्राह्मणों में उत्तरोत्तर बढ़ा हुआ मिलता है—अन्नमुपशोर्माशम् (श० ७,५,५,२,४२१, अन्नं पशवः श० ६,२,१,१५; ७,५,२,४२,६,८,२,७,५,१,३,७,४,६,९,१; ३,२,१,१२ पशवो वै धानाः गो० २,४,६ कौ० १८,६ पशवो हि सोमः श० १२, ७; २,२; तै० ब्रा० १,४,७,६, कौ० १२, ६ हविर्हि पशवः ऐ० ब्रा० ५' ६ पशवो वै हविः ऐ० २,४ इत्यादि) इसी प्रकार सुरापान को अनेक प्रकार से

निषिद्ध ठहराया है । (अनृत पाप्मा तमः सुरा, श० ५,१,२,१०,५,१,५,८२; अशिव इव वाऽएष भक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य, श० १२,८,१,५; ५,४,५ अस्थिमांद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति, श० १,६,३,४,५,५,४,५ इत्यादि) । यज्ञ में उसके स्थान पर भी वृक्षों आदि के रस के प्रयोग का विधान किया गया है (अपां च वाएष ओषधीनां च रसो यत्सुरा, श० १२,८,१,४, तु० क० १२,७,१,७,ऐ० ब्रा० ८, ८ इत्यादि) । यज्ञ में हिंसा के विरुद्ध तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ में पशु को मारना यज्ञ का हनन करने के समान है और इस प्रकार का यज्ञ कुछ भी फल नहीं देता (घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञं यदेनं यजते । यन्नेव राजानमभिषुणवन्ति तत्तं घ्नन्ति. . . एष यज्ञो हतो न ददक्षे, श० ब्रा० २,१,६,१-२) ,

कामायनी में देवों और असुरों का यह सांस्कृतिक संघर्ष भलीभाँति दिखाया गया है । इसका प्रारम्भ मनु के पास किलात और आकुलि के आगमन से हो जाता है । मनु इन दोनों को अपना पुरोहित बना लेता है । इस घटना का उल्लेख ब्राह्मणों में भी है (किलाताकुली इतिहासुर ब्रह्माणवासतुः तौ होचतुः- श्रद्धादेवो वै मनुः—आवां नु वेदावेति । तौ हागत्योचतुः—मनो । वाजयाव त्वेति), परन्तु कवि अपनी कल्पना के सहारे इस घटना पर एक वास्तविक संघर्ष की नीवँ डाल देता है—मनु पर असुरों की सांस्कृतिक विजय हो जाती है, पर संस्कृति की वास्तविक रक्षिणी स्त्री है; श्रद्धा इस असुरत्व का विरोध करती है, मनु के यज्ञ में सम्मिलित नहीं होती है । "सोम-पान और मांस-भक्षण करने से मनु में 'तरल-वासना' जाग उठी और वह श्रद्धा को 'मधु-मिश्रित सोम' पिलाने तथा अपनी वासना का उसे शिकार बनाने गया ।"

इस समय जो दोनों में सम्वाद होता है, उसमें देवासुर-संघर्ष स्पष्ट लक्षित होता है । श्रद्धा देव-सभ्यता की प्रतिनिधि अहिसा का पक्ष लेती है प्रत्येक प्राणी के जीवन-अधिकार पर जोर देती है:—

और किसी की फिर बलि होगी
किसी देव के नाते,
कितना धोखा ! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते ।
ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या
वे सब ही हैं फीके !
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?

जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत ! बची क्या शवता !

परन्तु असुरत्व का प्रतिनिधि स्वार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानने वाला मनु, इन्द्रिय-सुख पर अधिक जोर देता है और 'अपने-सुख' को ही स्वर्ग समझता है:—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।

इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे,
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर मधुर कुछ गावे।

रोम हर्ष हो उस ज्योत्स्ना में
मृदु मुस्क्यान खिले तो,
आशाओं पर श्वास निछावर
होकर गले मिले तो।

विश्व माधुरी जिसके सन्मुख
मुकुर बनी रहती हो,
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं
यह तुम क्या कहती हो ?

मनु द्वारा जो यह आत्म-सुखवाद या स्वार्थवाद व्यक्त किया गया है वह असुरों का अपना है। उनके विषय मे प्रायः कहा जाता है कि वे अपने में ही हवन करते हैं (स्व असुराः स्वेष्वेवास्येषु जुहृवतश्च चेरुः, श० ११, १, ८, १, तु० क० ६, ६, १६ इत्यादि)। असुरसभ्यता की विशेषता दिखलाने के लिये छा० उ० ८, ७-१० में उल्लिखित एक आख्यायिका की ओर संकेत कर देना यहाँ अनुचित न होगा:—

प्रजापति ने अपने असुर और देव पुत्रों से कहा कि आत्मा अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघित्स, अपिपास, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है; उसको जान लेने से सब लोकों की प्राप्ति हो जाती है, सब कामनाओं की तृप्ति हो जाती है। ऐसी वस्तु को जानने के लिये कौन प्रयत्न न करता ? देवों की ओर से इन्द्र और असुरों की ओर से विरोचन आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रजापति के पास गये। कई वर्षो तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने के पश्चात् वे उपदेश के अधिकारी हुए। प्रजापति ने कहा "जो यह आँख में पुरुष दिखलाई

पड़ता है वही आत्मा है," दोनों ने अलंकृत होकर अपने को जल में देखा। प्रजापति ने कहा तुमने जो देखा वही आत्मा है। दोनों सन्तुष्ट होकर चले गये। इन्द्र को मार्ग में शंका हुई और वह लौट आया परन्तु विरोचन असुरों के पास शान्त-हृदय पहुँचा, उसने शरीर को ही आत्मा समझा था। अतः सब असुरों से कहा कि इसी का पालना-पोसना परमधर्म है; इसी से दोनों लोकों की प्राप्ति होगी, दान, श्रद्धा, यज्ञ आदि की कोई आवश्यकता नहीं। असुर तदनुसार करने लगे (शान्त हृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम। तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानग्रमेवाह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति। तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुमं लोकं जेप्यन्तो मन्यन्ते)। इसी को प्रसादजी ने "था एक पूजता देह दीन" कहकर व्यक्त किया है।

असुर-पुरोहितों के प्रभाव से मति-भ्रष्ट हो जाने से मनु भी यहाँ इसी प्रकार के जड़वादी आत्मवाद का प्रतिपादन करते हुए जान पड़ते हैं। श्रद्धा देव-प्रतिनिधि की भाँति सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करती है और मनु का खण्डन बड़ी तत्परता से करती है :—

बचा जान यह भाव सृष्टि ने,
फिर से आँखें खोलीं!
भेद बुद्धि निर्मम ममता की,
समझ बची ही होगी।
प्रलय पयोनिधि की लहरें भी
लौट गयी ही होंगी।
अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा?
वह एकांतस्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करलो,
सब को सुखी बनाओ।

'अपने सुख को विस्तृत करके—सबको सुखी बनाओ' का भाव ही देव-सभ्यता की मुख्य देन है; इसी को वैदिक ऋषि 'केवलाघो भवति केवलादी' के रूप में व्यक्त करता है; गीता उसी की प्रतिध्वनि करता-सा कहता है:—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।

यही लोक-मंगल और लोक-संग्रह की भावना आर्य-संस्कृति की विशेषता है; इसी की रक्षा करना मानवता और हिन्दुत्व के लिये परमावश्यक है। प्रसादजी ने इसी बात पर जोर देने के लिये कदाचित् देवासुर-संग्राम का यह प्रसंग यहाँ रक्खा है; इसी सत्य को वे कवि-सुलभ कलात्मकता के साथ कितने सुन्दर शब्दों में श्रद्धा द्वारा व्यक्त कराते हैं :—

सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुख मोड़ोगे।

ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें।
सरस न हो मकरन्द-बिन्दु से
खुलकर तो यह भरलें।
सूखें झड़ें और तब कुचले
सौरभ को पाओगे।
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे।

सुख अपने सन्तोष के लिये
संग्रह मूल नहीं है।
उसमें एक प्रदर्शन जिसको
देखें अन्य वही है।
निर्जन में क्या एक अकेले
तुम्हें प्रमोद मिलेगा ?
नहीं इसी से अन्य हृदय का
कोई सुमन खिलेगा।
सुख समीर पाकर चाहे हो
वह एकान्त तुम्हारा,
बढ़ती है सीमा संसृति की
बन मानवता धारा।

(ग) दाम्पत्य-जीवन में

पति-पत्नी मे इस प्रकार का सास्कृतिक सघर्ष सुखप्रद नही हो सकता। मनु की बढ़ती हुई इन्द्रिय-लोलुपता और विषय-वासना को गर्भिणी श्रद्धा के वात्सल्य-भाव तथा व्यापक प्रेम से ठोकर लगी; ईर्ष्या का उदय हुआ। वह चाहता है श्रद्धा उसी की तरह रहे। विलायत से लौटे हुए पाश्चात्य-सभ्यता के उपासक, आधुनिक पति की भाँति वह अपनी पत्नी को 'तकली कातते' या 'बीज-बीनते' नही सहन कर सकता; वह केवल पति कहलाने से ही सन्तुष्ट नही है:—

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमे सब कुछ ही जाय भूल;
आशा के कोमल तंतु सदृश
तुम तकली में हो रही झूल।
यह क्यों क्या मिलते नहीं तुम्हें
शावक के सुन्दर मृदुल चर्म
तुम बीज बीनती क्यों? मेरा
मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।
तिस पर यह पीलापन कैसा
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद?
यह किसके लिये बताओ तो
क्या उसमें है छिप रहा भेद?

श्रद्धा मानो हिंसा से ऊब उठी है; वह मनु के इन वचनों में केवल हिंसा की ही बू पाती है और वह उसी का विरोध करने लगती है:—

अपनी रक्षा करने में जो,
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं,
हिंसक से रक्षा करें शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ,
उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें; उपयोगी बन,
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।
चमड़े उनके आवरण रहें,
ऊनों से मेरा चले काम;

वे जीवित हों मांसल बनकर,
हम अमृत देह वे दुग्ध-धाम ।
वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु,
तो भव जलनिधि में बनें सेतु ।

परन्तु दृप्त मनु यह उपदेश सुनना नहीं चाहता था, वह तो श्रद्धा से कह रहा था:—

यह जीवन का वरदान मुझे
दे दो रानी अपना दुलार;
केवल मेरी ही चिन्ता का
तब चित्त वहन कर रहे भार ।

श्रद्धा इसके उत्तर में, "मैंने जो एक बनाया है, चलकर देखो मेरी कुटीर" कहकर मनु का हाथ पकड़ कर ले चली, परन्तु जो कुछ मनु ने देखा-सुना, उसने अग्नि में घृत का काम किया और ईर्ष्या भभक उठी:—

यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिये मुझे मेरा ममत्व ।
इस पंच भूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व ।
तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न बिन्दु;
उस सुख नभ में मैं विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इन्दु ।

भौतिक सुखवाद के नशे में चूर मनु श्रद्धा की आत्मा को न पा सके; उन्होंने सदैव उसकी 'सुन्दर जडदेह मात्र' ही पाई । वे सौन्दर्य-जलधि से केवल अपना गरल-पात्र ही भरते रहे; "कुछ मेरा हो" इसी संकचित पूर्णता में पड़े रहे (१७१, १) क्योंकि सुख-साधन में बीतने वाले क्षणों को ही वास्तविक मानकर वे वासना तृप्ति को ही स्वर्ग मानते थे । पुरुषत्व मोह में वे यह भूल गये कि नारी की भी अपनी सत्ता है तथा अधिकारी और अधिकार में समरसता का सम्बन्ध है (१७०, १) । अत: दोनों का संयोग कैसे रह सकता था; देवासुर-संघर्ष ने दाम्पत्य-जीवन नष्ट करा दिया; मनु श्रद्धा को छोड़ते हुए बोले—

तो चला आज मैं छोड़ यहीं
संचित संवेदन भार पुञ्ज ।

मुझको काँटे ही मिले धन्य
हो सफल तुम्हें ही कुसुम कुञ्ज।

(घ) राजनीतिक जीवन में

"हो शाप भरा तव प्रजातन्त्र"

जो असुर-संस्कृति को अपना कर दाम्पत्य-जीवन को ही सुखी न बना सका और जो श्रद्धा जैसी नारी के हृदय पर ही साम्राज्य न कर सका, वह भला प्रजा-शासन में कैसे सफल हो सकता है। पारिवारिक जीवन सहकारिता और नागरिकता की पहली सीढ़ी है। मनु को पहले ही शाप मिलता है कि "हो शाप-भरा तव प्रजातन्त्र"; अभिशाप-ध्वनि कहती है:—

"हाँ, अब तुम स्वतन्त्र बनने के लिये सब कलुष औरों पर डाल अपना अलग तन्त्र रखते हो; डाली में कण्टक के समान नवीन कुसुम भी खिले मिलते हैं; तुम अपनी रुचि से जिसको चाहते हो उसी को बीन ले रहे हो—तुमने प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश ग्रहण न किया, तुमने जलन और वासना को ही जीवन में स्थान दिया (१७१, २); अच्छा तो तुम्हारी अभिनव मानव प्रजा सृष्टि द्वयता में लगी हुई निरन्तर वर्णों की सृष्टि करती रहे; अनजान समस्याओं को गढ़ती हुई अपना ही विनाश करती रहे; अनन्त कोलाहल और कलह चले, एकता नष्ट हो, भेद-भाव बढ़ें; अभीष्ट वस्तु के स्थान पर अनिच्छित दुखद खेद की प्राप्ति हो; अपने वक्षस्थल की जड़ता का आवरण हृदयों पर पड़ा रहे और परस्पर एक दूसरे को न पहचान सकें; पास में सब प्रकार की बाहुल्यता होते हुए भी सन्तुष्टि कोसों दूर रहे, यह संकुचित दृष्टि सदा दुखदाई हो (१७२, १)।

कितनी ही अनवरत उमंगे उठें; मनुष्य तृष्णा-ज्वाला का पतंग बन जाये—जगत का अश्रु-जल अभिलाषाओं के शैल-शृंगों को चूमते हों, जीवन-नद हाहाकार से भरा हो, जिसमें पीडा की तरंगें उठती हों; नित्य नये सन्देहों से जन दुखी हों, स्वजनों का विरोध श्याम अमावस्या बनकर फैले। शस्यश्यामला प्रकृति में दलित दारिद्रय दिखाई पड़े; मनुष्य दुख-नीरद मे इन्द्र-धनुष बनकर नये रंग बदला करे (१७२, २)।

वह पुनीत प्रेम न रह जाय; सारी संसृति विरह-भरी हो। तुम अपने को शतश: विभक्त कर राग-विराग करो; मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध हो, दोनों में सद्-भाव न रहे—मस्तिष्क जब कहीं चलने को कहे, तो हृदय निकलकर कहीं अन्यत्र चला जाय (१७३; १); संकुचित असीम शक्ति प्राप्त हो; तर्क से भरी बुद्धि विफल हो (१७३, २); सारा जीवन ही युद्ध बन जाय और तुम जरा-मरण में चिर अशान्त हो जाओ (१७४, १)"

इस अभिशाप की पूर्ति सारस्वत प्रदेश में होती है।

सारस्वत-प्रदेश

सारस्वत-प्रदेश असुर-सभ्यता से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। "यहीं वृत्रघ्नी सरस्वती बहती है; यहीं विकराल देवासुर युद्ध हुआ था; यहीं पर इन्द्र की विजय-संस्मृतियाँ पाई जाती हैं (१६८, २); इसी प्रदेश में जीवन का नवमत लेकर देवों और असुरों में युद्ध चला था। एक प्राणों की पूजा करता था, दूसरा आत्म-विश्वास की; एक देह-पूजक था और प्राणों के सुख-साधन में ही संलग्न था, दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को ही उल्लास, शील और शक्ति का केन्द्र समझता था (१६९, १-२)।" इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ के असुर तो असुर थे ही, देवों में भी शुद्ध देव-सभ्यता न होकर, असुर प्रभावित देव-दम्भ ही था।

सारस्वत-प्रदेश में इतना असुर-भाव होना वैदिक साहित्य से भी सिद्ध होता है। सरस्वती का नाम वृत्रघ्नी तो है ही; साथ ही उशन् कक्षीवत् वसुक्र आदि असुर पुरोहितों के मन्त्रों में जहाँ जहाँ अश्विन, सुर, असुर अथवा मांस-भक्षण का उल्लेख किया गया है, वहाँ सरस्वती का भी नाम प्रायः देखा जाता है (दे० ऋ०, १०, १३१, ८, १४, वा० सं० १०, ३३; १४, ३४ इत्यादि)। नमुचि असुर के वध से भी सरस्वती का सम्बन्ध प्रायः बतलाया जाता है (श० ५, ५, ४, २५; वा० सं० १९, ३४ र० श० १५, ७, ३, १-३)। और एक स्थान पर तो अश्विन और सरस्वती द्वारा नमुचि-वध के लिये इन्द्र के वज्र को अपने फेन से सिंचित किये जाने का उल्लेख है:—

इन्द्रस्येन्द्रियान्नस्य रसं सोमस्य भक्षं सुरया सुरो नमुचिरहरत्सो (इन्द्रः) ऽश्विनौ च सरस्वतीं चोपाधावच्छेपानोऽस्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्तं इमानि न दण्डेनं धन्वना न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केण नार्द्रेणाथ यऽइदमहार्षी र्दिदमा आजिहीर्षथेति। ते (अश्विनौ सरस्वती च) अब्रुवन्। अस्तु नोऽत्राप्यथाहरामेति सह न एतदथाहरतेत्यब्रवीदिति। तावश्विनौ च सरस्वती च अपां फेनेन वज्रमासिञ्चन्न शुष्को नार्द्र इति तेनेन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायाम...शिरउदावायत्

दूसरे स्थान पर सरस्वती द्वारा सिंह-रूप धारण कर हिंसा-कर्म किया जाना भी सम्भवतः असुर-प्रभाव का द्योतक है।

अतः उस प्रदेश में असुर-प्रभावित मनु के लिये आकर्षण होना स्वाभाविक था यहाँ उसे बुद्धिवाद का सहारा मिलता है, जिससे उसके स्वार्थवाद तथा दर्प-भाव को उचित भोजन मिलता है और वह परमानन्दित होकर कह उठता है:—

कलरवकर जाग पड़े मेरे यह मनोभाव सोये विहंग,
हँसती प्रसन्नता चावभरी किस्मों की सी तरंग।

अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया;
मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानों आज यहाँ पाया।
मेरे विकल्प संकल्प बने जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।

(ङ) असुरत्व की पराजय

बुद्धिवाद के संसर्ग से मनु का सुखवाद पराकाष्ठा तक पहुँच गया; उनकी कामुकता सीमा में न रह सकी और अन्त में मनु का सारा असुरत्व इडा रानी पर भी बलात्कार करने पर तुल गया। यह असुरत्व की चरम सीमा थी।

अतः उसके विनाश के लिये प्रजा तथा प्रकृति दोनों में निहित देव-शक्तियाँ मनु के विरुद्ध आ खड़ी हुईं। जिन किलात-आकुली ने मनु में असुरत्व की भूमिका समाप्त की थी वे ही इसका उपसंहार करने भी आगये। मनु ने असुर-पुरोहितों का काम तमाम किया, जन-विद्रोह और प्रकृति-विप्लव ने मनु को घायल कर तथा उनके दर्प को चूरकर, उनमें आसुरी सुखवाद तथा जड़वाद के प्रति विराग की भावना उत्पन्न की; निर्वेद उत्पन्न होते ही वह भाग गया।

(च) देवत्व की विजय

मनु ने फिर देव-सभ्यता की प्रतिनिधि श्रद्धा की सुखमयी शरण ली और अन्त में सच्चे आनन्द को प्राप्त किया। सारस्वत भी देवत्व मूर्ति श्रद्धा के पुत्र मानव को पाकर ही सुखी और समृद्धिशाली हुआ, जड़वादी मनु को लेकर नहीं। देवत्व की विजय हुई व्यष्टि में और समष्टि में भी।

(छ) अन्तर्जगत में देवासुर-द्वन्द्व

'कामायनी' में अन्तर्जगत् में होने वाले देवासुर-संग्राम को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उसी को लक्ष्य करके कहा गया है:—

देवों की विजय दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

प्रथम सर्ग में मनु की स्थिति ग्रैफ के उस शून्य के भाँति है जहाँ ऋणात्मक और धनात्मक, विराग और राग, मृत्यु और जीवन असुरत्व और देवत्व, अकर्मण्यता और कर्मण्यता दोनों का मिलन है।
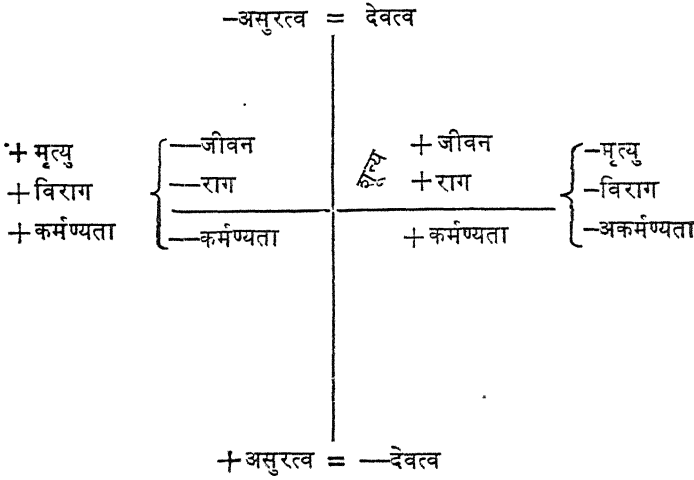
यहाँ अतीत और वर्तमान के संगम पर बैठा हुआ मनु असुरत्व-प्रधान "देव-दम्भ" को अपने सामने ही विनष्ट होते देख चुका है, और उसको वह अब अपने जीवन से पूर्णतया निकाल चुका है। साथ ही उसका स्थान लेने को शुद्ध देवत्व का कोई धनात्मक (Positive) आदर्श सामने नहीं है। अत: आदर्शहीन जीवन में कर्मण्यता के लिए अवसर न होने से वह शान्तिदायिनी, सुषुप्तिमयी मृत्यु के मार्ग की ओर मुख करके बैठा हुआ मालूम होता है :—

मौन ! नाश ! विध्वंस अँधेरा !
शून्य बना जो प्रगट अभाव !
वही सत्य है, अरी अमरते !
तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव ।

मृत्यु, अरी चिर निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती
काल-जलधि की सी हलचल ।

इस मनोवृत्ति का कारण जल-प्लावन का संघातक दृश्य था। कारण के हटते ही कार्य में परिवर्तन होना निश्चित था। प्रलय-विभीषिका का अन्त होते ही प्रकृति में नव-जीवन ने नवीन सौन्दर्य तथा आकर्षण लेकर पदार्पण किया। इस नवीन परिवर्तन को देखकर, मनु की शून्य स्थिति में देवत्व का उदय हुआ; सारे परिवर्तन के एकमात्र कर्ता विराट पुरुष की सत्ता की ओर ध्यान गया :—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

बस डबते को तिनके का सहारा मिला; 'जीवन की पुकार' होन लगी; आदर्श मिलते ही यज्ञ, तप, संयम, ध्यान, मनन में लगकर मनु सहानुभूति तथा उदारता का आचरण करने लगा :—

दुख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे।

मनु का जीवन देवत्व की ओर अग्रसर हो रहा था।

परन्तु अधिक काल तक अकेले मग्न नहीं रहा जा सकता; किसी अज्ञात अपरिचित के प्रति कब तक उदारता दिखलाते रहें। सहानुभूति के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। मनु के हृदय-कुसुम की मधु से भींगी पाँखें अचानक खुलीं, मनु के संवेदन की चोट पड़ी, असुरत्व-प्रधान देव-दम्भ के संस्कार सजग हो उठे और 'अनादि वासना' नयी होकर मधुर प्राकृतिक भूख के समान जग उठी, द्वन्द्व को सुखद अनुमान कर वे उसे चिरपरिचित की भाँति चाहने लगे। वे तृषित और व्याकुल होकर चिल्ला उठे :—

कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

फिर, क्या था ! 'वासना-सरिता' भर कर 'मदमत्त प्रवाह' बनने तथा 'प्रलय-जलधि' की ओर चलन की तैयारियाँ करने लगी; वर्तमान परिस्थिति से अरुचि तथा असन्तोष हुआ और वे देवों के उसी 'उन्मत्त-विलास' की प्रषुप्त स्मृति को जगाने लगे :—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था।
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या,
मन जिसमें सुख सोता था !

असुरत्व ने फिर सिर उठाया; और मनु ने उसको अपनाया। मनु का जीवन

फिर निरुपाय और आदर्शहीन हो उठा और वह एक बार फिर जीवन के धनात्मक को छोड़ ऋणात्मक की ओर मुख करते हुए मालूम पड़ता है :—

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय,
एक उल्का सा जलता भ्रांत
शून्य में फिरता हूँ असहाय ।"

मनु के जीवन का यह अभाव पूरा करने के लिए, श्रद्धा आत्म-समर्पण करती है और मनु को स्वार्थमय यजन करने तथा 'आत्म-विस्तार' न करने के लिए धिक्कारती है। उसका उपदेश है "तप नहीं केवल जीवन सत्य" और वह चाहती है कि मनु अतीत से सीख कर 'देव असफलताओं के ध्वंस पर' मनु का चेतन राज पूर्ण करें, जिससे मानवता विजयिनी हो।

यह है असुरत्व की ओर झुकते हुए तथा संकीर्णतामय जीवन व्यतीत करते हुए मनु को देवत्व की उदारता-पूर्ण चेतावनी।

परन्तु मनु के भीतर बैठा हुआ असुर इसको अपने दृष्टिकोण से देखता है। वह क्या जाने मनु का चेतन-राज, जड़वादी आसुरी वासना श्रद्धा के जड़-शरीर की ओर ही आकृष्ट हो सकती थी। काम के शब्दों में 'देवत्व' उसे दूसरी चेतावनी देता है और श्रद्धा के योग्य बनने की सलाह देता है। पर श्रद्धा का सानिध्य और काम की कृपा मनु की वासना को ही अधिक उद्दीप्त करते हैं, श्रद्धा का पशु के प्रति भी दुलार देखकर उसके हृदय में छिपी ईर्ष्या और वेदना का ही जन्म होता है :—

आह वह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह !
पल रहे ये दिये जो अन्न से इस गेह।
मैं ? कहाँ मैं ? ले लिया करते सभी निज भाग;
और देते फेंक मेरा प्राप्त तुच्छ विराग।

मनु को मालूम है कि सारा जगत उसकी उपेक्षा कर रहा है; जो उसका खाते है उन पर भी उसका अधिकार नहीं। इसी उधेड़बुन मे लगे हुए मनु को देख कर श्रद्धा कहती है :—

कहा "क्यों अभी तुम बैठे ही रहे धर ध्यान;
देखती है आँख कुछ, सुनते रहे कुछ कान—
मन कहीं यह क्या हुआ है ? आज कैसा रंग ?"

अभी तक मनु को व्रीडा रोके हुए थी, परन्तु आज आसुरी वासना उसे दबाकर मनु से कहलवा ही देती है कि, 'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ।' श्रद्धा भी इस

समर्पण की स्वीकृति-सी दे देती है, परन्तु उसके मार्ग में भी लज्जा आ खड़ी होती है जिसे लक्ष्य करके श्रद्धा कहती है :—

तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतन्त्रता छीन रही;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से हो बीन रही।

श्रद्धा के मन में भी देव-दानव-द्वंद्व चल रहा है; परन्तु लज्जा का उपदेश है कि यह द्वंद्व तो सदैव होता रहता है और जब तक जीवित रहता है तब तक हानिकर ही सिद्ध होता है। इसलिए दोनों में सन्धि करा देना ही अच्छा है :—

आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मिति रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।

परन्तु, मनु इस समझौते के लिए तैयार नहीं; श्रद्धा तथा काम द्वारा दी गई देव-चेतावनी का अर्थ उसने उलटा ही लगाया। उसका आसुरी और जड़वादी सुखवाद श्रद्धा को अपनी वासना-तृप्ति का साधन भर ही मान सकता था। अतः उसके योग्य बनने के लिए उसने विलासिता के अधिकाधिक साधन जुटाना ही ठीक समझा। वाह्य असुरत्व 'किलात-आकुली' के रूप में मनु के आभ्यंतरिक असुरत्व का सहायक बना; मांस-भक्षण सोम-पान, पशु-बलि के रूप में आसुरी सुखवाद प्रकट हुआ; देव-दानव में सन्धि का निश्चय कर लेने वाली श्रद्धा ने, उसको पसन्द न करते हुए भी, 'क्षण भर की उस चंचलता द्वारा हृदय का स्वाधिकार खो दिया।' तिस पर भी मनु के असुरत्व में कमी नहीं आयी, अपितु वह वढ़ता ही गया, तृष्णा का विकराल मुख फैलता ही गया; और अन्त में ईर्षा-द्वेष का शिकार होकर श्रद्धा को त्यागकर वह चल ही तो दिया।

इस समय मनु में देवत्व का ऋणात्मक तथा जीवन का धनात्मक रूप है।

सारस्वत नगर में मनु के जड़वादी सुखवाद का मेल बुद्धिवादी सुखवाद से होता है, जिसको वह भ्रमवश अपना समझ लेता है, और झूठी आशा में अनेक प्रकार की सुख-सामग्री की सृष्टि कर लेता है। परन्तु शीघ्र ही मनु का भ्रम दूर होता है; जड़वाद और बुद्धिवाद का संघर्ष होता है। अन्त में जड़वाद तथा बुद्धिवाद दोनों को अपने जीवन से निकालकर मनु फिर शून्य-स्थिति में पहुँच जाता है; परन्तु इस वार इस स्थिति से बाहर खींचने वाले आसुरी जड़वाद अथवा बुद्धिवादी सुखवाद नहीं; वे तो संघर्ष में नष्ट हो चुके और उन दोनों के कटु

अनुभव की स्मृति अभी ताजी है। अतः चेतनवादी सुखवाद श्रद्धा के रूप में आकर उसे अवलम्ब देता है :—

श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर
कृतज्ञता से हृदय भरे,
मनु उठ बैठा गदगद होकर
बोले कछु अनुराग भरे।
श्रद्धा तू आगई भला तो
पर क्या मैं था यहीं पड़ा।
वही भवन, ये स्तम्भ, वेदिका !
बिखरी चारों ओर घृणा।
आँख बन्द कर लिया क्षोभ से
दूर दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अन्धकार में
खोदूँ कहीं न फिर तुझको।

यह थी श्रद्धा के "मन के चेतन राज" की जीत; देवत्व की असुरत्व पर विजय। इसी सहारे को मनु लेकर आगे बढ़ा और उसने देखा कि सारे संघर्षों तथा द्वंद्वो का अन्त हो गया :—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

(३) कामायनी के पात्र

मनु के तीन रूप

कामायनी के कथानायक मनु हैं। भारतीय जनश्रुति में मनु के दो रूप मिलते हैं—एक रूप से वे अराजकतापूर्ण देश में "मत्स्य-न्याय" से परस्पर व्यवहार करते हुए लोगों के अनाचार का दमन कर और दंड-नीति का विधान कर समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करते हैं (दे० म० भा० शा० प० ६७, १७, ३२, मनु० ७; ३, अं० शा० १, १३; शु० नी० १, ११, १२५, ४०); दूसरे रूप में वे मनुस्मृति को रचने वाले, अनेक वेद-शाखाओं के अध्ययन करने वाले विज्ञानानुष्ठान से सम्पन्न पुरुष होकर हमारे सामने आते हैं। (दे० मनुर्नाम कश्चित्पुरुष-विशेषोऽनेक-वेद-शाखाध्यनविज्ञानानुष्ठान-सम्पन्नः स्मृतिपरम्पराप्रसिद्धः—में०

प० भा०) पहला प्रजापति रूप है, जो कामायनी में भी "मनु-इड़ा-युग" में मिलता है (तु० क० २००, ५; १९७,८; २०२, ६); दूसरा वैदिक-कर्मकांडी ऋषि रूप है, जो यहाँ जलप्लावन से 'श्रद्धा त्याग' तक माना जा सकता है और जिसके भी दो पहलू हैं—पहला तपस्वी मनु का जो 'किलाताकुली' के आने से पूर्व मिलता है, दूसरा 'हिंसक यजमान' मनु का जो असुर-पुरोहितों के आगमन के पश्चात् पाया जाता है। परन्तु, प्रजापति तथा ऋषि के अतिरिक्त कामायनी में मनु का एक तीसरा रूप और भी है, जो 'मनु-इड़ा-युग' के अन्त होने पर आनन्द-पथ को खोजते हुए मनु में देखा जा सकता है। यह प्रथम-पथ-प्रदर्शक मनु का रूप है। इन्हीं तीनों रूपों में मनु चरित का अध्ययन करना है।

वैदिक-कर्मकाण्डी ऋषि

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कर्मकांडी ऋषि रूप के दो पहलू हैं—एक तपस्वी मनु, दूसरा हिंसक-यजमान मनु।

(अ) तपस्वी मनु

'प्रलय प्रवाह' को 'भीगे नयनों' से देखने वाला 'एकपुरुष' (११, १) विश्वदेव, सविता इत्यादि देवों पर शासन करने वाली विराट सत्ता के प्रति जिज्ञासा लिए हुए (२३-३४ पृ०), अनन्त की गोद सदृश विस्तृत गुहा में एक सुन्दर स्वच्छ स्थान बनाता है (३८, ५) और पहले 'संचित अग्नि' में अग्निहोम करते हुए तप, संयम, मनन और चिन्तन को अपना जीवन समर्पण कर देता है (३९, १-२, ४१, १; ४४, २):—

मनन किया करते थे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ
एक सजीव तपस्या जैसे,
पतझड़ मे कर बास रहा।

यही तपस्वी मनु का चित्र है।

'पहले संचित अग्नि' में यज्ञ करने वाले कामायनी के यह मनु वेद के मनु हैं, जिनके यज्ञ की प्रति-कृति स्वरूप अन्य यज्ञ होते कहे जाते हैं। ऋ० १, ४४, ११; १०, ६३; १५; ४, ३४, ३ इत्यादि)। जिनका नाम दध्याङ्च, अथर्वा, मातरिश्वा और अंगिरस जैसे तपस्वियों तथा यज्ञकर्त्ताओं के साथ लिया जाता है, क्योंकि वे स्थावर-जंगम-सृष्टि के शासक आदित्यों के लिए समिद्ध अग्नि में 'प्रथम अग्निहोत्र' करने वाले हैं:—

येभ्यो होत्रां प्रथमामयेजे मनु समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा न कर्त सुपथा स्वस्तये।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतदकृतादेनसस्यतेथा देवास पिपृता स्वस्तये ।
(ऋ० १०, ६३, ७-८)

स्थावर जंगम पर शासन करने वाले ये आदित्य 'विश्वे देवा' हैं क्योंकि उक्त सूक्त के सहित गयप्लात ऋषि के सभी सूक्तों (ऋ० १०, ६३, ६२) के देवता 'विश्वेदेवा' ही हैं। स्वयं मनु-ऋषि के सूक्तों (ऋ० ८, २७-३) तथा नाभानेदिष्ठ मानव (जो सम्भवतः मनु का वंशज है) के सूक्तों (ऋ० १०, ६१, ६४) के भी देवता विश्वेदेवा होने से गयप्लात का मनु का विश्वेदेवा का उपासक बतलाना प्रमाणित हो जाता है। मनु विश्वेदेवा को आदित्य कहते हैं और उन्हें 'विश्वे सुजोषसः' 'समन्यव विश्वे' तथा 'साक सरातयः' आदि समष्टि-बोधक नामों से सम्बोधित करते हैं (दे० ऋ० १०, २७, ५; १४ इत्यादि) और अन्त में इस समष्टि में 'एकत्व' मात्र की कल्पना करके 'समाज' नाम से आवाहन कर विश्वेदेवा की पितृ-भाव से उपासना करते हैं :—

वयं तदः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम् ।
अश्याम तदादित्या जुह्वतो हविर्येन वस्योऽनशामहै (वही, २२)

अतः मेक्डानेल का यह अनुमान कि विश्वेदेवा सभी देवों का समष्टि-रूप है ठीक प्रतीत होता है। परन्तु यह समष्टि उपर्युक्त 'समाज' शब्द से व्यक्त होने वाली केवल नमक-घोल की 'तल्लीन' समष्टि ही सम्भव नहीं है, उसका दूसरा रूप 'सायुज्य' समष्टि भी है, जिसमें जैसा स्वयं मनु ने अपने सूक्तों में (८, २८-३०) बतलाया है, 'त्रयः त्रिंशः' या 'त्रिंशति त्रयः' अपने अपने व्यक्तित्व को भी बनाये रह सकते हैं।

कामायनी के मनु भी 'विश्वेदेवा' के उपासक हैं, यद्यपि उन्हें अभी इस देव-'समष्टि' के यथार्थ रूप का ज्ञान हुआ नहीं प्रतीत होता :—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम,
कुछ हो ऐसा होता भान ।

तपस्वी मनु की यह व्याकुलता 'विश्वेदेवा' के दूसरे उपासक 'गयप्लात' की आकुल जिज्ञासा के समान ही है :—

कथा देवानां कतमस्य यामिनि सुमन्तु नाम शृण्वतां मनामहे ।
को मृणाति कतमो नो मयस्करत्कतव ऊर्त अभ्यावववर्तति ।।
ऋतयन्ति ऋतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न र्मडिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु ये अधिकामा असंयत ।।
(१०, ६४, १-२)

(आ) हिंसक-यजमान मनु

रक्त-लोलुप किलाताकुली को पुरोहित बनाकर (पृ० ११९-१५०) यज्ञ में पशु-बलि करने वाला (११२, १, २) सोम और पुरोडाश का सेवन करने वाला (१२५-४) मृगया में मस्त (पृ० १४७-१४९) तथा हिंसा को सम कुछ समझने वाला (१५२, १) स्वच्छन्द वासना-तृप्ति का प्रतिपादक दृप्त पुरुष—यह हिंसक-यजमान मनु का चित्र है।

इस चित्र के किलाताकुली द्वारा मनु का पौरोहित्य करना वैदिक है ही, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। असुर होने के नाते उनके साथ पशु-हिंसा या पशु-बलि भी सहज ही कल्पित की जा सकती है। मनु द्वारा पशु-बलि का प्रमाण, यदि आध्यात्मिक अर्थ को छोड़ दे, तो निम्नलिखित ऋचाओं मे पाया जा सकता है :—

सखा सख्ये अपचत्तू यमग्निरस्य ऋत्वा महिषा त्रीशतानि
त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिब वृत्रहत्याय सोमम् ।
त्री यच्छता महिषाणामध्ये मास्त्री सरांसि मघवा सोम्भावः
कारं न विश्वे अह्वन्त देवा भरन्मिन्द्राय यदहिं जघान
उशना यत्सहस्यैरयातं गृहमिन्द्र जुजुवानेभिररवेः ।

प्रथम पंक्तियों मे प्रयुक्त 'मनुष.' का अर्थ 'मनुष्वत्' या '**मनोः**' किया गया है (दे० सायण, ग्रिफिथ, ओल्डेनवर्ग), दोनो दृष्टिकोणों से मनु द्वारा सोम और महिष की इन्द्र को बलि चढाना ध्वनित होता है। पशु-बलि के साथ मृगया और हिंसा-प्रेम की कल्पना स्वाभाविक है।

(२) मनु-प्रजापति

'प्रजापति' का अर्थ प्रजा को बनाने वाला या पालने वाला किया गया है। (गो० १, १, ४; निरुक्त १०, ४, ५; तु० क० तै०, १, ६, ४, १; श० ४, ५, ५, १३; श० ७ श्रौ० सू० २, १०, १; ९, ५, १; १४, ७, १; १४, ८, १); प्रजा से अभिप्राय सन्तान, प्राणीमात्र या जनपद है (श० ४, २, १, १७; ३, ५, १, १३; ५, १, ५, २६, इत्यादि), अतः प्रजापति का प्रयोग पिता, ब्रह्मा तथा राजा के लिए होता है (श० ५, १, ५, २६; तै० २, ८, १, ३; श० ६,

३, १, १७; ६, ८, १, ४; तै० १, २, २, ५ इत्यादि)। कामायनी में मनु को कई स्थान पर प्रजापति कहा गया है :—

प्रजा तुम्हारी; तुम्हें प्रजापति सबका ही गुनती हूँ मैं, (१९२-२)
आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ? (२००,५)
आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या ! (२०२, २)
तुम पर हो अधिकार प्रजापति न तो वृथा हूँ (२०२,६)

मनु के लिए प्रजापति शब्द का प्रयोग नियामक राजा के अर्थ ही में यहाँ हुआ है, क्योंकि मनु ने सारस्वत प्रदेश की अराजकता को दूर कर शान्ति-व्यवस्था स्थापित की थी :—

यह प्रजा बनाकर कितना तुष्ट हुआ था,
किन्तु कौन कह सकता इन पर रुष्ट हुआ था।
कितने जब से भरकर इनका चक्र चलाया,
अलग अलग थे एक हुई पर इनकी छाया।
मैं नियमन के लिये बुद्धि बल से प्रयत्न कर,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।

वेद में भी मनु को सम्भवतः पृथ्वीपति के ही अर्थ में प्रजापति कहा गया है (अश्वा वाऽइयं पृथिवी भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः, श० १४, १, ३, २५; प्रजापतिर्वैमनुः, श० ६, ६, १, १९)। एक स्थान पर मनु वैवस्वत को मनुष्यों का राजा कहा गया है (मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः; श० १३, ४, ३, ३)। अथर्ववेद में उन्हीं मनु वैवस्वत को मनष्यों के लिए पृथिवी पात्र में कृषि और सस्य दुहने के लिए विराज गाय का वत्स बनाया गया है :—

सोदक्रामत सा मनुष्यानागच्छत्। तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति। तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्। तां पृथीवैन्योधोक तां कृषिं च सस्यं चाऽधोक। (अ० वे० ८,१०,४)

इन उल्लेखों से मनु का राजा होना तो सिद्ध है, परन्तु वे विशेष की सीमा को पार कर सामान्य को प्राप्त हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनके देश-विशेष या प्रजा-विशेष का नाम नहीं मिलता। प्रसादजी ने मनु प्रजापति के 'सारस्वत-देश' की कल्पना की है, जो, जैसा पहले कहा जा चुका है, असुर-प्रभाव-प्रधान लीला-क्षेत्र होने के लिए पूर्णतया उपयुक्त है।

अराजकता-मय सारस्वत देश की अलग-अलग रहने वाली प्रजा को एकत्र कर नियमन द्वारा उसकी 'एक छाया' कर देने वाले, (१९७, ८, १०), वर्ण-व्यवस्था, श्रम-विभाग, शस्त्र-यन्त्र-रचना के कर्त्ता, प्रकृति के साथ संघर्ष सिखाने वाले तथा देश में समृद्धि लाने वाले मनु (२०४, ४-५; २०५, १-२)—यह कामायनी के प्रजापति मनु का चित्र है।

उस चित्र का आधार यों तो उपर्युक्त अथर्ववेदीय उद्धरण में मिल जाता है, परन्तु वहाँ पर मनु तो केवल निमित्त मात्र मालूम पड़ते हैं, वास्तव में प्रधानता तो पृथी वैन्य की है; जिन्होंने मनुवत्स के बहाने सारी मनुष्य जाति के लिए विराज गाय से कृषि और सस्य का दोहन किया । फिर भी ऋग्वेद में मनुष्यों को बार-बार 'मनोर्विक्षु' कहना, उनके कार्यों को 'मनुष्वत्' कहकर मनु को ही उनके लिए अनुकरणीय आदर्श मानना तथा स्वयं उनका नाम ही मनु शब्द से निकला हुआ होना मनु की उस प्रधानता के द्योतक हैं, जो महाभारत शा० प० ६७, १७, ३२, मनुस्मृति ७, ३, अर्थशास्त्र १, १३ और शुक्रनीति १, ११, १२५-४० आदि ने उन्हें दी है और जहाँ से सम्भवतः कवि को कामायनी के मनु-प्रजापति का चित्र रचने के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई है । महाभारत आदि में भी अराजक-देश में अनाचार और दुराचार का दमन कर सुखी, समृद्ध, व्यवस्थित तथा नियमित राष्ट्र निर्मित करते हैं ।

परन्तु प्रसादजी के मनु परम्परागत मनु से कुछ भिन्न भी हैं । महाभारत के मनु से जब राजा बनने का प्रस्ताव किया जाता है तो पहले तो वे तैयार ही नहीं होते, क्योंकि वे दुराचार और मिथ्याचार से डरते हैं; कुकर्मियों पर शासन करने का साहस उन्हें तभी होता है जब वे लोग दुराचार का दण्ड भोगने, पशुधन तथा सुवर्ण का पचासवाँ तथा अन्न का दसवाँ भाग कर रूप में देने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं । इसके विपरीत कामायनी के मनु वासना के शिकार दर्प और दम्भ से युक्त, अतिचार और अनाचार को अपना अधिकार समझने वाले हैं । देश में उनके द्वारा नियमन, व्यवस्था, समृद्धि तथा शान्ति का विस्तार किया गया है सही, पर प्रजा उसको दूसरे ही दृष्टिकोण से देखती है :—

वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से,
देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से ।
तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार संकट में डाला ।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख ।
प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बनादी सब की झीनी ।

यह थोड़ा-सा परिवर्तन, परम्परा में किंचित् घुमाव, रूढ़िगतगाथा में ईषत् हेर-फेर, आधुनिकता की पुकार का समावेश करने, नयी समस्याओं को युग का प्रतिनिधि महाकाव्य बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक था ।

इस आवश्यकता-पूर्ति में भी लेखक ने औचित्य की सीमा को लाँघकर निरंकुशता तथा स्वच्छन्दता से काम नहीं लिया है। 'तपस्वी मनु' एवं 'हिंसक यजमान मनु' में वैदिक परम्परा के आधार पर गढ़ा हुआ जो रूप मनु का दिखलाया गया है, उसमें अतिचारी व अनाचारी प्रजापति की भूमिका स्पष्ट मिल जाती है; और मनुस्मृति में भौतिक सांसारिकता तथा बुद्धिवादी सुखवाद के जो उल्लेख मिलते हैं वे कामायनी के 'राजा मनु' को अपनाते से मालूम पड़ते हैं। मनुस्मृति का राजा स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता की मूर्ति तथा प्रजा को कठपुतली की भाँति नचाने वाला है :—

यस्य प्रसादे पद्माऽस्ते विजयश्च पराक्रमे,
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजमयो नृपः।

वह 'अनुचित-उचित विचार तज' वाली राजभक्ति चाहता है :—

बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता त्वेषा नर रूपेण तिष्ठति।

कामायनी का मनु भी इससे अधिक और क्या है ? वह कहता है—

"इडे ! मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ,
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।"

वह दूसरों पर नियन्त्रण रखना चाहता है, पर स्वयं स्वच्छन्द विचरण करना चाहता है:—

किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं,
तनिक न मैं स्वच्छन्द, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं।
जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं।
श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं,
प्रतिपल बहता हुआ भला कब वहाँ रुका मैं।
इडा नियम परतन्त्र चाहती मुझे बनाना,
निर्बाधित अधिकार उसी ने एक न माना।

उसका विश्वास है कि विश्व की भाँति वह बन्धन-विहीन है, उसकी इच्छा के इशारे पर पृथ्वी का समुद्र और सागर का मरुस्थल (तु० क० यस्यप्रसादे पद्माऽस्ते इत्यादि) बन जाता है :—

विश्व एक बन्धन विहीन परिवर्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो हैं;

रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।

इसी प्रकार सोमपान, मांस-भक्षण तथा वासना-तृप्ति के पीछे पड़े हुए तथा यावत् जीवेत् सुख जीवत् को चरितार्थ करने वाले मनु भी क्या मनुस्मृति के इस कथन के विपरीत जाते हुए मालूम पड़ते है—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने
प्रवृतिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

(ख) इडा

इसके अतिरिक्त मनु के जीवन मे इड़ा का आना कामायनी के प्रजापति के चित्र को और अधिक प्रामाणिक बना देता है। शतपथ ब्राह्मणों में मनु के यज्ञ-शिष्ट अन्न से पली हुई होने के कारण इड़ा को उनकी दुहिता कहा गया है और उसको पाकयज्ञिया मानवी, यज्ञानूकाशिनी आदि विशेषण भी प्रदान किये गये है। (**मनुजा ताग्रग्रेऽजनयत तस्मादाह (इडा) इति श० १, ८, १, २६ एतद्ध वैमनुर्विभयांचकार। इदं वैमनुर्यज्ञस्य यदियभिडा पाकयज्ञिया, श० १, ८, १, १६; सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिडा, श० १, ८, १, ११; इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्, तै० १, १, ४, ४**)। प्रसादजी ने इस बात की ओर (भूमिका में सकेत तो किया है, परन्तु कथा वस्तु मे यज्ञान्न से पालित कन्या के बदले उसे मनु की 'आत्मजा-प्रजा' कहना अधिक उचित समझा है :—

"अरे आत्मजा प्रजा। पाप की परिभाषा बन शाप उठी।"

इड़ा उसी दुनिया की नारी है, जिसका झुकाव भौतिकवाद की ओर मालूम होता है। जगत् की अपूर्णता पर उसे क्षोभ है और उसके स्रष्टा के प्रति वह सन्देह और उपेक्षा का भाव रखती है।

तब या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत,
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत।
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी,
उसका अधिपति! होगा कोई जिस तक दुख की न पुकार गयी।

लोग किसी सुदूर 'ज्योतिर्मय परलोक' की बात करते हैं, परन्तु वह उसके किस काम का? वह तो नियति-जाल में छुटकारा पाने की पक्षपातिनी है :—

उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन देकर अपनी मेरी स्वतंत्रता में सहाय,
क्या बन सकता है नियति जाल से मुक्ति दान का कर उपाय?

उसे अपने ही बुद्धिबल का भरोसा है और अपने अभीष्ट-साधन के लिए वह अखिल लोक में पथ फैलाने वाले 'विज्ञान का सहज साधन उपाय का अवलम्बन श्रेष्ठ समझती है :—

हाँ तुम ही हो अपने सहाय ।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जाय,
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन-उपाय,
यश अखिल लोक में रहे छाय ।

इड़ा के इस व्यक्तित्व में क्या है? अतीन्द्रिय और अव्यक्त के प्रति उपेक्षा तथा अश्रद्धा, प्रत्यक्ष में विश्वास, बुद्धि एवं विज्ञान का भरोसा और आत्मभिमान-मूलक स्वावलम्बन । यह बुद्धिवाद की तथा-कथित क्रियात्मकता है; इसलिए उसके कथन को सुनकर मनु कहता है—

अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया ।

इड़ा के बुद्धिवाद के वैदिक आधार के विषय में यही कहा जा सकता है कि इड़ा को सरस्वती आदि की भाँति बुद्धि साधने वाली अथवा चेतना देने वाली कहा गया है (**सरस्वती साधयन्ती धियं न इडा देवी भारती विश्वमूर्ति, ऋ० वे० २, ३, ८; तु० क० १०, ११०, ८ इत्यादि**)। उसके इस बुद्धिवाद का मनु पर भी सम्भवतः प्रभाव पड़ा था क्योंकि भारती तथा इससे प्रार्थना की गयी है कि मनु की भाँति (मनुष्वत्) हमारा भी प्रबोध करती हुई हमारे यज्ञ को आओ (**आवो यज्ञ भारती तूयमेत्विडा मनुष्वत् त्विह चेतयन्ती**)

इड़ा का दूसरा रूप रानी का है । कामायनी में वह उजड़े सारस्वत प्रदेश को, मनु को उसका राजा बनाकर, समृद्ध बनाने वाली लोकप्रिय रानी है; जिस पर अत्याचार होते ही उसकी प्रजा विद्रोह का झण्डा खड़ा करती है और अतिचारी मनु को लेने के देने पड़ जाते हैं :—

सिंहद्वार अरराया जनता भीतर आयी ।
'मेरी रानी' उसने जो चीत्कार मचायी ।

*   *   *

आज बंदिनी मेरी रानी इडा कहाँ है ?
ओ यायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?

ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे अग्नि ! देवों ने तुम्हें आयु के लिए (आयवे) प्रथम आयु, विश्पति तथा इड़ा को 'मनुष्य' का (मनुषस्य) शासन करने वाली

बनाया, जिससे पिता का पुत्र उत्पन्न हो (१, ३१, ११; तु० क० श० १, ५, २, ३)' यास्क ने आयु का अर्थ मनुष्य बतलाया है **(आयो अयनस्य मनुष्यस्य, नि० १०, ४, ४१, ११, ४, ४९ इत्यादि**) जो सायण तथा आधुनिक भाष्यकारो को भी मान्य है और जो उक्त सूक्त के प्रारम्भ मे 'कतिधी चिदायवे' कहकर अग्नि के मनुष्य के प्रति किये गये उपकारो की गणना कराने के ढग से भी ठीक जँचता है ।

यदि 'प्रथम आयु' या प्रथम मनुष्य तथा विश्पति का अभिप्राय मनु से हो, तो इस मन्त्र के अनुसार देवताओ ने अग्नि को ही मनु राजा (विश्पति) बनाय तथा इडा को उसकी रानी बनाया और ऐसा किया गया 'आयु के लिए' (आयवे) अर्थात् आयु की उत्पत्ति के लिए, जो कदाचित् दोनो के सयोग से उत्पन्न होने वाला पुत्र ही प्रतीत होता है। इसी सूक्त मे मनु को पुरुरवा कहा गया है **(मानवे द्यामवाशयः पुरूरवसे सुकृत्तरः, १, ३१, ४)** तथा एक दूसरे मन्त्र मे 'यूथ' (समूह) की माता इडा को उर्वशी कहा है और सभरण किये हुए आयु को व्यक्त करते हुए प्रसन्न होने के लिए उससे प्रार्थना की गयी है .—

अभि न इड़ा यूथस्य मातास्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्युर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः ।

पुरुरवा और उर्वशी का दम्पति होना परम्परा प्रसिद्ध है । उनका उल्लेख वेद मे भी आता है । अत 'प्रथम आयु' विश्पति तथा मनुष की शासयित्री इडा का जोडा और मनु-पुरुरवा तथा इडा-उर्वशी का जोडा एक ही मालूम पड़ता है। उसी प्रकार पहले जोडे से उत्पन्न आयु, दूसरे जोडे की इडा-उर्वशी द्वारा 'सभृथ' आयु ही प्रतीत होता है और शतपथ ब्रह्मण मे पुरुरवा तथा उर्वशी से उत्पन्न पुत्र का नाम 'आयु' कहा भी गया है .—

उर्वशी वा अप्सराः पुरुरवा पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायततदायु
(श० ३, ४, १, २२)

इस विषय मे कठिनाई डालने वाला 'पुरुरवा-उर्वशी सवादसूक्त' (ऋ० १०, ९५) जिसमे ऋषि और देवता का नाम पुरुरवा ऐड (इडा का पुत्र) है, परन्तु जब हम यह देखते है कि सारे सवाद मे 'पुरुरवा शब्द का ही प्रयोग हुआ है और केवल अन्तिम मन्त्र मे, ऐड को सम्बोधित करके 'इतित्वा देवा इम आहुरैड' आदि से पूरे सम्वाद का उपसहार किया गया है, तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने सारे सवाद मे ऐड को देवताओ द्वारा वर्णन किया हुआ बतलाया है और पुरुरवा तथा ऐड दो भिन्न-भिन्न प्राणी है (दे० आगे 'कुमार यामायन' भी) । एक कठिनाई और भी सामने आती है—इडा मनु की यज्ञ-पालिता मानवी है, जब कि उर्वशी

एक अप्सरा। परन्तु यह कठिनाई दूर करने के लिए हमें देखना पड़ेगा कि इड़ा और उर्वशी में कई बातें समान हैं। दोनों मनु-पुरुरवा की पत्नी हैं, दोनों का पुत्र 'आयु' है। इड़ा को देवों ने 'मनुषस्य शासनी' बनाया है; उर्वशी को देवों ने शाप देकर स्वर्ग से उतारा है। जिस प्रकार इड़ा को मानवी तथा मनु की पत्नी कहा गया है (का० सं० ३०, १; श० ११, ४, १६; Indische studien), उसी प्रकार उसको मैत्रावरुणी बताया गया है, क्योंकि वह मित्रावरुण के साथ समागम करती है (श० १, ८, २६) और उर्वशी भी स्वर्ग में मित्रावरुण की ही पत्नी परम्परा में प्रसिद्ध है।

इससे यह स्पष्ट है कि परम्परा में, मनु तथा इड़ा का पति-पत्नी सम्बन्ध है और दोनों के संयोग से आयु-वंशी आयवों अथवा मनु-वंशी मानवों की सृष्टि होना प्रसिद्ध है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि पत्नी को दुहिता (आत्मजा नहीं, तो पोषिता ही सही) कहने की परम्परा किस प्रकार चल पड़ी।

इस रहस्य के पीछे एक दार्शनिक तत्त्व छिपा है। देवासुर संग्राम की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए, जैसा कि कहा गया है, ऐतिहासिक कथानकों को लेकर दार्शनिक तत्त्व-निरूपण करने की प्रथा भारतीय साहित्य में व्यापक है। मनु एक ऐतिहासिक राजा, अतएव अपनी प्रजा के पालक प्रजापति हैं, उसी प्रकार सारे ब्रह्मांड में जीवमात्र प्रजा का प्रजापति परमेश्वर (गो० १, १, ४; श० १४, १, २, ११ इत्यादि) तथा पिंडाण्ड में 'संकल्प' 'विकल्प' आदि प्रजा का पालक प्रजापति मन है (कौ० १०, १; २६, ३; सा० १, १, १; तै० ३, ७, १, २; श० ४, १, १, २२; जै० उ० १, ३३, २; ऐ० ब्र० ५, २५; कौ० २७, ५)। ऐतिहासिक प्रजापति मनु के द्वारा ब्रह्माण्ड तथा पिण्डाण्ड प्रजापति का स्वरूप व्यक्त करने में 'मनु' तथा मननार्थ वाची मन् धातु से निष्पन्न 'मन' शब्द में पाये जाने वाले सादृश्य ने बहुत सहायता की। मन अपनी संकल्प-विकल्पादि प्रजा को मनन द्वारा वाक् या अभिव्यञ्जक शक्ति से उत्पन्न करता है, तदनुसार उसकी प्रतिकृति ब्रह्माण्डी प्रजापति भी सारी सृष्टि मानस-ध्यान से वाक् द्वारा करता है। (**सः तूष्णीं मनसा ध्यायतस्य यन्मनस्यासीत्तद्बृहत्सामभवत्। सा अदीधीत् गर्भो वै मेऽयमन्तर्हितस्तं वाचा प्रजनय, इति मै० सं० ४, २, १, स मनसात्मानमध्यायत् सोऽन्तर्वाणभवत्, तां० ७, ६, १-३६ इत्यादि**) अतः मनु जब इस सारे ब्रह्माण्ड या पिंडाण्ड के प्रजापति हुए, तो उनको भी मनन द्वारा सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला कहा गया (**प्रजापति वै मनुः स हीदं सर्वममनुत, श० ६, ६, १, १९; वा० सं० ३७, १२**)। पिण्डांडी तथा ब्रह्माण्डी प्रजापति जिस वाक् या आत्माभिव्यञ्जक शक्ति से सृष्टि करते हैं, वह उनकी 'स्व', महिमा तथा दुहिता है (श० २, २, ४, ४, १, ४, २, १७; का० सं० २२, ५, २७, १ मै० सं०

४, २ इत्यादि) क्योंकि उन्हीं में से वह उत्पन्न होती है और पत्नी भी (श० ५, १, १, १६, ३, १, २२ वा० सं० ४, ४ इत्यादि) क्योंकि वे उसी से सारी सृष्टि रचते है (**प्रजापतिर्वा इदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत्ताम्मिथुनं समभवत्सा गर्भमधृत्तसास्मादपाक्रामत्सेमाः प्रजा असृजत,** ता० २, १४, २ तु० क० वृ० उ० १, २, ४; का स० १२, ५, २८, १ इत्यादि) । जब सृष्टा प्रजापति ने मनु का नाम ग्रहण किया तो विश्वसृज की पत्नी तथा पुत्री वाक् ने भी 'इड़ा' नाम धारण कर लिया। अतः विश्वसृज की पत्नी 'इड़ा' कही जाती है (**इडा पत्नी विश्वसृजम्,** तैं० ३, १२, ९५) । साहित्यिक परम्परा में इड़ा और वाक् पर्यायवाची शब्द माने जाते है (**गो भू वाचस्त्विडा इला, अमर**) और इड़ा को मनु की दुहिता या प्रथम सृष्टि (श० १, ८, १ अ० ८, १, १६; १, ८, १, २६) कहा गया है। सम्भवतः इन्ही रूपक-संश्लिष्ट पिता-पुत्री की प्रजनन-क्रिया का उल्लेख मनु-वशी नाभा नेदिष्ठ मानव ने अपने सूक्त मे किया है :—

पिता यत्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मयारेतः सञ्जग्मानो निषिञ्चत्
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पति व्रतयां निरतक्षन्
(ऋ० १०,६१,७)

वैदिक परम्परागत इडा-कथा में, मनु-इडा का राजा-रानी होकर शासन-भार ग्रहण करना तथा पति-पत्नी रूप मे सन्तानोत्पति करना ऐतिहासिक घटनायें प्रतीत होती हैं, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है उन घटनाओं का उल्लेख अग्नि के मनुष्य जाति के प्रति किये गये उपकारों की गणना कराते समय किया गया है। इसी घटना का वर्णन इन दोनों के दूसरे नामों (पुरुरवा तथा उर्वशी) के साथ लौकिक तथा वासनात्मक पक्ष की अधिक प्रधानता लिये हुए पाया जाता है इससे अनुमान किया जाता है कि स्यात् मनु के साथ विश्वसृष्टा के प्रजापतित्व का सम्बन्ध जुड़ जाने से भौतिक प्रणय-पक्ष की महत्ता कम हो गयी होगी। इसलिए पुरुरवा-उर्वशी के ऋग्वेदीय सम्वाद में जो प्रेमी हृदय के मन की चपलता, चित्त की व्याकुलता तथा हृदय की भावुकता के दर्शन होते हैं, वे मनु-इडा कथा से निर्वासित हुए प्रतीत होते है। ऋग्वेद में पुरुरवा और उर्वशी के वियोग का उल्लेख है, जिसमें पुरुरवा दुखी होकर कहता है, '**उपत्वारातिः सुकृतस्य तिष्ठान्निवर्तस्व हृदय तप्यते मे** ।' यदि ऐतिहासिक घटना भी हो तो भी इसमें रूपक का समावेश कुछ-न-कुछ मानना ही पड़ेगा। बहुत सम्भव है कि मृत पत्नी के प्रति विलाप के आधार पर इस सम्वाद सूक्त (ऋ० १०, ९५) की रचना हुई हो। मनु-इडा कथा में यह घटना नही मिलती जब तक कि प्रसादजी की भाँति पिंडाण्ड के प्रजापति मनु तथा वाक् के झगड़े को यहाँ न खींच लायें।

प्रसादजी ने इस बिखरी वैदिक-विभूति में से अपने काव्य के लिए बड़ी सावधानी के साथ सामग्री-चयन किया है। यदि हम सामाजिक महाकाव्य की दृष्टि से कामायनी को देखें तो उन्होंने न तो इडा को मनु की तनुजा माना, न पाक-यज्ञिया और न सन्तानोत्पत्ति करने वाली पत्नी। उन्होंने उसे 'आत्मजा-प्रजा' कहकर केवल प्रजा होने के नाते पुत्री माना है। यद्यपि सारस्वत देश उसका है और मनु उसे 'राष्ट्र-स्वामिनी' कहकर भी सम्बोधित करता है (२०४,६); परन्तु वास्तव में मनु राजा है जिसको केन्द्र बनाकर इडा शासन-चक्र चलवा रही है (तु० क० २०५, १)। इन दोनों के पार्थक्य का आधार यद्यपि आध्यात्मिक पक्ष में, जैसा प्रसादजी ने भूमिका में कह दिया है, मन तथा वाक् का विवाद है (श० ब्रा० १४, ९, २, १४ कौ० २५, २; श० ८,१,१,६) परन्तु सामाजिक पक्ष में पुरुरवा-उर्वशी-वियोग से वह यद्यपि इस बात में मिलता है कि पुरुरवा की भाँति मनु भी अपनी निष्ठुर और विमुख प्रेयसी पर अधिकार जमाना चाहता है फिर भी वह इस बात में भिन्न हो जाता है कि उर्वशी की निष्ठुरता तथा विमुखता का कारण विवशता एवं लाचारी है, जब कि इडा ने सम्भवतः कर्तव्यशीलता के कारण मनु को कभी प्रेम ही नहीं किया। अतः यदि पुरुरवा-उर्वशी के वियोग को इसका आधार माना जाय, तो प्रसादजी के अभीष्ट आध्यात्मिक रूपक को लाने के लिए इतना परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

मनु-इडा तथा पुरुरवा-उर्वशी के संयोग की भाँति वियोग में भी मौलिक एकरूपता की पुष्टि करने वाली एक घटना और है। जैसे ही मनु ने इडा को स्पर्श किया, वैसे ही रुद्र-हुंकार हुआ, देवशक्तियाँ क्षुब्ध हो उठीं, देव 'आग' की ज्वाला भभक उठी :—

> **आलिंगन ! फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे काँप उठी !**
> **वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी !**
> **अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी।**
> **अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी !**
> **उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी**
> **रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।**

ब्राह्मणों में कहा गया है कि देवताओं की स्वसा इडा पर प्रजापति ने बलात्कार किया, इसीलिए रुद्र ने क्रुद्ध होकर प्रजापति को घायल किया (**तं० प्रजापति रुद्रोऽभ्यावर्त्य विव्याध, श०** १,७,४, ३; ३, ३३) क्योंकि यह देवों का 'आग' (पाप) था (**तद्वै देवानां आग आस**)। उधर पुरुरवा उर्वशी से वियुक्त होकर मरणासन्न हो ही जाता है।

जैसा उल्लेख किया जा चुका है इडा-उर्वशी मैत्रावरुणी कही जाने से देवताओं से उसका सम्बन्ध है ही, अतः सम्भव है कि पहिले मनु तथा देव जाति की रानी इडा का सम्बन्ध रहा हो, परन्तु इडा के कुटुम्बी अन्य राजाओ को किसी कारणवश न रुचा हो, जिससे उस जाति के देवो से मनु का संघर्ष हुआ हो, जिसमे मनु घायल हुआ हो। अथवा आध्यात्मिक पक्ष में, जिस प्रकार पुरुषसूक्त में सृष्टि-रचना के लिए देवों द्वारा पुरुष को वलि देने का उल्लेख मिलता है ; (**यत्पुरुषेण हविषा देवो यज्ञमतन्वत**) उसी प्रकार वाक् या इडा से समागम करके सृष्टि-चक्र चलाने के लिए प्रजापित का मारना कहा गया हो। इस विषय में यह बात ध्यान देने की है कि जिस प्रकार पुरुप का हवन कर देने पर अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति होने का उल्लेख है, उसी प्रकार प्रजापति के घायल होने या मरने में।

(ग) रुद्र

अस्तु, दोनों हो या एक, प्रसादजी ने कामायनी में रुद्र को एक ऐसी दैवी-शक्ति माना है जो अपनी सृष्टि मे अन्याय, अत्याचार और अनाचार नहीं सहन कर सकता, अपितु अपनी सभी देव-शक्तियों सहित अपराधी पर टूट पड़ता है :—

धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष मे महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरी मनु पर, मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर,
एक नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।

वेदों में रुद्र का कोप, उसकी भयंकरता, हेति तथा शर आदि अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख प्रायः मिलता है (ऋ० २, ३३, ९, ११, १७; १२६, ५,२,३३,१; अ० वे० १,२८,५; श० ९,१,१,६) और उससे देवता लोग भी थर-थर काँपते हैं (श० ब्रा० ९,१,१,१-६)। वह आपत्ति से रक्षा करने वाला (ऋ० ५,५१, १९) कल्याण-कर्त्ता (ऋ० १, ११४, १,२; २, ३३,६) तथा शिव है, परन्तु पापियों के लिए घातक (ऋ० ४,३,६ तथा हानि पहुँचाने वाला भी है (ऋ० २,३३,११,४; ६,२८,७,४६,२-४)। रुद्र के उस घोर (कौ० १६, ७) रूप तथा देव-विरोधी कार्य-कलाप के आधार पर उसे अनार्य-देव कहना ठीक नहीं जान पड़ता। उसका संहारक रूप ही बाद में प्रधान रहा है। पुरुष-सूक्त के पुरुष-यज्ञ के आधार पर सृष्टि को यज्ञ मानकर उसका विध्वंस करने वाले (तै० सं० २,६, ८) ३; गो० १, १,२) रुद्र सृष्टि-संहारक है, इसलिए प्रजापति अथवा

देवताओं द्वारा यज्ञ (सृष्टि यज्ञ) से रुद्र को निकालने का उल्लेख मिलता है। (प्रजापतिर्वै रुद्र यज्ञान्निरमेजत् तै० २, ६, ८, ३; तु० क० गो० २, १, २) क्योंकि सृष्टि-क्षेत्र मे सहारक देवता का आना व्यर्थ है। यही अभिप्राय पुराण की उस परम्परा का समझना चाहिए जिसमे शकर तथा उनकी पत्नी का यज्ञ से बहिष्कार किया गया है :—

दक्षः (प्रजापतिः) उवाच :—

सर्वेष्वेव हि यज्ञेषु न भागः परिकल्पितः
न मन्त्राः भार्यया सार्द्धं शंकररस्येति नेज्यते।
(कू० पु० १५, ८)

निर्वेद

(३) प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु

(क) 'प्रसाद' का पथ-प्रदर्शक—

कामायनी मे मनु प्रजापति के ध्वस पर मनु-पथप्रदर्शक का निर्माण किया गया है। इडा के साथ ही बुद्धिवादी सुखवाद से भी उसे घृणा हो जाती है ; वह उससे तग आ गया है और उसे छोडकर भागना चाहता है :—

सोच रहे थे, 'जीवन सुख है'
ना, यह विकट पहेली है।
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से,
कितनी व्यथा न झेली है ? (२३७, २)

उसका जीवन फिर शून्य है, खोखला है, खीझ और झुंझलाहट से भरा हुआ है :—

शापित सा मै जीवन का यह,
ले कंकाल भटकता हूँ।
उसी खोखलेपन मे जैसे,
कुछ खोजता अटकता हूँ।
अंध-तमस है, किन्तु प्रकृति का,
आकर्षण है खींच रहा,
सब पर, हाँ अपने पर भी मै,
झुँझलाता हूँ खीझ रहा।

पथ की खोज

यह निर्विण्ण हृदय की अभिव्यक्ति है। वह जीवन की अशान्ति से उद्विग्न होता है ; जनरव, कलह, कोलाहल से घबड़ाकर वह शान्ति की खोज में निकल पड़ता है :—

तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको,
जहाँ खोजता जाऊँगा। (२१८,१)

बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् उसे दूर पर एक 'उर्ध्व देश' में उन्नत शैल-शिखरों पर ज्योतिर्मय वातावरण दिखाई पड़ता है। वहाँ प्रकाश, आनन्द और शान्ति का साम्राज्य है :—

लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद।
आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर।
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण से भूधर। (२६१, १)

प्राप्ति

'निर्वेद' के पश्चात् यह 'दर्शन' मनु को चिरप्यासे को पानी की भाँति लगा और वह आनन्दपूर्ण आकुलता के साथ उस ओर दौड़ा। जब उधर बढ़ा तो उसे सारा 'रहस्य' ज्ञात हुआ—उसे मालूम हुआ कि जीवन के जिस रूप को उसने अभी तक देखा था वह कितना भयंकर, गन्दा और दुखमय है। अन्त में वह अपने अभीष्ट प्रदेश में कैलाश पर पहुँच जाता है, जहाँ अखण्ड आनन्द तथा पूर्ण समरसता जड़-चेतन पर विराज रही है :—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक बिखरती,
आनन्द अखण्ड घना था। (३० २, ५)

पथ-प्रदर्शन

आनन्द का यह मार्ग मनु अपने ही लिए नहीं रखता उसके दर्शन के लिए जो सारस्वत नगर निवासी जाते हैं उनको भी वह उसी ओर संकेत करता है :—

मनु ने कुछ मुस्क्या कर
कैलाश ओर दिखलाया;

बोले, देखो कि यहाँ पर,
कोई भी नहीं पराया। (२९५, ३)

* * *

सब भेद भाव भुलवाकर,
दुख सुख का दृश्य बताता,
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता ! (२९७, ५)

सचमुच वहाँ के सुन्दर, पवित्र तथा शान्त वातावरण से सभी लोग बहुत प्रभावित होते हैं :—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें,
उस प्रेम-ज्योति विमलासे—
सब पहिचाने से लगते—
अपनी ही एक कला से। (३०२, ४)

मनु

(ख) वेद का पथ-प्रदर्शक

जिस पथ का मार्गण ग्रहण और निदर्शन कामायनी के मनु ने किया, उसी प्रकार के 'पंथ' का उल्लेख वैदिक मनु के साथ भी मिलता है। गयःप्लात ऋषि अपने सूक्त (ऋ० १०,६३) का आरम्भ मनु द्वारा प्रसन्न किये हुए (मनुप्रीतासः) 'परावतः' विश्वेदेवों के आह्वान के साथ करके उन "नृचक्षसः अनिमिषन्तः" देवों द्वारा अमृतत्व-प्राप्ति करने, अनागसः होकर द्युलोक के शिखर पर वास करने, 'समाज' के 'सुवृध यज्ञ' में आकर द्युलोक में स्थान-ग्रहण करने और मनु के स्तोम से उनके प्रसन्न होने तथा कल्याणमार्ग (अध्वरं स्वस्तये) दिखलाने का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि जिन आदित्यों के लिए समिद्धाग्नि मनु ने प्रथम (अग्नि) होत्र किये, वे ही हमारे लिए 'अभय शर्म' प्रदान करें तथा कल्याण के लिए सुगम एवं सुन्दर मार्ग बनाये (**त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये**)। एक दूसरे सूक्त में (ऋ० ८, २०) विश्वेदेवा की मनु पर होने वाली कृपा-दृष्टि का उदाहरण देकर, ऋषि उनसे प्रार्थना करता है कि 'आज फिर, एक पर को और (अपरं तु)—अर्थात् मुझ पर को (नःतु)—वरिवं (जिसका अर्थ 'स्थान, बड़ा मार्ग, सुख, कल्याण आदि किया जाता है) प्राप्त करने वाले हो जाइये (**देवासो हिष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः। ते नो अद्य ते अपरं तु चे तु नो भवन्तु वरिवोविदः**, ऋ० १०, २७, १४); फिर

विश्वे देवा की सायुज्य-समष्टि के बदले उनकी तल्लीन-समष्टि रूप को 'अद्रुह' तथा 'संस्थ उपस्तुतीनाम्' कहकर, उसके धाम को प्राप्त करने वाले 'मर्त्य' को सब प्रकार से सुखी तथा अर्यमा, मित्र, वरुण आदि द्वारा सुरक्षित बतलाकर, दुर्गम मार्ग को सुगम बनाने **(अग्रेचितस्मैकृणुथन्यञ्चन दुर्गे चिदा सुसरणम्)** तथा अन्य कठिनाइयों को दूर करने की प्रार्थना की गयी है और अन्त में कहा गया है कि जिस अभीष्ट कल्याण (वामं तु० क० वामं सा० और दे० 'अस्य वामस्य' इत्यादि ऋ० १,१, ६४, १) को मनु के लिए विश्वेदेवा ने प्राप्त कराया, वहीं 'हे सम्राज ! हम तुमसे उसी प्रकार माँग रहे हैं जिस प्रकार पुत्र पिता से' **(यदद्य सूर उदिते यन्मध्यन्दिन आतुचिवामंधत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाम प्रचेतसे। वयं तद्वः समाज वृणीमहे पुत्रो न वहुपाय्यम्)** ऋ० ८,३० में विश्वेदेवा को 'मनोदेवा यज्ञियासः' कहकर सम्बोधित किया गया है और उनसे विनय की गयी है कि हमें हमारे पिता मनु के परावत मार्ग से दूर मत ले जाना **(मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नेष्ट परावतः)** ।

इन उल्लेखों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

(१) मनु से जिस पथ का सम्बन्ध है वह स्वस्ति या कल्याण का पारलौकिक मार्ग है, जो स्वयं 'सम्राज' से भी माँगा जा सकता है।

(२) यह मार्ग उन्हें विश्वेदेवा की कृपा से प्राप्त हुआ।

(३) यह मार्ग सम्राज के 'धाम' को ले जाने वाला है जिससे भक्त ऋषि स्वयं सम्राज से भी उसके लिए प्रार्थना करता है।

(४) सम्राज विश्वेदेवा की तल्लीन-समष्टि-रूप मालूम पड़ता है। विश्वेदेवा, जैसा ऊपर कहा जा चुका है सभी देवों की सायुज्यसमष्टि रूप है जिसका यथार्थ रूप 'एकत्व' या तल्लीन-समष्टि है। ब्राह्मणों में यही बात स्पष्ट रूप से कही भी गयी है :—**अथ यदेनं एकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तदस्य वैश्वदेवं रूपम्, ऐ० ब्रा० ३, ४)** इस एकत्व या तल्लीन समष्टि रूप को 'सम्राज' शब्द से व्यक्त करने की प्रथा उपनिषद् में भी मिलती है :—**सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्ययं ब्रह्मलोकः सम्राडिति** (वृ० ४, ३, ३२) ।

इन सब बातों को मिलाने से मनु विश्वेदेवा की 'सायुज्य समष्टि' की उपासना द्वारा 'तल्लीन-समष्टि या अद्वैत एक, ब्रह्म या सम्राज रूप' तक पहुँचने का मार्ग बतलाने वाले प्रतीत होते हैं। कामायनी में अन्तिम लक्ष्य 'अद्वैत' सत्ता ही है :—

मैं की मेरी चेतनता,
सब को स्पर्श कियेसी।

मानस के मधुर मिलन में,
गहरे गहरे धसती सी।

*　　　　*

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अंबु-निधि शोभन ।

परन्तु यह अद्वैतवाद सीधे वेदों से न आकर शैवागम से आया है, जैसा कि 'त्रिपुर', 'नर्तित नटेश' तथा 'शक्ति शरीरी' आदि के प्रयोग से स्पष्ट है। वेदान्त के अद्वैतवाद से साधारणतः इसका भिन्न होना निश्चित ही है।

अस्तु, यहाँ अभिप्रेत इतना ही है कि कामायनी के मनु की भाँति वैदिक मनु का कल्याण-मार्ग भी 'अद्वैत' सत्ता की ओर ले जाने वाला है। वेद में इसकी सिद्धि कराने वाले विश्वेदेवा की उपासना कामायनी के 'तपस्वी मनु' में दिखाई ही जा चुकी है।

श्रद्धा

मनु के कल्याणपथ की वास्तविक प्रदर्शिका श्रद्धा है, वही सद्गुरु की भाँति उसे वहाँ तक ले जाती है। श्रद्धा वास्तव में मनु की तीनों अवस्थाओं (ऋषि, प्रजापति, पथ-प्रदर्शक) को मिलाने वाली है। हृदय की बाह्य 'अनुकृति' सी 'उदार' वह सुन्दरी तपस्वी मनु से निःसंकोच पूछने लगती है :—

कौन तुम ? संसृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक ।

मनु को वह 'हृदय के कोमल' कवि की कांत कल्पना की लघु लहरी की भाँति मानसिक हलचल को शान्त करने वाली प्रतीत होती है (५८,२) 'ललित कला का ज्ञान' प्राप्त करने का उसे उत्साह है (५९,१) और 'हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' वह खोजना चाहती है (५९,२)। जीवन से निराश, जगत की वेदनाओं से घबड़ाये हुए और कर्मक्षेत्र से विरक्त मनु की उस आशा-मूर्ति की कैसी यथार्थ फटकार है :—

दुःख के डर से तुम अज्ञान,
जटिलताओं का कर अनुमान,

काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत से बनकर अनजान ।

मनु फिर भी जीवन को 'निरुपाय, निराशापूर्ण, सफलता का कल्पित गेह' ही समझता है । अतः वह उसको उपदेश देती है कि 'तप नहीं, केवल जीवन सत्य' है (६९,२) 'तुम असहाय अकेले कैसे यजन कर सकते थे ? तुच्छ विचार ! तपस्वी आकर्षण से हीन होकर तुम आत्मा-विस्तार न कर सके ।'

आशा, उत्साह तथा जीवन-प्रेम जो इस नारी के व्यक्तित्व में झलकते हैं, सम्भवतः उसने पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाये हैं, क्योंकि उनके माता-पिता काम और रति हैं :—

हम दोनों की सन्तान वही,
कितनी सुन्दर भोली भाली ।
रंगों ने जिनसे खेला हो,
ऐसे फूलों की वह डाली ।

'काम' देवों का सहचर, उनके चित्त-विनोद का साधन, हँसने तथा हँसाने वाला (७९,५) और रति 'अनादि वासना', आकर्षण बनकर हँसने वाली (८०, ५)—ये दोनों आकांक्षा-तृप्ति के समन्वय रूप (८२,१) उसको उत्पन्न करने वाले थे—

मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनन्द समन्वय होता था,
हम ले चलते पथ पर उनको ।

वह आदर्श सन्तति है, अपने पिता की प्यारी सन्तान है (५९,१); माता-पिता के प्रति उसे श्रद्धा है ; उनको उस पर गर्व है और वे उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते :—

जड़ चेतनता की गाँठ वही
सुलझन है भूल सुधारों की,
वह शीतलता है शान्तिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की ।

यहाँ तक कि काम मनु से कहता है कि यदि 'उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो' । यह उसकी गर्वोक्ति ठीक भी है, क्योंकि श्रद्धा का आदर्श बहुत ऊँचा है और वह अपना निज का सन्देश रखती है :—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला,
उसका सन्देश सुनाने को,
संसृति में आई वह अमला ।

सम्भवतः इसी आदर्श का प्रचार करने के लिए ही उसने मनु को आत्म-समर्पण किया ; दया, माया, ममता, मधुरिमा तथा अगाध विश्वास से भरा हुआ अपना 'हृदय-रत्न-निधि' खोल दिया (६४, ५, ६५, १-२) और उसे शक्तिशाली तथा विजयी बनने के लिए जीवन की ओर अग्रसर किया (६४, ४); परन्तु इन्द्रिय-लोलुप, नारी को वासना-तृप्ति का साधन-मात्र समझने वाला तथा पत्नी को जड़ वस्तु की भाँति स्वार्थ-साधन के लिए प्रयुक्त करने वाला मनु उस समय उसके जड़ शरीर को ही पा सका ; उसके हृदय तथा 'हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य' वाला सन्देश तब तक उसे नहीं मिला जब तक इडा के बुद्धिवादी सुखवाद की कटुतामय वेदना का अनुभव उसे न हुआ ; भौतिकता से विरक्त होने पर ही वह श्रद्धा के स्वरूप को पहचान सका । तब वह अपने बुद्धिवाद की हीनता तथा श्रद्धा की महत्ता को स्वयं स्वीकार करता है :—

नहीं पासका हूँ मैं जैसे,
जो तुम देना चाह रही,
शुद्ध पात्र ! तुम उसमें कितनी,
मधु धारा हो डाल रही ।
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे,
हृदय हमारा भर न सका ।

और उसे रमणी रूप में न देखकर (२५६,२) सर्व-मंगला मातृ-रूप में देखता है (२५७,२) ।

श्रद्धा मग्रे, त्याग और तितिक्षा की प्रतिमा है। जिस पति ने उस गर्भिणी को अकेले असहायावस्था में छोड़ दिया था, जिसने उसके हृदय और आत्मा को ठुकरा दिया था, जिसने उसके आत्मसमर्पण और आत्म-त्याग को लात मारकर एक दूसरी स्त्री के यहाँ जाकर डेरा जमाया था, उसी की आपत्ति में वह सहायक होती है और हाथ पकड़कर सुख तथा शान्ति के मार्ग पर ले जाती है । उसका अणु-अणु भारतीय नारी का है । मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ पड़ती हैं—पहाड़ की चढ़ाई दुर्गम जलद-लोक से ऊपर, धरातल से बहुत दूर ऊँचे पर जाना है ।

प्रवल वात-चक्र से मनु घबड़ा उठता है और साहस छोड़कर लौटने का प्रस्ताव करता है (२६०,८-२), पर श्रद्धाधैर्य नहीं छोड़ती—

दे अवलम्ब विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली,
हम बढ़ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली ।

यही नहीं, उसके पति को उससे छीनने वाली इडा से भी वह ईर्ष्या नहीं करती ; उससे भी वह प्रेम का व्यवहार करती है, यहाँ तक कि अपने प्रियपुत्र 'मानव' को भी उसे दे डालती है और अन्त में अपनी साधना, लगन तथा सद्-वृत्ति द्वारा प्राप्त कल्याण-मार्ग पर भी उसे बुलाकर सच्ची शान्ति प्रदान करती है ।

अतः 'कामायनी' की श्रद्धा (१) काम की पुत्री, (२) मनु को आत्म-समर्पण करने वाली, उससे परित्यक्त होने पर भी उनकी प्रेमीपथ-प्रदर्शिका, (३) इडा के साथ बहनापा निभाने वाली, (४) तप के बदले जीवन पर जोर देने वाली तथा (५) हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को खोजने वाली ऋषिका है ।

वेदों में भी श्रद्धा का उल्लेख मिलता है । सायण द्वारा मान्य परम्परा, जिसको प्रसाद जी ने आधार माना है, श्रद्धा को काम-गोत्र से उत्पन्न होने वाली मानती है, परन्तु सायण ही की अपनी शाखा के तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वह काम की माता कही गयी है (**श्रद्धा कामस्य मातरं हविर्षा वर्द्धयामसि,** तै० ब्रा० २; ८, ८, ८) और उसके पिता का नाम सूर्य बतलाया जाता है (**श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता** श० १२,७,३,११) । मनु तथा श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में केवल शतपथ ब्राह्मण का '**श्रद्धादेवो वै मनुः**' (१,१) ही मिलता है, परन्तु भागवत पुराण में श्रद्धा मनु की पत्नी है, जिससे श्रद्धादेव मनु दश पुत्र उत्पन्न करते हैं (९, १, ११) ; अत :—

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञयापयामास भारत ।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान् ।

शतपथ ब्राह्मण के 'श्रद्धादेव' मनु का उद्धरण-सा यहाँ भी देखकर ऐसा मालूम होता है कि भागवत पुराण ने वैदिक परम्परागत श्रद्धा-कथा को ही लिया है । मनु-श्रद्धा के पति-पत्नी सम्बन्ध मान लेने पर भी श्रद्धा का मनु को आत्म-समर्पण, मनु द्वारा उसका परित्याग तथा श्रद्धा द्वारा मनु के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रसादजी की कल्पना को ही श्रेय देना पड़ेगा ।

अब रही श्रद्धा के ऋषित्व की बात । ऋग्वेद में १०,१५१ की श्रद्धा ऋषिका

मानी गयी है ; उसमें आने वाले **'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु'** के आधार पर 'हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य' को आदर्श मानने वाली कामायनी की काल्पनिक सृष्टि भी सम्भव है । 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' के सिद्धान्त में अभिप्रेत जीवन का उदार तथा सक्रिय दृष्टि-कोण श्रद्धा-सूक्त में आने वाले अग्न्याधान, हवन, विभाजन के देवता भग, दान तथा यजन आदि बातों से श्रद्धा का सम्बन्ध निस्संदेह वैदिक प्रतीत होता है :—

> **श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।**
> **श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥**
> **प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः**
> **प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥**

परन्तु इडा और श्रद्धा के पारस्परिक वहनापे के सम्बन्ध में केवल शतपथ ब्राह्मण (११, २, ७, २०) दोनों की एक-रूपता की ओर संकेत करता हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है । इसी आधार पर सम्भवतः प्रसादजी ने श्रद्धा की इडा के प्रति उदारता तथा इडा श्रद्धा के सामने नतमस्तक होने की कल्पना की है । आध्यात्मिक रूपक के लिए इडा श्रद्धा का यह सम्बन्ध निस्सन्देह आवश्यक था ।

यम-यमी

मनु-श्रद्धा-कथा का स्वरूप प्रसादजी ने लिया है वह हमें उसके एक दूसरे वैदिक संस्करण से सहज ही प्राप्त हो जाता है । वह संस्करण हमें यम-यमी कथा में मिलता है । परन्तु 'कामायनी' की कथा से इसकी तुलना करने के पूर्व दोनों वैदिक संस्करणों की तुलना कर लेना आवश्यक है ।

सादृश्य

मनु	यम
(१) विवस्वान् के पुत्र हैं । (अ० वे० ८, १०, १४; ३, ३१, ५; १८, १, ५३; श० १, ५, १, ७, तु० क० ऋ० ८, ५२, १; नि० १२, १० वृ० दे० ७,७)	(१) विवस्वान् के पुत्र हैं । (ऋ० १०, १४, १, १०, १७, २; ५, ४७५; मि० १२, १०, वृ० दे० ७,७)
(२) मनु ऋषि है (ऋ० ८, २७-३१) उनके वंशज मानव हैं (ऋ० १०; १०, ६, १-६२)	(२) यम ऋषि हैं (ऋ० १०, १०) और यामायन भी (१०, १३-१८; १३५)

(३) प्रथम यज्ञकर्ता हैं (ऋ० १०, ६३, ७, श० १, ५, १, ७, तु० ऋ० १, ४४, ११)	(३) प्रथम यज्ञकर्त्ता हैं (ऋ०९, ६८, ५, ५; १०, १५, ४)
(४) प्रथम स्वस्ति-मार्ग प्राप्त करने वाले हैं (दे० ऊपर) जिसको मनुष्य आदर्श समझते हैं (दे० ऊपर)	(४) प्रथम स्वर्ग के मार्ग (गातु) जानने वाले हैं (१०, १४, १-२)
(५) मनुष्यों के पिता हैं (ऋ०१, ८०, १६, २, ३३; १३)	(५) मनुष्यों के पिता हैं (ऋ० १३५,१)
(६) प्रथम मनुष्य हैं (दे० ऊपर)	(६) प्रथम मनुष्य हैं (ऋ० १०,३)

(२) भेद

मनु	यम
(१) मनुष्यों के राजा हैं (श० १६, ४, ३, १ दे० ऊपर भी)	(१) मृत मनुष्यों (पितरों) के राजा हैं।
(२) सरण्यू देवी की प्रतिकृति सवर्णा देवी से जन्म है (नि० १२, १०; वृ० ७, ७)	(२) सरण्यू देवी का पुत्र
(३) * * *	(३) प्रजा, देव तथा ऋषि के लिए स्वर्ग को मार्ग ढूँढने में अपने प्रिय शरीर को बलिदान कर देते हैं (ऋ० १०, १३, ४; ५, १४, १; १५; ४)
(४) मनु का सम्बन्ध सूर्य पुत्री श्रद्धा से है, जिसे वेद में तो नहीं परन्तु पुराण में अवश्य पत्नी कहा गया है (दे० ऊपर)	(४) यम का सम्बन्ध विवस्वान् (सूर्य दे० A. Knhn; Spiegel Die Arische Periode, 248 Hillebrandt, Vedic Myth 1, 488, Hopkins Religions of India 128, 130, तु० क० Roth P.W. ZOMG, 4. 425) की पुत्री यमी से हैं, जो यम से पति बनने के लिए प्रस्ताव करती है परन्तु यम स्वीकार नहीं करता (ऋ० १०,१०)
(५) * * *	(५) यम को मार्ग दिखलाने

	वाली यमी है— (ऋ० १०, १५४)
(६) * * *	(६) यम के मरने पर यमी उसके पास बैठी शोक करती हुई देखी जाती है। (का० स० ७, १०)

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि मनु और यम प्रायः सभी प्रधान बातों में मिलते हैं। जो छः भेद ऊपर गिनाये गये हैं, उनमें से प्रथम तीन का तो यम से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और शेष तीन का सीधा सम्बन्ध यमी से है। अतः इनको इन्हीं दो भागों में बाँटकर, इन पर विचार किया जावेगा।

यम-सम्बन्धी भेद

कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं, जिनसे यम का भी पहले मनु की भाँति मनुष्यों का ही राजा होना सिद्ध होता है। अवेस्ता में भी यम-यमी गाथा मिलती है। वहाँ भी वह विवस्वान् का ही पुत्र है (दे० Venidad. tr. Darmester D. 25) अहुरमज्द उसको बुलाता है और कहता है कि मेरे धर्म और नियम का प्रचार करो, अथवा रोग और मौत से पीड़ित मेरी प्रजा का भरण पोषण करो। यम पहले काम के लिए तो अपने को असमर्थ पाता है, परन्तु दूसरे के लिए स्वीकृति देते हुए कहता है, "हाँ मैं आपकी सृष्टि को बनाऊँगा. . .मैं आपके लोकों को उन्नत बनाऊँगा। हाँ मैं आपके लोकों का भरण-पोषण करूँगा। उन पर शासन करूँगा और उनकी देख-रेख रखूँगा। मेरे शासनकाल में न कोई रोग होगा और न मौत" (The venided tr. by Darmester II, 3)। यह प्रतिज्ञा पूरी होती है और प्रजा खूब फलती-फूलती है। प्रजा को कष्ट देने वाले ऐन्ग्र मन्यु तथा उसके साथी दैत्य हैं। यही अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित करते हैं। जब जाड़े की ऋतु आयी तो अहुरमज्द ने यम से कहा, 'तीनों प्रकार के पशुवन में रहने वाले, पर्वतों पर रहने वाले तथा घाटी की पशु-शालाओं में रहने वाले—नष्ट हो जायेंगे (The venided. der Darmester II. 3)। अतः अहुरमज्द की आज्ञा से वह एक बड़ा बाड़ा तैयार करता है जिसमें सभी पशु सुरक्षित रहते हैं। इसी प्रकार से ऐन्ग्र मन्यु के दल द्वारा उपस्थित की हुई अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए, यम प्रजा-पालन करता है। तीन बार 'ख्वरेन' नामक तेजपुञ्ज, जिस पर उनका जीवन निर्भर है निकल कर चलने लगता है, परन्तु प्रत्येक बार क्रमशः मिथ्र, थअएतन तथा केरेसस्य नाम के देवता उसे लौटा लाते हैं। तेजपुञ्ज के भागने में सम्भवतः ऐन्ग्र मन्यु के

घातक आक्रमणों का आभास मिलता है, जिनके प्रभाव मे ही अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है--मनुष्य जाति के लिए यम वलिदान हो जाता है--

अत: यम-कथा के इस अवेस्ता-संस्करण मे पता चलता है कि यम मनु की भाँति मनुष्यों का राजा था, जिसने देवों (तु० क० अहुरमज्द की आज्ञा) और मनुष्यों के लिए अपने शरीर को बलिदान कर दिया। इस प्रकार मनु और यम के भेद (१) और (२) का कुछ निराकरण हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि जब यम मनुष्यों का राजा था, तो वह पितरों का राजा कैसे हुआ ?

इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि परलोक इहलोक का अनुकरण-मात्र-सा प्रतीत होता है। अवेस्ता में पशुराज 'पवित्र बैल' मरकर स्वर्ग में पशुओं का राजा हो जाता है ओर दिवंगत पशु-आत्माओं का स्वागत करता है। वेद में भी कारीगर ऋभुओं के विषय में कहा जाता है कि वे मर्त्य होते हुए भी अमर हो गये। **(मर्ताः अन्तः अमृताः बभूवुः)** और उन्होंने इन्द्र तथा देवों का साथ प्राप्त कर लिया। यम-मनु मनुष्यों के पितर थे, मार्ग-दर्शक थे और सभी पितर देवता है (ऋ० १०, ५६, ४), मार्ग-दर्शन ऋषि है (ऋ० १०, १४, १५, तु० क० १,१,२), इत्यादि अत: एक सफल राजा तथा पथ-प्रदर्शक यम को स्वर्ग मे भी वही प्रधानता दे देना पूर्णतया स्वाभाविक है।

मनु तथा यम के व्यक्तियों का पृथक्करण भी अब सम्भवत: समझा जा सकता है। अवेस्ता में अहुरमज्द ने यम के सामने जो वैकल्पिक प्रस्ताव रक्खे, वे धर्म-प्रचार तथा प्रजा-पालन हैं। यदि भारतीय मनु तथा यम को मिलाया जाय तो दोनों ये ही बाते मनु-यम कथा में समाविष्ट हो जायेंगी--(१) मनुस्मृति आदि द्वारा धर्म-प्रचार तथा कर्तव्य-शिक्षा तथा (२) प्रजापित या विशपति मनु द्वारा प्रजापालन और उसके अनुकरण पर यम द्वारा परलोक शासन ये दोनों बातें यहाँ मिल जाती हैं। यम शब्द 'यम उपरमे' से निकला अत: उसका अर्थ ही है जीवन से उपराम हुआ व्यक्ति। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि 'यम' शब्द पहले विशेषण रूप में प्रयुक्त होकर दिवंगत मनु का द्योतक रहा होगा पीछे विशेषण से बदलकर संज्ञा बन बैठा होगा और मनु से भिन्न किसी देवता का नाम होगया होगा।

इस पृथक्करण पर भेद (२) टिका हुआ है। जब मनु और यम पृथक होगये, तो उनकी मातायें भी भिन्न होनी चाहिये, अत: यह गाथा गढ़ी गयी कि जब यम की माता सरण्यू चली गयी तो वह अपनी प्रतिकृति बनाकर अपने पति विवस्वान् के आश्रम में ही छोड़ती गयी, जिससे उन्होंने मनु पैदा किये। ध्यान देने की बात है कि यहाँ माता भी यथार्थ में भिन्न नहीं है। इस गाथा का उल्लेख भी वैदिक ग्रन्थों में न मिलकर केवल बृहद्देवता तथा निरुक्त में ही मिलता है।

यमी सम्बन्धी भेद

मनु और यम की कथाओं में यमी-सम्बन्धी तीन भेदों में से पहला ही यथार्थ में भेद है, शेष दो तो ऐसी बातें हैं जो यम कथा में हैं, परन्तु मनु-कथा में नहीं पाई जाती। जैसा ऊपर कहा जा चुका है भेद (४) की श्रद्धा और यमी दोनों ही सूर्य की पुत्री हैं। पुराणों में श्रद्धा को मनु (यम) की पत्नी कह दिया है, उसी के आधार पर प्रसादजी ने श्रद्धा को पत्नी के रूप में पथ-प्रदर्शिका माना है।

ईरानी पुराण-शास्त्र (Mythology) में भी यम-यमी को भाई बहन मानते हुए भी पति-पत्नी रूप में रक्खा है। इसका कारण यह था कि दोनों की सन्तानोत्पत्ति कराके सृष्टि-कार्य कराना था। परन्तु वेद में दोनों को भाई-बहन मानना ही अधिक ठीक समझा गया, क्योंकि यमी को यम की पथ-प्रदर्शिका बनना था, जो रमणी रूप-प्रधान पत्नी से नहीं हो सकता था। यही कठिनाई प्रसादजी को पड़ी थी; इसीलिये उन्होंने अन्त में मनु को श्रद्धा में 'रमणी' रूप के स्थान पर 'मातृ-रूप' के दर्शन कराये हैं—

बोले रमणी' तुम नहीं।" (२५६, १)

* * *

तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति है निर्विकार (२५७-५)

परन्तु ईरानी परम्परा की अपेक्षा, भारतीय परम्परा तथा प्रसाद जी ने बहन को पत्नी न बनाकर सदा-चार की दृष्टि से अधिक स्तुत्य कार्य किया है।

यथार्थ में यमी यम की बहन ही है, और सम्भवतः कभी उसकी पत्नी नहीं बनी; क्योंकि वैदिक पथ-प्रदर्शिका यमी के व्यक्तित्व में जो आदर्श दिखलाई पड़ता है वह उस वासना के साथ नहीं पनप सकता जो भाई-बहन में पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित करना चाहें। यमी यम को उन तपस्वी देवों, ऋषियों और कवियों का अनुसरण करने को कहती है जो अन्य गुणों के साथ साथ सदाचार (ऋत) तथा तप वाले हों और जो सदाचार (ऋत) की वृद्धि भी करते हों—

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावन ऋतावृधः
पितृन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात्
(ऋ० वे० १४४ और आगे)

यमी के इन वचनों में उसका जो रूप झलकता है क्या वह श्रद्धा के उस रूप से कम है, जिसके कारण मनु उसमें मातृ-मूर्ति के दर्शन करता है :—

कुछ उन्नत थे वे शैलशिखर;
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर;
वह लोक अग्नि में तप गलकर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बन कर;
मनु ने देखा कितना विचित्र,
वह मातृ रूप थी विश्वमित्र।

इसी प्रकार यमी जहाँ यम को ले जाना चाहती है वह भी उस कैलाश या अद्वैत सत्ता के ज्योतिर्मय ब्रह्म लोक से कम नहीं है, जो प्रसाद जी ने शैवागम के आधार पर चित्रित किया है अथवा जिसको मनु द्वारा स्वस्ति-मार्ग का गन्तव्य 'सम्राज' का धाम कहा गया है। यमी यम को जहाँ ले जाना चाहती है वह स्वः है, ज्योतिर्मय सूर्य है, जिसमें 'कवि' लोग लीन हो जाते हैं और जिसे वे किरणों की भाँति छिपाये हुये हैं या रक्षित किये हुये हैं, जो सोम, घृत, मधु (संभवतः सुख के प्रतीक) के स्रोत हैं, और जहाँ अनेक प्रकार के सत्कर्म करने वाले पहुँचते हैं :—

ऋ० १०, १५,१, ऋषि यमी

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥१॥
तपसा ये अनाधृष्यातपसा ये स्वर्ययुः
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥२॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥३॥
ये चित्पूर्वे ऋतसाप ऋतावान् ऋतावृधः
पितृन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्
सहस्रणीथा कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजां वि अपि गच्छतात् ॥५॥

यम की मृत्यु के समय वैदिक यमी का जो रूप दिखलाई पड़ता है, उससे कुछ विचित्र बातें मालूम पड़ती हैं। काठकसंहिता उस दृश्य का वर्णन इस प्रकार करती है :—

अहर्वावासीन्न रात्री। सा यमी भ्रातरं मृतं नामृष्यत। तां यद पृच्छन् 'यम क्वाह ते भ्राता मृतेस्यद्येत्येवाब्रवीततति देवा अब्रुवन्नन्त नेधामिदं। रात्रि करवायेति। ते रात्रीमकुर्वस्ते रात्रयां पशून्नापश्यत्। सावैन्त वै पश्यन्तीति। सा न व्यौच्छ-देरल्कस्यत पशुषुतान् देवा इच्छन्तः पल्यायन्त। वाश्छन्दोभिस्व पश्यस्तस्माच्छ-

च्छन्दोभिर्नक्तमग्निरूपस्थेयः पशूनामनुशाक्त्यै...सावेदनु वा अख्यन्निति।...
देवा वा अह्नो रक्षांसि निरघ्नस्तानि रात्रीं प्राविशस्तां देवा न ज्येतुमधृष्णुवस्त
इन्द्रमब्रुवस्त्वं वै ओजिष्ठोऽसि त्वममित्रां वीहीतिस्तुतमेत्यब्रवीत् नास्तुतो वीर्यं
कर्तुसदीमिति। तेऽस्तुवन्नेष तेऽग्निर्वेदिष्ठ स त्वा स्तौत्विति तमग्निरस्तौत्।
स स्तुतस्सस्सर्वा मृधः। (७-१०)

इस वर्णन से दो बातें ज्ञात होती हैं (१) यम की मृत्यु देव और असुरों के युद्ध की एक घटना है (२) यम की मृत्यु के पश्चात् यमी उसके निकट थी।

इन्हीं दोनों बातों के आधार पर सम्भवतः कामायनी के मुमुर्ष मनु के निकट श्रद्धा के आने तथा उसको सान्त्वना देने की कल्पना हुई है—जिस युद्ध में मनु घायल होते हैं, वह यदि असुरों से नहीं तो किलाताकुली नामक असुर पुरोहितों के नेतृत्व में लड़ने वाली प्रजा से तो अवश्य ही है (मरण पर्व था, नेता आकुलि और किलात थे २०९, १)। मनु मरते नहीं, पर मरणासन्न अवश्य हो जाते हैं (गिरी मनु पर मुमुर्ष वे गिरे वहीं पर २१०, ३); श्रद्धा भी यमी की भाँति मनु के पास पहुँचकर उसको सहलाती हुई दिखलाई पड़ती है:—

इडा चकित श्रद्धा आ बैठी
वह थी मनु को सहलाती।
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था,
व्यथा भला क्यों रह जाती ?
उस मूर्च्छित नीरवता में कुछ,
हलके से स्पन्दन आये।
आँखें खुलीं चार कोनों में
चार बिन्दु आकर छाये।

दोनों वर्णनों में अन्तर है तो केवल इतना कि श्रद्धा के मनु मृत्यु से बच जाते हैं, यमी के यम का पुनर्जीवित होने का उल्लेख नहीं मिलता, जब तक कि स्वर्ग में पितरों पर राज्य करते हुए यम के जीवन को पुनर्जीवन न मानें।

कुमार

यम-यमी कथा में मनु के कुमार का भी आधार ढूँढा जा सकता है। मनु और श्रद्धा से जो पुत्र उत्पन्न होता है, श्रद्धा उसे सहर्ष इडा को दे डालती है:—

मैं लोक अग्नि में तप नितान्त,
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।
तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती थी दाह रही।

तो ले ले निधि जो पास रही
मुझको बस अपनी राह रही ।
रह सौम्य ! यहीं; हो सुखद प्रान्त
विनिमय करदे कर कर्म कान्त ।

इसी घटना की झलक सम्भवत: निम्नलिखित वैदिक उद्धरण में भी मिलती है जिसमें कुमार 'अनुदेयी' हो जाता है:—

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।
कः स्वित्तदद्य: नो ब्रूयादनुदेयीयथाभवत्
यथा भवननुदेयी ततो अग्रमजायत ।
पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ।
(१०, १३५, ४-५)

(४) जल-प्लावन

जल-प्लावन एक महत्वपूर्ण घटना है, जिससे वैदिक मनु-यम कथा पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यम और यमी के प्रथम मिलने के समय जिस अर्णव का उल्लेख मिलता है, वह सम्भवत: 'जलप्लावन' का ही संकेत करता है (**ओ चित्सखायं सख्यावबृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगौ,** ऋ० १०, १०) क्योंकि 'अर्णव' शब्द का प्रयोग साधारण 'सागर' या जलराशि की अपेक्षा क्षुब्ध जलनिधि के लिये ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मनु से तो जलप्लावन की घटना का सम्बन्ध स्पष्ट और निश्चित ही है। बड़ी भारी बाढ़ आती है, चारों ओर जल-ही-जल हो जाता है, सब डूब जाते हैं; मनु अपनी नौका पर बैठे मृत्यु की घड़ियाँ गिनते ही थे कि एक मत्स्य के सहारे से वे पार हो जाते हैं :—

तस्य (मनोः) अवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीऽआपेदे। स सास्यै वाचमुवाच। विभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघः इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति (श० १, ८, १, १-२)

प्रसादजी ने कल्पना का सहारा लेकर इसी घटना का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। गगन-चुम्बी लहरों का उठना, असंख्य चपलाओं का चमकना, महा घन-गर्जन, वर्षा की झड़ी, भयानक आँधी और इन सब के परिणाम-स्वरूप घोर विनाश की विभीषिका (पृ० २४-२५) यही उस जलप्लावन का वर्णन है। न मालूम कितने दिनों तक यह प्रकृति की संहार-क्रिया चलती रही, अन्त में मत्स्य द्वारा मनु का उद्धार हुआ :—

प्रहर दिवस कितने बीते, अब,
इसको कौन बता सकता ।

इनके सूचक उपकारों का
चिन्ह न कोई पा सकता।

* * *

काला शासन-चक्र मृत्यु का,
कब तक चला न स्मरण रहा।
महा मत्स्य का एक चपेटा,
दीन पोत का मरण रहा।

* * *

किन्तु उसी ने ला टकराया
इस उत्तरगिरि के शिर से।
देवसृष्टि का ध्वंस अचानक,
श्वास लगा लेने फिर से।

कामायनी मे उल्लिखित इस उत्तरगिरि का उल्लेख भी शतपथ ब्राह्मण में आया है। कहा जाता है कि मनु ने अपनी नाव को इसी गिरि के पास एक वृक्ष से बाँधा और यहीं वे बाढ़ से पार हुए थे, इसीलिये उत्तरगिरि को (मनोरवसर्पणम्) कहते हैः—

'अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तंतु त्वा मागिरौ सन्तमुदकमत्तव-कैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात् तावत् तावदन्वव सर्पपि इति सह तावत् तावदेवान्ववससर्प। तदप्येतदुत्तरस्य.गरेर्मनोरव सर्पणमिति (वही)

मनु की इस नाव का वर्णन प्रसादजी ने भी किया हैः—

एक नाव थी और न उसमें,
डाँडे लगते या पतवार।
तरल तरंगों से उठ गिरकर,
बहती पगली बारम्बार।

यही नाव जल-प्लावन के समाप्त होने पर महावट से बँधी हुई दिखाई पड़ती हैः—

बँधी महा-वट से नौका थी,
सूखे में अब पड़ी रही।
उतर चला था वह जल-प्लावन,
और निकलने लगी मही।

काव्य और महाकाव्य

(क) कवि और काव्य

(१) कवि

कवि काव्य का मूल है और काव्य कवि की आत्माभिव्यक्ति । श्रीमद्भगवद्-गीता* में 'कवि' शब्द का प्रयोग आत्मा के सूक्ष्मतम तथा अमूर्ततम रूप के लिये हुआ है :—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

आत्मा के इस विश्व विधातृ, अणोरणीयान्, अचिन्त्य तथा आदित्यवर्ण ज्योतिः-स्वरूप कवि-रूप को हम ऋग्वेद† में भी पाते है; और वहाँ भी उसके लिये 'कवि' शब्द का प्रयोग हुआ है :—

कविमिव प्रचेतसम् (८, ८४, २, सा० वे० १२४५)
कविं केतुं धासि भानुमग्रे (७, ६, २)
कविं कवित्वा दिवि रूपमास (१०, १२४, ७)
कविं शशासुः कवयो दब्धा (४, २, १२)

आत्मा कवि का यह रूप तो निर्विकल्पक समाधि में ही मिल सकता है । व्यावहारिक जगत में तो, इस परम अद्वैत सत्ता के दो रूप दिखाई पड़ते हैं—एक अमृत रूप है, जो मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि की चैतन्य-शक्ति में निहित है, दूसरा मर्त्य रूप है, जो लोम-त्वक्, माँस, अस्थि तथा मज्जा आदि में मूर्तिमान् है:—

"तदतो वाऽस्य ता पञ्च मर्त्यास्तन्व आस लोम त्वङ्मांसमस्थिमज्जाथैता अमृता मनो वाक् प्राणश्चक्षुश्रोत्रम् ।" ‡

स्पष्टतः ये दोनों रूप एक दूसरे के विपरीत हैं । एक अमृत, अमूर्त तथा अनिरुक्त है, तो दूसरा मर्त्य, मूर्त एवं निरुक्त, एक अँखियारा है, तो दूसरा अन्धा; एक लँगड़ा है तो दूसरा पैरों वाला; एक पुरुष है तो दूसरा स्त्री [1]। इन दोनों के इस पारस्परिक विपर्य्यय को दोनों के परस्पर विरोधी नाम भी सूचित करते

* ८, ९ तु० क० मनु० ४, २४ ।
† विशेष विस्तार के लिये, देखिये लेखक का 'वैदिक दर्शन'
‡ श० ब्रा० १०, १, ३, ४ तु० क० ऐ० ३०१, २ अनु० ।
१ सां० का० ११ तथा २१ ।

हैं। अतः पहले का नाम 'कवि' है, जिसकी मूल में 'कव्' धातु है, जब कि दूसरे का नाम 'वाक्' है, जिसकी निष्पत्ति न केवल 'वच्' से सम्भव है अपितु वक्वा, वक्वरी, वाक् आदि वैदिक शब्दों की 'वक्' धातु से भी हो सकती है। एक को 'पश्य'[1] कहते हैं, क्योंकि उसके निष्क्रिय कर्म को 'पश' (देखना है) धातु से व्यक्त किया जाता है; और दूसरे को 'शब्द' भी कहते हैं, क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति न केवल 'शब्द-क्रियायाम्' से, अपितु 'पश्' के विलोम 'शप् आक्रोशे' से भी हो सकती है।

इन दोनों स्वरूपों के विपर्य्यय में पार्थक्य अथवा विरोध देखना भूल होगी, क्योंकि वे एक ही आत्मा के दो पक्ष हैं, जिनमें से एक दूसरे का पूरक है—एक धनात्मा है, तो दूसरा ऋणात्मा; एक शक्तिमान् है तो दूसरा शक्ति। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है, एक दूसरे के विना नहीं रह सकता:—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव॥[2]

वेद में आत्मा के धन तथा ऋण रूपों के अभेद तथा भेद दोनों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि[3] वे दोनों संयुक्त सुपर्ण सखा हैं, जो एक ही वृक्ष पर परस्पर परिष्वजन कर रहे हैं; उनमें से एक स्वादु फलों को चखता है, जबकि दूसरा केवल देखता है, खाता नहीं:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षा परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति

परन्तु यह रूप-द्वन्द्व स्थूल जगत् में ही है; और यहाँ भी ये दोनों ऐसे घुले-मिले हुए है कि एक ही दिखाई पड़ता है। अतः लोग शक्ति को ही शक्तिमान्, वाक् को ही कवि अथवा स्त्री को ही पुरुष समझ बैठते है; उनके यथार्थ विवेचन में तो ज्ञानी ही समर्थ हो सकता है—

स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः[4]।
पश्यदक्षण्वान्न चेतदन्धः।

वास्तव में, जैसा कि सांख्य ग्रन्थों में कहा गया है, स्त्री (प्रकृति) पुरुष के चारों ओर ऐसा जाल बिछा देती है कि वह अपने को पूर्णतया भूल जाता है और

---

१ **न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोतं दुखतां**
सर्वः पश्यः पश्यति सर्वथाप्नोति सर्वशः (छा० उ० ७, २५, १)

२ **अभिनवगुप्त परा० त्रि० १, १।**

३ **ऋ० वे० १, १६४, २० और अन्यत्र भी।**

४ **ऋ० वे० १, १६४, १६।**

प्रकृति को ही आत्मरूप समझने लगता है। ऋग्वेद में इसी बात को बतलाते हुए कहा गया है कि इस प्रकार के भ्रान्ति-पूर्ण ज्ञान को रखने वाला पुत्र 'कवि' है; और इसको सविशेष जानने वाला तो 'पिता' का भी पिता है:—

कविर्य पुत्र स ईमाचिकेत
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत ॥ (ऋ० वे० १, १६४, १६)

यह 'पिता का पिता' आत्मा का वही शुद्ध, बुद्ध और चित् स्वरूप है, जिसमें उक्त सारा द्वंद्व, द्वैत अथवा अनेकत्व विलीन हो जाता है—न वहाँ शक्ति (वाक्) रहती है, न उसका वह पुत्र (कवि); वे न जाने कहाँ समा जाते हैं और न मालूम कहाँ से वह उत्पन्न हो जाता है:—

अवः-परेण पर एनावरेण पदा वत्संबिभ्रतीगोरुदस्थात्
सा कद्रीची कं स्विदर्ध परागात् क स्वित् सूते नहिं यूथे अन्तः।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पिता कवि वही अद्वैत तथा अमूर्त आत्मा अथवा ब्रह्म है, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में उद्धृत वेदमंत्रों तथा श्रीमद्-भगवद्गीता के 'कविं पुराणम्' आदि में मिलता है इसी कवि का मूर्तरूप दूसरा 'कवि' है जो 'वाक्' के साथ व्यावहारिक जगत् में द्वैत सत्ता के रूप में रहता है। पहला अव्यक्त है तो दूसरा व्यक्त; दूसरा पहले का 'संप्रसरण' मात्र है। अतः पहले 'कवि' की व्युत्पत्ति 'कु' धातु से मानी जाती है, और दूसरे की 'कु' की 'संप्रसरण' कव् धातु से[1]। दोनों कवियों के स्वरूपों में जिस प्रकार भिन्नता है उसी प्रकार दोनों की धातुओं के अर्थों में भी 'कु' का प्रयोग 'शब्द' के लिये होता[2] है, जिसका अर्थ इस प्रसंग में श्रोत्रग्राह्य स्वन या ध्वनि न होकर शब्द-ब्रह्म अथवा शब्दस्फोट आदि की कल्पना में उपलब्ध 'मूल अभिव्यक्ति' है; 'कव्' का प्रयोग 'वर्ण' अर्थ में होता है, जिससे रंग, रूप, वर्णन आदि की मूर्त अभिव्यक्ति होती है[3]। पहला दूसरे से पृथक नहीं है; परन्तु वह मूल तथा अमूर्त है, जबकि दूसरा उसका मूर्त 'संप्रसरण'। पहला कवि अद्वैत तथा निष्कल है, जबकि दूसरा द्वैत, वाक् (शक्ति) से संयुक्त। व्यावहारिक जग में दूसरे का अस्तित्व ध्रुव सत्य है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पहला ही एक मात्र सत् है।

(२) रस क्या है ?

यह आत्मा अथवा कवि ही 'रस' है; यही सब का आनन्द है; यही सब का प्राण है; विना इसके भला कौन रह सकता है:—

---

१ देखिये उण० ४, १३८।

२ पा धा० पा० १, ९८९; २, ३३; ६, १०८।

३ पा० धा० पा० १, ४०५; देखिये आप्टे सं० डि०।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदैष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति ॥ (तै० उ० २०७)

इस 'रस' से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसका कुछ अनुमान कराने के लिये तैत्तिरीय उपनिषद ने निम्नलिखित प्रयत्न किया है:—

बुद्धि तथा वित्त	=एक मानुष आनन्द ।
१०० मा० आ०	=एक मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द ।
१०० म० गं० आ०	=एक पितरों का आनन्द ।
१०० पितरों का०	= १ आजानजा देवताओं का आनन्द ।
१०० आ० दे० आ०	=१ कर्म देवों का आनन्द ।
१०० क० दे० आ०	=१ देवो का आनन्द ।
१०० दे० आ०	= १ इन्द्र का आनन्द ।
१०० इ० आ०	=१ बृहस्पति का आनन्द ।
१०० बृ० आ०	= १ प्रजापति का आनन्द ।
१०० प्र० आ०	=१ ब्रह्म का आनन्द ।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि ब्रह्मानन्द ही वास्तविक 'रस' है। ब्रह्म तो आनन्द-स्वरूप है; इसीलिये अथर्ववेद में उसे अकाम, अमृत, स्वयभू तथा 'रस मे तृप्त' यक्ष कहा गया है, जिसको जान लेने से फिर मृत्यु का भय नही रहता[1]। वहाँ द्वैत-भाव जाता रहता है और केवल एकत्व की अनुभूति होने से मोह, शोक आदि का प्रपञ्च शात हो जाता है[2] और आनन्द मात्र रह जाता है। इस रस-स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये भटकने की आवश्यकता नही, क्योंकि वह यक्ष तो हमारी "**अष्टचक्रा, नवद्वारा, देवपुरी अयोध्या**" (शरीर) मे ही ज्योतिर्मण्डित हिरण्ययकोश अथवा '**अपराजिता हिरण्ययी पुरी**' में विराजमान् रहता[3] है:—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः ज्योतिषावृतः ।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरिवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ।

---

१ अथ० वे० १०, ८, ४३-४४ ।

२ य० वे० ४०, ७-८ ।

३ अ० वे० १०, २, ३१-३३ ।

यही यक्ष (ब्रह्म) हमारे भावों, विचारों आदि का स्रोत है क्योंकि इसी में हमारे शरीर का हृदय-तत्व तथा मूर्धा-तत्व[१] अनुस्यूत है और यही उसको (हृदय और मूर्धा को) अपने प्रदेश से सर्वत्र प्रेरित करता है। अपने भीतर स्थित कस्तूरी की सुगंधि को जिस प्रकार मृग बाहर के पदार्थों में ढूँढता फिरता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने ही अन्तस्थ 'रस' की उपलब्धि के लिये बाह्य विषयों को टटोलता फिरता है। मनुष्य की उन्मत्त खोज में उसे कभी कुछ सुख मिल जाता है, परन्तु वह अज्ञान के कारण समझ लेता है कि मुझे यह रसकण अमुक विषय-भोग से प्राप्त हुआ है, जब कि वस्तुतः वह कण उसी 'रस-सिन्धु' ब्रह्म से ही टपक पड़ता है। परन्तु इन बिन्दुओं से प्यास बुझती नहीं, बढ़ती जाती है और प्राणी अन्धा होकर 'मृगतृष्णा' के पीछे भटकता फिरता है। यह एक विचित्र विडम्बना है कि सारे विश्व में वही आनन्द-ब्रह्म व्याप्त है, फिर भी हमें उसका एक घूँट भी नहीं मिल पाता—

जीवन बन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा, बहती ले अनुराग तुम्हारा
फिर भी प्यासा हृदय हमारा, व्यथा घूमती मतवाली है॥

* * *

एक घूँट का प्यासा जीवन, निरख रहा सबको भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन-कहाँ सजल वह हरियाली है॥

('प्रसाद' के 'एक घूँट' से)

(३) काव्य

हमारी इस विकराल अतृप्ति का कारण यह है कि हमारे स्थूल-भौतिक जगत् में, वह रस-स्वरूप ब्रह्म शुद्ध तथा आत्यन्तिक रूप में नहीं रह सकता, अपितु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यहाँ वह धन तथा ऋण, सरल तथा अ-रस, सुख तथा दुःख दोनों ही पक्षों में मिला है। हमारे व्यष्टि तथा समष्टि के जीवन में दोनों तत्व विद्यमान हैं, चाहे हम उन्हें ब्रह्म-माया या पुरुष-प्रकृति कहें अथवा शक्तिमान्-शक्ति या कवि वाक् कहें; यह बात निर्विवाद है कि यहाँ व्यावहारिक जगत् में इस जोड़े में से दूसरा तत्व ही प्रधान रहता है और **"स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः'** का वेद-वाक्य चरितार्थ करता है। अतः शरीरधारियों की जो भी अभिव्यक्ति होगी, वह साधारणतया शक्ति-तत्वव या 'वाक्' रूप में ही होगी।

---

१ मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयन् पवमानोधि शीर्षतः॥
(ऋ० वे० १०, १, २६)

वाक्-रूप अभिव्यक्ति को 'वाक्य' कहा जायगा और इसमें -केवल शुद्ध वाक्य में- 'रस' नहीं होगा । परन्तु, शक्ति तथा शक्तिमान् अथवा कवि तथा वाक् का अविनाभाव सम्बन्ध होने से कोई भी अभिव्यक्ति कोरी 'वाक्य' रूप नहीं हो सकती, उसके भीतर प्रच्छन्न रूप में 'कवि' तो रहेगा ही । अतः 'वाक्य' यदि अपने में 'कवि' का गुप्त से प्रकट, अनिरुक्त से निरुक्त कर सके तो वही 'कवि' की अभिव्यक्ति या 'काव्य' कहा जा सकता है, क्योंकि कवि स्वयं बिना वाक् के तो मूर्त या व्यक्त हो ही नहीं सकता । 'कवि' को व्यक्त करने का अभिप्राय है रस के उत्स को खोल देना; अतः 'वाक्य' में जितनी पुट रस की आती जायगी, उतना ही वह 'काव्य' कहलाने का अधिकारी होता जायगा । उसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'वाक्य' जितना ही अधिक 'काव्य' रूप होगा अपने में 'कवि' को प्रत्यक्ष करेगा, उतना ही वह 'रसात्मक' होता जायेगा। इसीलिये साहित्य दर्पणकार की परम्परा में रसात्मक 'वाक्य' को ही काव्य माना गया है ।

काव्य के इस स्वरूप के अन्तर्गत सभी प्रकार की रसात्मक अभिव्यक्तियाँ आजाती हैं। वस्तु, मूर्ति तथा चित्र जैसी स्थूल कलाओं से लेकर संगीत तथा कविता जैसी सभी कलायें रसात्मक अभिव्यक्तियाँ होने से 'काव्य' हैं। यही कारण है कि प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ श्री रायकृष्णदासजी ने साहित्यदर्पण तथा रस गंगाधर की काव्य-परिभाषाओं को कला-मात्र के लिये उपयुक्त पाया । उनका कहना है कि— काव्य की जो परिभाषा अपने यहाँ है, उसे यदि व्यापक रूप में लगाइये, तो वह काव्य की परिभाषा नहीं रह जाती; चित्र, मूर्ति, कविता, संगीत आदि कलामात्र की परिभाषा बनाने के लिये, एकदेशीय रूप देकर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई है । अर्थात् काव्य की परिभाषा की पूर्ण व्याप्ति तभी होती है, जब हम **'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'** के स्थान पर **'कृतिरसात्मिका कला'** कहें या **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** के बदले **'रमणीयार्थप्रतिपादिका कृतिः कला'** । वस्तुतः हमने 'काव्य' तथा 'वाक्य' का जो रूप ऊपर निर्धारित किया है, उसको ध्यान में रखने पर, उक्त दोनों परिभाषाओं में बिना कोई शाब्दिक हेर-फेर किये ही 'रसात्मक' अथवा 'रमणीयार्थप्रतिपादक' वाक्य के अन्तर्गत सभी कलाओं को लिया जा सकता है। मेरा अपना अनुमान तो यह है कि उक्त दोनों परिभाषायें सम्भवतः उस काल से चली आ रही थीं जिस समय 'काव्य' तथा 'वाक्य' अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त होते थे; और साहित्यदर्पणकार तथा रस-गंगाधर ने केवल उनका पुनरुद्धार करके कविता में लागू किया । जैसा इन ग्रन्थों में भी किया जाता होगा । इसका सबसे अच्छा प्रमाण 'विष्णुधर्मोत्तरम्' नामक ग्रन्थ है, जहाँ एक से अधिक कलाओं में कविता के समान ही 'रसात्मकता' का उल्लेख किया गया है; यहाँ पर विभिन्न कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक उद्धरणों को 'विष्णुधर्मो-

त्तरम्' में से दिया जा रहा है.—

(१) नाट्य—श्रृंगार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव नाट्य-रसाः स्मृताः ॥

(२) गान— नव रसाः । तत्र हास्य-श्रृंगारयोर्मध्यम-पञ्चमौ । वीर-रौद्राद्भुतेषु षड्जपंचमौ । करुणे निषादगान्धारौ । बीभत्सभयानकयोर्धैवतम्, शान्ते मध्यमम् । तथा लयाः । हास्य श्रृंगारयोर्मध्यमा । बीभत्सभयानकयोर्विलम्बितम् । वीर रौद्राद्भुतेषु द्रुतम् ।

(३) नृत्त— रसेन भावेन समन्वितं च तालानुगं काव्यरसानुगं च
गीतानुगं नृत्त-मुशन्ति धन्यं सुखप्रदं धर्मविवर्धनञ्च ।

(४) चित्र— श्रृंगार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकाः
बीभत्साद्भुतशान्ताख्या नव चित्र रसा स्मृता ।

(५) मूर्ति— यथा चित्रे तथैवोक्तं खातपूर्व नराधिप !
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोहेषुकारयेत् ।

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परम्परा के अनुसार, नाट्य आदि कलाओं में भी रस का वही स्थान था जो कविता में । इन कलाओं को 'रसात्मक वाक्य' कहना उतना ही उपयुक्त है, जितना 'कविता' को । अतः इन सभी अभिव्यक्तियों को काव्य—रस-रूप कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति से युक्त 'वाक्य'—कहना अनुचित नही है ।

(४) काव्य-रस

अब प्रश्न होता है कि ऊपर 'रसो वै सः' कहकर जिस रस का उल्लेख किया गया है, क्या उनमें तथा काव्य रस में कोई अन्तर नहीं ? वास्तव मे इस प्रश्न का उत्तर काव्य के उक्त स्वरूप में ही निहित है। काव्य तो स्वभावतः अभिव्यक्ति है, जब कि वह रस-स्वरूप ब्रह्म (आत्मा) यथार्थतः अव्यक्त एवं कूटस्थ है; काव्य चक्षु, श्रोत, मन आदि से भोग्य है, जब कि वह इन सब से परे है और उसके विषय मे कहा गया है कि:—

यतो वाचि विनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनोनः । (तै० उ० २,९)

शक्तिमान् की अभिव्यक्ति शक्ति द्वारा होती है; आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर द्वारा होती है, 'कवि' 'वाक्य' द्वारा ही व्यक्त हो सकता है, क्योंकि अभिव्यक्ति मात्र स्थूल-जगत् की वस्तु है । अतः काव्य से वाक्यत्व, शरीरत्व अथवा स्थूलत्व का पूर्णाभाव कदापि नही हो सकता, क्योंकि उसके जाते ही व्यावहारिक

जगत् का द्वैतभाव ही चला जायेगा। अतः वाक्याश्रित काव्य का रस शुद्ध ब्रह्मानन्द 'रस' नहीं हो सकता। इसी से काव्य-रस को ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

ब्रह्मानन्द से काव्य-रस भिन्न होते हुए भी तत्त्वतः एक ही है, क्योंकि काव्य-रस यथार्थतः अव्यक्त 'रस' का ही व्यक्त रूप है। अतः इसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अव्यक्त की व्यक्तीकरणप्रणाली समझना परमावश्यक है।

अव्यक्त जिस स्थूल-यन्त्र द्वारा होता है उसकी रचना में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है। इस यन्त्र को हम व्यष्टि-रूप में शरीर कहते हैं। इसका स्थूलतम रूप तो 'अन्नमय कोश' है. जिसमें पिण्डात्मक तथा रसात्मक पदार्थ हैं। इस कोश के कण-कण में भिदा हुआ 'प्राणमय कोश' है, जिसमें वायव्य एवं वैद्युत तत्त्व हैं। 'प्राणमय' के अणु-अणु में 'मनोमय कोश' व्याप्त है, जो हमारी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों को संचालित करता है तथा उसको नानारूप प्रदान करता है। 'मनोमय' के मूल में 'विज्ञानमय-कोश' है, जहाँ मनोमय की सारी अनेकता तथा भिन्नता एकत्व में परिणत हो जाती है—मनोमय की सारी नानात्वमयी अनुभूतियाँ एकमात्र अनुभूति का रूप धारण कर लेती है। 'विज्ञानमय' का सूक्ष्मतम रूप तथा स्रोत 'आनन्दमय' कोश है, जिसमें पूर्ण, अद्वैत, आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है। यही यथार्थ 'रस' है। यहाँ पर 'अहंता' तक नहीं रहती; अतः अभिव्यक्ति की बात ही कैसे हो सकती है। वह तो सर्वथा अव्यक्त 'रस' है, व्यक्तीकरण के साथ ही 'अहंकार' प्रारम्भ हो जाता है, जो पूर्ण अद्वैत नहीं तो 'अन्यदिव'[1] तो अवश्य है।

व्यक्तीकरण का प्रारम्भ 'विज्ञानमय' कोश में होता है। इस कोश की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम है, जो 'मनोमय' तथा 'प्राणमय' में उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई अन्त में अन्नमय कोश में स्थूलतम होकर इन्द्रियों का विषय बन जाती है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के अन्तर्गत 'प्रियं' .(सुन्दरं) में परिणत होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य हो जाती है। अन्नमय तथा प्राणमय कोशों को 'स्थूल-शरीर' भी कहते हैं, और मनोमय को 'सूक्ष्म-शरीर' तथा विज्ञानमय को 'कारण शरीर'। इन्हीं तीनों शरीरों द्वारा वह अव्यक्त रस व्यक्त होता है; यही तीन 'स्तोम' हैं, जिनके द्वारा यह परिवृद्ध होता हुआ बतलाया गया है :—

यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः।

(ऋ० वे० ३, ३२, १३)

इस अभिव्यक्ति का कारण है 'अव्यक्त' की शक्ति, जिसको वाक्, माया

---

१ देखिये बृ० उ० ४, ३, ३१।

आदि नामों से पुकारा जाता है और जिसके प्रादुर्भूत होते ही ब्रह्म-माया धनात्मा-ऋणात्मा अथवा कवि-वाक् का 'द्वैत' चल पड़ता है; इसके फलस्वरूप 'स्वयंभू' यक्ष (आत्मा) का उल्लेख हो चुका है, वह शरीर-त्रय के उपाधि भेद से कवि, मनीषी तथा परिभू रूप धारण करता हुआ विभिन्न कोशों में यथोचित अर्थों (विषयों) की स्थापना करता है :—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः । (य० वे० ४०, ८)

(५) एकत्व-अनेकत्व—अद्वैत

कवि-वागात्मक द्वैत के इस व्यक्तीकरण में, एक ध्यान देने की बात यह है कि कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति जितनी अधिक स्थूल होगी, उस पर 'वाक्' (माया) का आवरण उतना ही गहरा होगा और रस-स्वरूप आत्मा (कवि) उतना ही परोक्ष रहेगा। इसके विपरीत उसकी अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म होगी, 'वाक्' का आवरण उतना ही हलका होगा और आनन्दस्वरूप आत्मा उतना ही अधिक प्रत्यक्ष होगा। अतएव हमारे स्थूल शरीर में वाक् (माया या प्रकृति) का आवरण वहुत स्थूल होने से, 'कवि' (आत्मा) पूर्णतया परोक्ष रहता है और उसकी जो अभिव्यक्ति भी होती है, वह केवल आभासमात्र; रसस्वरूप ब्रह्म का जो क्षुद्रतम परमाणु मिलता भी है, वह भी माया-शवलित। यही कारण है कि हम अपने स्थूल अंगों से जिन भोगों को भोगते है, उनसे हमें केवल क्षणिक सुख ही मिलता है, जिससे हमारी 'प्यास' अतृप्त ही रह जाती है।

इसके अतिरिक्त वाक्-कवि या माया-ब्रह्म एक ही रस-स्वरूप आत्मा के ऋण तथा धन पक्ष होने के कारण, वाक् द्वारा अभिव्यक्त 'कवि' का स्वरूप रसात्मकता में अरसात्मकता अथवा वि-रसात्मकता भी मिश्रित रखता है। इसके फलस्वरूप परम चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति हमारे स्थूल शरीर में, पानी के बुद्बुदों की भाँति, अनेक क्षणिक भावों के रूप में होती है। परन्तु ज्यों ही हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म की ओर जाते हैं, त्यों ही बात बदल जाती है—रसात्मकता में निरसात्मकता की कटुता कम होने लगती है, भावों की क्षणभंगुरता के स्थान पर स्थायित्व आने लगता है और अनेकता एकता की ओर अग्रसर होने लगती है। यहाँ तक कि 'विज्ञानमय' कोश में जाकर सारा नानात्व एकत्व में परिणत हो जाता है, जिसके भीतर संज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, ऋतु, असु, काम आदि सभी का समावेश हो जाता है[1]। अनेकता के साथ ही उनकी विभिन्नता भी चली जाती है और वहाँ केवल

---

[1] ऐ० उ० ३, २-३।

'रस' (आनन्द) की ही अनुभूति होती है। इसी को रस की मधुमती भूमिका कहा है, जिसका चित्र पातञ्जल योग के भाष्यकार व्यास ने इस प्रकार दिया है :—

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते "भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षय-मजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

यहाँ पर आनन्द के अनेक भौतिक और अलौकिक प्रतीकों के द्वारा विज्ञानमय कोशस्थ मधुमती भूमिका की 'रसानुभूति' का स्वरूप दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। वेद में इसका वर्णन और सरल तथा सरस है :—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामृतं कृधि।
यत्र कामा निकामाश्च यत्र वृध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्तु यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि।

(ऋ० वे० ९, ११३, ७, १०)

उपर्युक्त अनेक क्षणिक भावों तथा 'एक' मात्र रस के बीच में उन भावों की स्थिति है, जो कई हैं और स्थायी हैं। यदि हम कोशों को ध्यान में रखकर चलें, तो 'अन्नमय' में स्थूल इन्द्रियों के संनिकर्ष से होने वाली अनुभूतियाँ ही क्षणिक भाव हैं जो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और विज्ञानमय' में इन सब का एक तथा साधारणीकृत रूप है। इन दोनों कोशों के बीच में, 'प्राणमय' कोश में पहुँचकर 'अन्नमय' के क्षणिक भाव स्थायित्व ग्रहण कर लेते हैं और मनोमय में जाकर यही स्थायीभाव रसत्व ग्रहण कर लेते हैं। स्थायीभावों की इन दोनों अवस्थाओं में कोई गुण-भेद नहीं है, केवल मात्रा-भेद है। अतः भानुदत्त ने अपनी रसतरंगिणी में पहली अवस्था के स्थायीभावों को 'अलौकिक रस' कहा है। इन दोनों की व्याख्या करते हुए तरंगिणीकार ने कहा है कि पहले प्रकार के तो वे रस हैं, जो व्यावहारिक जीवन में अनुभव किये जाते हैं, जब कि दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनकी अनुभूति स्वप्न देखने, मनोराज्य करने तथा काव्य आस्वादने में होती है। इसलिए रसानुभूति की अवस्थायें निम्नलिखित कही जा सकती हैं :—

१—अन्नमय कोश क्षणिक भाव
२—प्राणमय कोश नव स्थायी भाव (लौकिक रस)
३—मनोमय कोश नव रस (अलौकिक रस)
४—विज्ञानमय कोश एक रस (ब्रह्मानन्द सहोदर)

रसानुभूति के स्तर-भेद के अनुसार, रस के विभावक पदार्थों अथवा काव्यों के भी चार भेद हो सकते हैं:—

(१) सञ्चारी काव्य, जो केवल क्षणिक भावो का उद्रेक कर सकते है।

(२) स्थायी काव्य, जो स्थायी भावों का विभावन कर सकते है।

(३) रस काव्य, जो उक्त भावो को अत्यधिक तीव्र तथा सरल करके उन्हें रसत्व प्रदान कर देते है।

(४) एक-रसकाव्य, जो अनेक रसों की परिणति केवल एक रस मे कर सकता है। वास्तव मे इस प्रकार का कोई काव्य 'रसकाव्य' से भिन्न नही होता, अपितु 'रस-काव्य' ही काव्यास्वादक के सहृदयपन, आस्वादन-प्रयत्न आदि अनेक परिस्थितियों के कारण 'रस' मात्र की अनुभूति कराने मे समर्थ हो जाता है। अतः वस्तुतः काव्य के भेद तीन ही है।

(६) नाट्य—श्रेष्ठ-काव्य

परन्तु, सभी काव्य रसानुभूति की अन्तिम अवस्था तक पहुँचाने में एक से समर्थ नही हो सकते। ऊपर विष्णु-धर्मोत्तर मे वर्णित नाट्य, गान, नृत्त, चित्र तथा मूर्ति नामक काव्यो का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ तो केवल दृश्य है और कुछ केवल श्रव्य; इन दोनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का काव्य वह है, जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों होने के कारण 'मिश्र' कहा सकता है। ऐसा काव्य ही वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति कराने मे सब से अधिक तथा सुगमता के साथ सफल हो सकता है, क्योंकि जहाँ अन्य काव्य केवल श्रोत्र या केवल नेत्र द्वारा हमें विभावित करेंगे, वहाँ 'मिश्र' काव्य दोनों इन्द्रियों द्वारा अपना प्रभाव डालेगा। इस प्रकार का काव्य 'नाट्य'[1] ही हो सकता है, परन्तु 'नाट्य' को नाटक का पर्यायवाची समझना भूल होगी, क्योंकि इसके तत्त्व न केवल गीत, अभिनय तथा रस हैं, अपितु चौथा तत्व[2] पाठ भी है, जिसके साथ इतिहास-सहित वेद, धर्म, अर्थ, उपदेश तथा 'संग्रह' का सम्बन्ध होने से, नाट्य नाटक से पूर्णतया पृथक हो जाता[3]

१ ना० शा० १, ११।

२ जग्राह पाठमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदाभिनयात् रसानाथर्वणादपि॥ (ना० शा० १, १, १७)

३ ना० शा० १, १५-१९।

है। नाट्य शब्द की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है, जिसका प्रयोग केवल नृत्त, नृत्य, अभिनय आदि अर्थों में होता है; अतः उक्त 'नाट्य' को 'भरत नाट्य' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रसिद्ध संगीत मर्मज्ञ श्री जयदेव सिंह के अनुसार 'भरत' शब्द के भ, र तथा त क्रमशः भाव, राग एवं ताल के भी द्योतक हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने 'चलित' नामक नाट्य का जो वर्णन किया है, उससे भी 'नाट्य' के ऐसे ही रूप का पता चलता है, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य, भाव, राग, ताल और अभिनय सभी का समावेश था। 'चलित' में पहले मुरजवाद्यनाद होता है; फिर मालविका 'उपगान' करके चतुष्पद गीत गाती है, और गीत के वचनों को अपने अंगों द्वारा 'अभिनय' करती हुई 'नाट्य' करती है, जिसका सुन्दर-वर्णन निम्नलिखित है:—

अंगैरन्तर्निहित-वचनैः सूचितः सम्यगर्थः ।
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ ।
भावो भावः नुदति विषयाद् राग-बन्धः स एव ।

'चलित' नाट्य के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत गीत, वाद्य, अभिनय, नृत्य आदि के रूप में दृश्य तथा श्रव्य दोनों तत्त्व रहते थे। परन्तु, 'चलित' नाट्य तो एक प्रकार है जिसमें एक गीत के अर्थ को ही अभिनीत किया गया; नाट्य के व्यापक क्षेत्र में तो 'लोक-चरित'[1] का प्रदर्शन हो सकना भी सम्भव था :—

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक-चरितं नाना-रसं दृश्यते ।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।।

'लोक-चरित' के प्रदर्शन ने ही रूपकों का रूप धारण कर लिया। अतः भारतीय नाट्यशास्त्र में नृत्य, अभिनय, वाद्य, गीत आदि के साथ-साथ रूपकों का भी विवेचन किया गया है। नाट्य विशेषतया रूपक—में पद्य-गीतों के साथ ही 'गद्य'[2] वाक्यावली का भी थोड़ा बहुत प्रयोग होता होगा। परन्तु, गद्य 'नाट्य' की दृष्टि से प्रारंभ में, पद्य की अपेक्षा कम महत्व की रही होगी, क्योंकि वह तो केवल बोली ही जाती थी, जिस कारण उसका नाम 'गद्य' (बोलने योग्य) था। इसकी आवश्यकता तो कथानक के वर्णन मात्र के लिए थी और रसोत्पत्ति से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। इसके विपरीत पद्य गीत ही में ऐसी लय

पा० धा० पा० १, ३३२; १, ८, १८; १०, १२,

१ **ना० शा० ३६, ११ ।**

२ **देखिये ना० शा० १८ वाँ अध्याय ।**

होती थी, जिसके अनुसार नृत्य में पाद-न्यास किया जा सके; इसी कारण उसको गत्यर्थक 'पद'[1] धातु से निष्पन्न 'पद्य' नाम दिया गया है—इस प्रकार 'नाटच' के संसर्ग में रहने से ही पद्य-गीतों के अन्तर्गत भागों को पद, पाद अथवा चरण कहा गया, क्योंकि प्रत्येक पद्य-भाग के साथ एक विशेष पाद-न्यास होता था—प्रत्येक पद्य-भाग पदनीय अथवा चलनीय था। अतः जिस प्रकार पाश्चात्य 'लिरिक' (गीति-काव्य) का नामकरण 'लायर' (एक वाद्य-विशेष) के संसर्ग में हुआ, उसी प्रकार भारतीय पद्यगीतों या पदों के नामकरण का श्रेय नाटच को है।

नाटच की उपयोगिता का रहस्य काव्य-मात्र की रसात्मकता में निहित है। काव्य तो वही है जो 'कवि पुराणं' को व्यक्त करे और रस-स्वरूप आत्मा को आस्वाद्य बना सके। योगी इस आस्वादन के लिए मनन, निदिध्यासन तथा समाधि का सहारा लेता है—बाह्य इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता हुआ सविकल्पक समाधि में पहुँचकर इस अनुभूति को प्राप्त करता है। काव्य का मार्ग दूसरा ही है; नाटचशास्त्र ने उसको भाव-विभाव-अनुभाव-संचारि-भाव-सयोग कहा है। दूसरे शब्दों में काव्य ऐसे बाह्य-विभावों की सृष्टि करता है, जो काव्यास्वादक के हृदय में एक प्रमुख भाव का उद्रेक तथा उद्दीपन करे और उसको संचारिभावों द्वारा पुष्टकर रस रूप में परिणत कर दे। संगीत से श्रौत तथा चित्र अथवा मूर्ति से चाक्षुष विभावों की सृष्टि होती है जो श्रोत्र या चक्षु इन्द्रिय द्वारा हमारे भीतर किसी भाव-विशेष को विभावित तथा पोषित करते हैं, परन्तु इन विभावों के एक देशीय होने के कारण उस भाव के लिए रसत्व ग्रहण करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके विपरीत नाटच में श्रव्य और दृश्य दोनों तत्त्व होने से विभावों का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा विस्तृत हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप भावों का विभाजन तथा पोषण अधिक सरल हो जाता है; एक ही भाव को उद्दीप्त तथा पुष्ट करने के लिए वाद्य, गान, अभि-नय, नृत्य आदि नाटच के सभी अंग तदनुकूल विभाव उत्पन्न करने की श्रेष्ठतम चेष्टा करते हैं, जिससे विभावों की व्यापकता के साथ-साथ उनकी तीव्रता भी बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त नाटच के रूपकत्व द्वारा 'लोक-चरित' का प्रदर्शन करने के लिए जिस कथा, अवस्था या घटना-क्रम का सहारा लिया जाता है, वह उस-विशेष के मूर्त तथा जीवित रूप को हमारे सामने खड़ा कर देता है, जिससे वह साधारण सहृदय के लिए भी ग्राह्य हो जाता है।

नाटच के विभिन्न अंगों के सहयोग से एक ही रस-विशेष की निष्पत्ति अभीष्ट होने के कारण नाटच में प्रयुक्त पद्य-गीतों को भी अपना स्वरूप उसी रस के

---

१ पा० धा० पा० ४, ६०, १०, ३५०।

अनुकूल ढालना पड़ता था, जिसकी निष्पत्ति के लिए अन्य नाटच-अंग प्रयत्नशील होते थे। अतएव भारतीय नाटच शास्त्र के बीसवें अध्याय में 'वृत्तिविकल्प' का वर्णन किया गया है और अन्यत्र यह भी बतलाया गया है कि किस रस के लिए किस वृत्ति को जागृत करना तथा किन-किन गुणों या अलंकारों का प्रयोग करना चाहिए। शृंगार तथा करुण रस में माधुर्यगुणोत्पादक मृदुवर्णों तथा वीर, रौद्र तथा वीभत्स में ओजगुणोत्पादक पुरुष वर्णों का अनुप्रास सहायक माना जाता है। इसी प्रकार रसानुकूल यमक का प्रयोग भी अनुप्रास का आनन्द दे सकता है और सरल उपमा, रूपक तथा दीपक से पद्य-गीत की रसात्मकता में वृद्धि हो सकती है। यही कारण है कि संस्कृत पद्य में रस के अनुकूल ध्वनि रखने की प्रणाली अब तक चली आती है। रसानुरूप-शब्द योजना का सबसे सर्वोत्तम उदाहरण प्रसिद्ध शिवताण्डव स्तोत्र में मिल सकता है, जिसको आज भी कथक लोग अपने नृत्त में उतारते हैं और उसमें रस निष्पत्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। यहाँ पर उसकी कुछ पंक्तियाँ दे देने से यह बात भली भाँति प्रकट की जा सकती है:--

जटाटवीगलज्जल-प्रवाहपावितस्थले ।
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजंगतुंगमालिकाम् ।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं ।
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम् ।
जटाकटाहसम्भ्रमं भ्रमन्निलिम्पनिर्झरी ।
विलोलवीचिवल्लरी विराजमान-मूर्धनि ।
धगद्धगज्ज्वलज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके ।
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ।

परन्तु, नाटच-गीतों में ऐसे अलंकारों का कोई स्थान नहीं हो सकता, जिनको समझाने में बुद्धि-प्रयोग करना पड़े और मस्तिष्क पर जोर लगाना पड़े। इसीलिए भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक, यमक एवं अनुप्रास का ही उल्लेख किया है और श्लेष आदि को पूर्णतया छोड़ दिया है, क्योंकि उक्त रस-नाटच परम्परा में अलंकार सौन्दर्य परखने के लिये मनन-चिन्तन करने का अवकाश कहाँ !

इस प्रकार अनेक रसात्मक तत्त्वों को रस-निष्पत्ति के लिए उपयुक्त विभावो के रूप में एकत्र करके नाटच न केवल अन्य काव्यों में श्रेष्ठ हो सकता था, अपितु धर्म-संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था, और सम्भवतः बहुत काल तक वह इस अवस्था में रहा भी। नाटच शास्त्र* के अनुसार 'नाटच' की सृष्टि वेदव्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने के उद्देश्य से हुई और इसमें धर्म, अर्थ, यश

* १, १२-१६ ।

आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी मानव-कर्मों की शिक्षा होती है। एक समय जिस प्रकार समाज में कृत्रिम वेदियों पर होने वाले अग्निष्टोमादि यज्ञ हमारे पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की प्राकृतिक वेदियों में होने वाले आध्यात्मिक यज्ञ के प्रतीक तथा अभ्याख्यान होकर वैदिकज्ञान को सभी वर्णों के लिए प्रत्यक्ष करते थे, उसी प्रकार ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों को रूपकत्व प्रदान करके 'सोमक्रयण' आदि में अवस्थानुकृति करके अथवा 'महाव्रत' आदि में पद्य-गीतों का नृत्त-समन्वित नाटच करके अथवा महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध' जैसे लोक-चरितों का प्रदर्शन करके अथवा रामायण आदि का अभिनय करके 'वेद-ज्ञान ' या 'वेद-व्यवहार' को सभी वर्णो के लिए बोधगम्य बनाया जाता था। वेद-ज्ञान तथा वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने वाले प्रयत्नों का तत्त्वतः एक ही मार्ग था; और वह था अमूर्त को मूर्त, सूक्ष्म को स्थूल, अन्तः को बाह्यः तथा अनिरुक्त को निरुक्त करना। इसके लिए, धारणा, ध्यान तथा समाधि का मार्ग तो केवल ब्राह्मणों या योगियों के लिए ही सम्भव था, क्योंकि अन्य वर्ण (क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र) जीवन संग्राम में ऐसे व्यस्त थे कि उनको न तो इतना समय ही था और न शक्ति ही जो साधना के इस सूक्ष्म-पथ को ग्रहण करते। वे तो प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते हुए उक्त स्थूल-पथ का ही सहारा ले सकते थे। ब्राह्मणवर्णिक तथा सार्ववर्णिक मार्गों का यह भेद मनुष्यों के सामाजिक गुण, कर्म तथा शक्ति पर आश्रित था; न कि उनकी जन्मजात परिस्थितियों पर। नाटच आदि सभी काव्यों का उद्देश्य जनसाधारण को रसानुभूति के लिए तैयार करना तथा वेद-व्यवहार को सिखाना था। अतः उक्त सार्ववर्णिक आयोजन सार्वजनिक आयोजन होते थे, जिनमें आबालवृद्ध सब भाग लेते थे, जब कि ब्राह्मणवर्णिक वैयक्तिक साधना के लिए व्यक्तिगत तैयारियों की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति वेदाध्ययन द्वारा हो सकती थी; अतः यह साधना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के ही वश की बात थी। अस्तु नाटच जनता के लिए था जो सम्भवतः जनता के दक्ष व्यक्तियों द्वारा आयोजित होता था।

(७) काव्य या साहित्य

वैदिककाल में नाटच के क्षेत्र में जो उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है, वह सभी प्रकार के काव्यों के क्षेत्र में भी रहा होगा, क्योंकि उस समय समाज के किसी व्यवहार मे संकीर्णता अथवा अनुदारता का परिचय नहीं मिलता। परन्तु, आगे चलकर यह बात न रह सकी और समाज में वैषम्य , भेदभाव, संकीर्णता तथा अनुदारता ने घर कर लिया। इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः वे प्रतिबन्ध और प्रतिषेध हैं जिनकी सृष्टि सूत्रकाल में हुई।

आर्य-जाति के इतिहास में कोई ऐसी घटना अवश्य हुई प्रतीत होती है, जिसके

कारण उसको अपनी संस्कृति-रक्षा के लिए कुछ सामाजिक प्रतिबन्धों की सृष्टि करनी पड़ी। गृह्यसूत्रों में स्त्रियों से यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन का अधिकार छीन लेने के विषय में शास्त्रार्थ मिलता है, जिसके परिणामस्वरूप ही सम्भवतः आगे चलकर उनका यह अधिकार छीन लिया गया। बहुत सम्भव है कि ऐसे ही किसी बाहरी प्रभाव से अपनी संस्कृति को बचाने के लिए ही वेद को लिखने तथा प्रतिलोम विवाह करने आदि का निषेध किया गया हो और आर्य लोग विजातियों को निम्न-वर्ग में डालकर स्वयं उच्चवर्गीय बन गये हों। परन्तु, इस प्रश्न पर अत्यन्त गम्भीर विचार करने के पश्चात्, मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बहुत प्राचीन काल में ही हमारे देश में बाहर से कोई ऐसी जाति आई, जो वेश्यावृत्ति, पशु-बलि आदि के साथ-साथ समाज में वर्गवाद तथा जाति-प्रथा भी लाई, क्योंकि मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ, ये बुराइयाँ वैदिक समाज में नहीं थीं। कुरीतियों के इस आयात से ही, समाज में संकीर्णता तथा भेदभाव की उत्पत्ति हुई और जो 'वर्ण' शब्द केवल वर्णनात्मक था और व्यक्तियों के 'गुण, कर्म' आदि का वर्णन भर करता था, वही अब ऐसे वर्ग के लिए प्रयुक्त होने लगा, जो जन्म तथा परम्परागत कर्म पर आश्रित था। चातुर्वर्ण्य का आधार गुण-कर्म के स्थान पर जन्म होने से बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया; समाज में समत्व के स्थान पर वैषम्य आ गया और आर्य-अनार्य, ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र तथा स्पर्श्य-अस्पर्श्य के भेद-भाव का उदय हुआ। इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा से पर्याप्त संघर्ष होना स्वाभाविक था; परन्तु इस संघर्ष में विजय नई को ही प्राप्त हुई लगती है। क्योंकि यद्यपि दार्शनिक जगत् में श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा तथा काव्य (कला) के क्षेत्र में भरत-नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थों द्वारा चातुर्वर्ण्य के पुराने आदर्श की पुनः स्थापना-सी की गई है, परन्तु यथार्थतः इनका उद्देश्य दोनों विचार-धाराओं में समझौता करना ही है, जो व्यवहार में स्थायी रूप से सफल न हो सकने के कारण नई लहर को न दबा सका।

इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य मात्र पर पड़ा और नाट्य को तो इसने पूर्णतया बदल दिया। अतः नट, नर्तक तथा शैलूष आदि वैदिक* काल में पवित्र लोग समझे जाते हैं, परन्तु रामायण† तथा महाभारत में वही गर्हित तथा आचार-भ्रष्ट समझे जाते हैं। नाट्य के वातावरण की यह विकृति निश्चित रूप से सूत्रकाल में प्रारम्भ हो गई थी, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य आदि जो कौषीतकी ब्राह्मण‡ में आदर-

* बा० सं० ३०, ४; तै० ब्रा० ३, ४, २; कौ० ब्रा० २९, ५।
† म० भा० १३, ३३, १२ रा० २, ६७, १५, २, ६९, ३।
‡ २९, ५।

णीय तथा पवित्र कलाएँ हैं, वही पारस्कर × गृह्य सूत्र में द्विजवर्णों के लिए सर्वथा त्याज्य समझी गई हैं। नाटच की यह दुरवस्था विद्वत्समाज (ब्राह्मणों) की अवहेलना का कारण तथा परिणाम दोनों ही रहे होंगे। वर्गवाद में विश्वास करने के कारण, विद्वद्वर्ग ने निम्नवर्ग को ऊपर उठाकर अपने स्तर में लाने की अपेक्षा, उनसे पृथक होना अधिक अच्छा समझा; पतित तथा आचार-भ्रष्ट नटों को सुधारने की अपेक्षा उन्होंने अपने लिए पृथक काव्य की सृष्टि करना अच्छा समझा जिससे वे उस गर्हित वातावरण से बचे रह सकें। इसलिए जिस 'काव्य' शब्द का प्रयोग कला मात्र के लिए होता था वह केवल विद्वानों की 'कला' के लिए ही प्रयुक्त होने लगा, जिसको वे लोग उक्त अ-हित नाटचादि के विपरीत स-हित बनाने की इच्छा से 'साहित्य' कहने लगे।

इस साहित्य या काव्य के भी श्रव्य, दृश्य तथा मिश्र भेद ही रहे, परन्तु इनके अन्तर्गत लिखित काव्य ही हो सकता था, क्योंकि मूर्ति, संगीत, चित्र तथा नाटच आदि तो निम्नवर्ग के गर्हित वातावरण में थे, जिससे दूर रहना ही अधिक अच्छा समझा जाता था। श्रव्य काव्य में गद्य तथा पद्य दोनों का अन्तर्भाव था और मिश्र में दोनों का मिश्रण। दृश्य काव्य सम्भवतः बहुत काल तक विद्वानों द्वारा उपेक्षित ही रहा; परन्तु, जैसा वात्स्यायन के काम-सूत्र से पता चलता है, लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में किसी-न-किसी प्रकार के सुरुचिपूर्ण तथा स-हित श्रव्य-काव्य का होना नागरिक जीवन के लिए अनिवार्य समझा जाता था। इसी प्रवृति के अनुसार, नाटचशास्त्र में भरतमुनि ने गीत, वाद्य, रूपक तथा अभिनय आदि को सुसंस्कृत रुचि के अनुकूल तथा वैदिक सदाचार के अनुरूप बनाके सहित श्रव्य काव्य की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया। परन्तु, कालान्तर में विद्वद्वर्ग ने नाटच के अन्य प्रकारों को छोड़कर केवल रूपकों को ही अधिक अपनाया, क्योंकि इसमें आदर्श लोकचरितों का चित्रण होने के कारण सदाचार की पुष्टि अधिक सम्भव थी। अतएव श्रव्य-काव्य में एक रूपक-परम्परा चल पड़ी, जो वर्तमानयुग तक चली आ रही है।

साहित्यवादी विद्वानों के हाथों में काव्य ने जब नया रूप पाया, तो उसका केवल क्षेत्र ही सीमित नहीं हो गया, अपितु उसके परिमित कलेवर में बहने वाले 'रक्त' को स्वस्थ तथा शुद्ध करने के लिए 'शल्य-चिकित्सा' का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया। 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' रस को काव्य का लक्ष्य मानते हुए, उन्होंने तद्विरोधी बातों को पूर्णतया निकाल फेंका। यही कारण है कि 'नाटच' के विभिन्न अंगों में, भारतीय नाटचशास्त्र में सभी के लिए वेदानुकूलता देने का प्रयत्न होने

× २, ७, ३।

पर भी, केवल 'रूपक' ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका; और रूपकों में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ, जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा को अच्छी प्रकार निभा सकते थे। अतएव नाट्यशास्त्र में 'समवकार' आदि के लिए बहुत-से 'बन्धकुटिलानि' वर्जित कर दिये गये और 'प्रहसन' में केवल 'लोकोपचार-युक्ता वार्ता' को स्थान दिया गया। इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नाटक-नाटिकाओं के अतिरिक्त रूपक के अन्य प्रकारों को पनपने का अवसर कम मिला।

साहित्यवाद या मर्यादावाद की इस काँट-छाँट के होते हुए भी, काव्य ने अपने नये रूप में पुरानी सभी स्वस्थ प्रवृत्तियों को प्रायः बनाये रक्खा। रस-निष्पत्ति अन्तिम ध्येय होने के कारण तदनुकूल 'गुणों' तथा 'ध्वनियों' का काव्य में होना पहले के समान ही चलता रहा है। यही कारण है कि न केवल संस्कृत- पद्य-काव्यों में अपितु गद्य-काव्यों में भी विषय तथा परिस्थिति के अनुकूल भाषण-ध्वनियों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है। पद्य की संगीतात्मकता तथा नाटक में गीत और वाद्य का प्रचुर प्रयोग भी इसीलिए बना रहा। 'नाट्य' के सभी अंग 'नाटक' में होने से, उसको 'रस-निष्पत्ति' के लिए सब से अधिक उपयुक्त समझा गया; इसलिए संस्कृत में अन्य रूपकों की अपेक्षा नाटक ही अधिक लिखे गये।

काव्य की परिधि सीमित होने पर पद्य तथा गद्य को विकसित होने का अवसर मिला, क्योंकि अब उन पर से 'नाट्य' का अंकुश हट गया और उनकी रचना स्वतन्त्र रूप से होने लगी। अब नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार साधारण अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी प्रयोग होने लगा। नाट्य के दासत्व में रहते हुए पद्य में कोई प्रबन्धात्मकता सम्भव नहीं थी; स्वतन्त्र होते ही उसमें नये-नये प्रबन्ध-स्वरूपों की सृष्टि होने लगी। अब पद्य केवल 'श्रव्य' न रही, वह लिखी तथा पढ़ी भी जाती थी; इसलिये उसमें बुद्धितत्व के लिये अधिक अवकाश था।

गद्य के लिये तो यह स्वतन्त्रता अत्यन्त लाभप्रद हुई। नाट्य के दासत्व में रहते हुए तो उसे काव्य-रूप ग्रहण करने का अवसर ही न मिलता था। परन्तु, अब उसने कथा, कहानी, आख्यान तथा आख्यायिका आदि के रूप धारण किये और पद्य के सभी शृंगार, सौष्ठव तथा शक्ति-विभव को प्राप्त किया। परन्तु विद्वानों के हाथ में पड़कर जहाँ गद्यकाव्य तथा पद्य-काव्य को स्वतन्त्र विकास का अवसर मिला वहाँ उसमें बुद्धितत्त्व का प्राधान्य भी बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी तो बौद्धिक कलाबाजी को ही काव्य समझ लिया गया और रस-निष्पत्ति का लक्ष्य केवल 'दम्भ' मात्र रह गया।

(८) साहित्य काव्य के भेद

काव्यरस का विवेचन करते हुए, हम देख चुके हैं कि सभी 'कोशों' में आनंदस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति समान नहीं होती। पाँचों कोशों में रसानुभूति की अवस्थाओं को क्रमशः शुद्ध-रस (ब्रह्मानन्द) काव्यरस (ब्रह्मानन्द सहोदर), रस-नानात्व, स्थायीभाव तथा संचारी भाव कहा जा सकता है, जिस कवि की आत्मानुभूति जिस कोश की होगी, उसकी अभिव्यक्ति भी उसी स्तर की होगी। अतः काव्य के भी इस पुष्टि से पाँच भेद किये जा सकते हैं। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में इसी बात को ध्यान में रखकर काव्य के क्रमशः स्वायंभुवं, ऐश्वरं, आर्षम्, आर्षीकम तथा आर्षीपुत्रकम् नाम से पाँच भेद किये हैं। एक दूसरा विभाजन वैदिक साहित्य में अभिप्रेत है ; उसके अनुसार प्रत्येक कोश की अनुभूति प्राप्त किया हुआ कवि तथा उसके काव्य का वर्णन परस्पर-विलोम धातुओं द्वारा किया जाता है:—

कोश	कवि	काव्य
१. आनन्दमय	देव (दिव् धातु)	वेद (विद् धातु)
२. विज्ञानमय	कवि (कव् धातु)	वाक् (वक् धातु)
३. मनोमय	मनीषी (मन् धातु) या मनः (")	नाम (नम् धातु) नमः (")
४. प्राणमय	परिभू या प्रतिभू	प्रभा या प्रतिभा
५. अन्नमय	पुर	रूप

(९) आदि कवि और आदि कविता

भारतीय परम्परा के अनुसार वाल्मीकि (बाल्मीक) आदि कवि माने जाते हैं। कहा जाता है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुये थे, परन्तु बचपन में ही उन्हें माता-पिता ने त्याग दिया, कुछ पार्वतीय लुटेरों ने उन्हें शरण दी और लूट-पाट का पेशा सिखाया, जिससे वे जीवन निर्वाह करने लगे। एक दिन उन्होंने एक साधु को देखा। उसके पास आते ही उन्होंने कहा, 'जो कुछ हो, वह रख दो; नहीं तो जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। "साधु ने बाल्मीक को यह जानने के लिये घर भेजा कि उनके अन्य सम्बन्धी इन कुकर्मों में साथी हैं या नहीं। जब वह अपने घर पहुँचे, तो उनका भ्रम जाता रहा। स्त्री और बच्चे तक उनके कुकर्मों में साथ देने के लिये तैयार न थे। साधु ने उल्टा राम नाम जपने का उपदेश दिया और स्वयं वहाँ से चला गया। वर्षो तक वे राम नाप जपते

रहे। बैठे-बैठे उनके शरीर पर एक भारी वाँबी बन गई। अन्त में वही साधु आया और उसने वल्मीक (वाँबी) में से उन्हें निकाला। बल्मीक में से निकलने के कारण उनका नाम वाल्मीकि हो गया और वे बड़े भारी ऋषि हो गये। एक दिन जब वे स्नान कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि एक निषाद ने क्रौञ्च-मिथुन में से एक को मार डाला है। ऋषि के हृदय में मृत पक्षी के लिये करुणा उमड़ पड़ी। घातक पर क्रोध कर के उन्होंने उसे शाप दिया। यह शाप अनायास ही एक श्लोक के रूप में उनके मुँह से निकल पड़ा। यह सब से पहली कविता थी। ब्रह्माजी के कहने से तब महर्षि वाल्मीकि ने रामायण नाम का एक काव्य लिखा।

यह एक छोटी-सी कथा है, जो आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में कही जाती है। साधु-सन्तों के संबंध में अलौकिक घटनाओं को सुनने के हम अभ्यस्त हैं, अतः वाल्मीकि के जीवन की घटनाओं पर हम भले ही विश्वास करलें, परन्तु यह विश्वास करना कि वाल्मीकि से पहले कविता ही नहीं थी और सबसे पहले उन्होंने ही कविता की, सब के लिये सम्भव नहीं। हम देखते हैं कि रामायण के बहुत पहले ही एक विशाल वैदिक साहित्य विद्यमान था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार यदि चार संहिताओं को अपौरुषेय माना जाय, तो भी तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् साहित्य में जो कवित्त्व-पूर्ण स्थल भरे पड़े हैं, उनको देखकर रामायण-कार को आदि कवि नहीं माना जा सकता। यदि सारे वैदिक साहित्य को ही अपौरुषेय मानलें तब भी भाषा तथा साहित्य के क्रमिक विकास में विश्वास रखने वाला वर्तमान युग यह कभी नहीं मान सकता कि रामायण जैसे उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि यकायक बिना किसी पूर्व परम्परा के हो गई। थोड़ी देर के लिये यह भी मानलें कि अलौकिकसत्ता-सम्पन्न ऋषियों के लिये इस प्रकार के चमत्कार कर दिखाना कोई असम्भव नहीं है, तो भी यह कैसे सम्भव है कि उसमें पहले मनुष्य, हृदय रखते हुए भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में न करता-कराता हो और फलतः किसी-न-किसी प्रकार के काव्य का निर्माण न करता हो।

जब रसात्मकता कविता का प्रधान गुण है और यह सचमुच 'ब्रह्मस्वाद-सहोदर' है, तो कविता का प्रारम्भ तभी से मानना पड़ेगा जब से मनुष्य में रसानुभूति की शक्ति है, क्योंकि वह अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता, चाहे वह अभिव्यक्ति गद्य में हो या पद्य में, अनुष्टुप में हो या त्रिष्टुप में। रेडियो, रेल, तार आदि वस्तुओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनका जन्म अमुक देश में, अमुक काल में और अमुक व्यक्ति के द्वारा हुआ क्योंकि ये दृश्य-मूला वस्तुयें हैं, जिनका समाज ने अपने जीवन काल में न

केवल प्रारम्भ और विकास देखा है, अपितु उनका पूर्व-अभाव भी देखा है। परतु, कविता तो अनुभूति-मला होने से इस पदार्थ-वर्ग मे नही आ सकती ; वह तो इच्छा , ज्ञान, क्रिया, भाषण, प्राण, मन, आदि तत्त्वो के वर्ग मे आती है, जिनका व्यक्ति तथा समाज के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और जो किसी न किसी रूप मे तब से है जब से व्यक्ति या समाज का अस्तित्व है। इसलिये समाज अथवा भाषण, भाषा, आदि सामाजिक सम्पत्तियो के इतिहास मे कविता का प्रारम्भ कब ओर किस के द्वारा हुआ यह बतलाना उतना ही असम्भव है, जितना प्राण, मन समाज अथवा आदि के उत्पत्तिकाल को बतलाना।

परन्तु, इससे यह अभिप्राय नही कि आदि कवि तथा आदि कविता के विषय मे जो परम्परागत कथा चली आई है, वह निरर्थक है। वस्तुत. इतिहास तथा काल के विषय मे हमने जो दूषित धारणा बना रक्खी है, उसके कारण हम उसे समझ ही नही पाते। हमने समझ रक्खा है कि पदार्थ-विज्ञान के जगत् के अतिरिक्त कोई जगत् ही नही, और न उसके प्रेरक काल से भिन्न कोई काल। यथार्थ मे, जैसे पिण्डाण्ड स्थूल शरीर के अर्न्गत आने वाले अन्नरसमय कोश तथा प्राणमय कोश तक ही समाप्त नही हो जाता, उसी प्रकार ब्रह्मण्ड भी केवल पिण्डात्मक, रसात्मक, वायव्य तथा वैद्युत पदार्थो से निर्मित स्थूल जगत् तक ही सीमित नही है। स्थूल शरीर एव स्थूल जगत के परे सूक्ष्म-शरीर एवं सूक्ष्म जगत् भी है, जिसको 'मनोमयकोश' कहा जाता है और जिसमे उत्पन्न होकर काल स्थूल-जगत मे क्रीडा कर रहा है। मनोमय कोश से भी परे 'विज्ञानमयकोश' है, जिसमे कारणशरीर और कारण-जगत आ जाते है। इसी कोश मे 'महाकाल' की क्रीडा दिखाई पडती है, जो मनोमय कोश मे सुविकसित होकर स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत के काल का रूप धारण कर लेता है। बहुत सी वस्तुये, जो हमे स्थूल-जगत मे अनन्त और अनादि-सी दिखलाई पडती है, वास्तव मे इस कारण जगत तथा महाकाल मे सान्त और सादि है। रसानुभूति तथा तज्जन्य कविता का आदि भी हमे यही देखना चाहिए।

अत आदि कविता की उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेष से न मानकर जीव से माननी पडेगी। जीव ब्राह्मण अथवा ब्रह्म के कुल का है, परन्तु पितृ-वियुक्त होकर इस शरीर मे भटकता है। शरीर मे अनेक पर्व (सयुज्य भाग) है, अत. उसे आध्यात्मिक रूपको मे पर्वत (मू० पर्ववत्) भी कहा जाता है। इसी पर्वत पर रहने वाले काम, क्रोध आदि लुटेरे ही उस ब्राह्मण सन्तान को अपनाते है और उसे अपना लूट-पाट का पेशा सिखलाते है। अन्त मे परमसाधु परमेश्वर की कृपा से उसे ज्ञान होता है कि जिस माया तथा तज्जनित विषयो के लिए वह काम, क्रोधादि लुटेरो का कुत्सित पेशा करता है, वे भी उसका साथ देने को उद्यत नही।

इस ज्ञान से उसे वैराग्य उत्पन्न होता है और सुमार्ग पर चलने की तीव्र इच्छा जाग पड़ती है। साधु उसको उल्टे राम नाम का उपदेश करता है, जिसके द्वारा वह ब्रह्म समान हो जाता है। यही महर्षि वाल्मीकि हैं, जिनके विषय में तुलसी-दासजी ने कहा है :—

उल्टा नाम जपत जग जाना। वाल्मीक भए ब्रह्म समाना॥

परन्तु, ब्रह्म-समान होने से पहले उन्हें स्थूल-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर की विशाल वल्मीक (बाँबी) को हटाना पड़ता है, तब कहीं वे वाल्मीक होकर विज्ञान-मय कोश या कारण-शरीर में पहुँच कर उक्त गति को पाते हैं। ब्रह्म-समानता को ही रस के प्रसंग में ब्रह्म-सहोदरता कहा गया है और इसी को प्राप्त करके तपोशुद्ध जीव आनन्दमय-कोश की 'रामायण' को समझता है, अनुभव करता है और श्लोकबद्ध करने में समर्थ होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विज्ञानमय कोश में ही 'मधुमति भूमिका' है और वहीं पहुँचकर जीव यथार्थ 'कवि' कहलाता है।

यही आदि कवि की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँचे हुए योगी कवि में द्वैत-भाव नहीं रह जाता। इससे नीचे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में, जीव तथा माया आलिंगनबद्ध से (संपरिष्वक्तौ इव) कहे जाते थे, उन "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" में से एक मिट जाता है और केवल 'अन्यदिव' की अनुभूति मात्र रह जाती है— "यत्रवाऽन्यदिव स्यात्तत्राऽन्योन्यात्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदे-दन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्यन्मन्वीतान्योऽन्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्"[१] इस 'अन्यदिव' की अनुभूति यथार्थतः 'द्वैत' नहीं है; यह तो 'अहंकार' मात्र है, जिसमें 'स्व' ही 'इदम्' रूप में रहता है :—

'अथातोऽहंकारादेशएवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमति।... स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स्वराट्[२]।

आदिकवि के रूपक में, इसी जोड़े को क्रौञ्च-मिथुन कहा गया है, जिसमें से एक के वध होने पर, ऋषि वाल्मीक द्वारा आदि-कविता को जन्म मिलता है। क्रौञ्च शब्द ध्वन्यनुकरण मूलक है, और जिस पक्षि-विशेष को यह नाम दिया गया है, वह शब्द भी ऐसा ही करता है। योगी भी ध्यानावस्था में अनेक प्रकार के शब्द सुनता हुआ, एक ऐसे शब्द पर भी पहुँचता है, जिसको 'ह्रीं, क्रीं; क्रौञ्ज आदि कहा गया है और जो सुनने में क्रौञ्च-रव-सा लगता है। अतः इस अवस्था

---

१ बृ० उ० ४, ३, ३१।

२ वही।

में जीव माया को क्रौञ्च-मिथुन कहना पूर्णतया उचित है। इसका वध करने के लिए योगी को, दोनों भौंहों से जो एक धनुष बनता है, उसको अपनाना पड़ता है; इस धनुष में प्रत्यञ्चा नहीं होती (तु० क० जामें परच नहीं है रे—कबीर), नासिकाग्र से लेकर दोनों भौंहों*के बीच में स्थित ध्यान-बिन्दु की ओर चित्त एकाग्र करते रहने को शर-संधान करना कहते हैं। स्थूल-शरीर में क्रीड़ा करने वाला मन रूपी व्याध इसी शर-संधान द्वारा एक क्रौञ्च-पक्षी को मार गिराता है; जिसके फलस्वरूप ऋषि द्वारा शापित होकर वह (मन) सदैव अशान्त तथा अस्थिर रहता है।

इस शर-संधान द्वारा लक्ष्य-वेध तभी हो सकता है, जब रामनाम का उल्टा जप कर लिया जाय। उल्टे राम-राम का अर्थ केवल 'मरा' समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ इससे अधिक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि आत्मा को विभिन्न अवस्थाओं में देव कवि मन, प्रेतभू तथा पुर कहा जाता है और उसकी स्वाभि-व्यक्ति को क्रमशः वेद, वाक्, नाम, प्रतिभा तथा रूप कहा जाता है। वास्तव में जिस शब्द से किसी के 'स्व' की अभिव्यक्ति होती है वही उसका नाम है। अतः सामान्यतः आत्मा की इन सभी 'अभिव्यक्तियों' को 'नाम' कहा जा सकता है। इस नाम का सीधा क्रम तो वेद, वाक्, नाम तथा रूप है, परन्तु उल्टे क्रम में रूप, नाम, वाक् तथा वेद हैं। अतः स्थूल-जगत के 'रूप' से वेद की ओर जाने को ही उल्टा जप कहते हैं। जो जीव स्थूल जगत के झंझटों में फँसा है, उसको ऊपर उठने का एक यही मार्ग है कि वह इस उल्टे नाम का सहारा लेकर शनैः शनैः स्थूल-जगत् से सूक्ष्म तथा कारण-जगत् की ओर अग्रसर हो। राम का उल्टा 'मरा' अथवा 'सोऽहं' का उल्टा 'हँसो' जपने का यही अर्थ है। सीधे नाम में शक्तिमान् से शक्ति का प्रवाह होता है, परन्तु उल्टे में शक्ति से शक्तिमान की ओर जाना पड़ता है। इसलिए ब्रह्म के नाम के पहले उसकी शक्ति का नाम रख देने से भी उल्टे नाम का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। अतः सीताराम, राधाकृष्ण, पार्वती-परमेश्वर आदि का भी जप किया जा सकता है। परन्तु जप में नाम का उच्चारण मात्र पर्याप्त नहीं; नामोच्चारण तो केवल संयम, ध्यान, समाधि द्वारा स्थूल जगत् से ऊपर उठने का सहारा मात्र है।

आदि-कवि-सम्बन्धी कथा की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इनमें भारतीय साहित्य का देश-कालगत इतिहास नहीं मिलता। इस कथा से यदि रामायणकार के विषय में हमें कुछ भी पता चलता है तो यही कि रामायण के लेखक एक परम योगी थे और रामायण में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह एक साधारण कथा-

---

* भ० गी० ८, १०।

मात्र नहीं है; उसमें उनकी उच्च आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी है। बहुत सम्भव है कि रामायणकार का नाम पहले से ही वाल्मीक रहा हो, जिससे 'वल्मीक' (बाँबी) के रूपक में उसकी संगति बैठ गई, परन्तु स्थूल-जगत के आवरण को बाँबी के रूपक द्वारा प्रकट करने की परिपाटी च्यवन-कथा में भी मिलती है, और सम्भवतः बहुत पुरानी है।

(१०) काव्य-प्रेरणा (क) प्राचेतस

मेरी समझ में आदि कवि की इस कथा में, काव्य की मूल प्रेरक शक्ति के व्यक्तीकरण का आलंकारिक वर्णन है। इस मत की पुष्टि वाल्मीक के दूसरे नाम 'प्राचेतस' शब्द से भी होती है—प्राचेतस का अर्थ है प्रचेतस का पुत्र और प्रचेतस शब्द, जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है, आनन्दमय कोश ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है, जिसके लिए श्रीमद्भगवद्गीता में 'कविं पुराणं' आदि कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार यह 'प्रचेतस' अद्वैत[१], वीतरागवेद[२], अमर्त्य[३] तथा मनोमय कोश के लिए वरेण्य तथा ध्येय[४] है, जिसको देवलोग (इन्द्रियादि की शक्तियाँ) द्वैत-रूप में मर्त्यों (क्षणभंगुर इन्द्रियार्थों) में ऐसे विभक्त कर लेते हैं, जैसे अन्न के भाग को और इस अवस्था में उसके लिए 'असुर' कहकर सम्बोधित किया जाता है[५]। जो बात यहाँ प्रचेतस के लिए कही गई है, वही 'आनन्दमय' ब्रह्म के लिए भी कही जा सकती है और स्थूल-शरीर-रूपी पर्वत पर असुरत्व-प्रधान जीवन व्यतीत करते हुए वाल्मीक पर भी वही लागू होती है, क्योंकि वे प्राचेतस (प्रचेतस के पुत्र) तथा ब्राह्मण (ब्रह्मकुलोद्भव) हैं। अतः प्राचेतस अथवा वाल्मीक नामी आदि-कवि के आख्यान में यही अभिप्रेत समझना चाहिए कि ब्रह्म ही मूल प्रेरक शक्ति है और वह अजर, अमर तथा अव्यक्त होते हुए भी स्थूल-शरीर की नश्वर अभिव्यक्तियों में व्यक्त होता है। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं अव्यक्त की अभिव्यक्ति प्रारम्भ होते ही ब्रह्म-माया, शक्तिमान्-शक्ति, कवि—वाक् आदि का द्वैत प्रारम्भ हो जाता है; इसीलिए 'प्रचेतस' की अभिव्यक्ति भी यहाँ द्वैत-पूर्ण बतलाई गई है।

(ख) स्फोटवाद

मूल-प्रेरक शक्ति की अभिव्यक्ति के विषय में यही मत आगे चलकर 'स्फोट-

---

१ ३, २९, ५।
२ ४, १, १।
३ ८, १०२, १८।
४ १, ४४, ११; ८, १०२, १८।
५ ८, ८४, २; १०, ६; ४, १, १; ७, १६, १२; ८, १०२, १४।

वाद' के नाम से चला, जिसका उपयोग 'काव्यशास्त्र' मे भी 'ध्वनि' के प्रसंग मे किया गया है । हमारे मुख से जो बैखरी वाणी निकलती है, उसकी इकाई 'वाक्य' है, जो अनेक तदनुरूप भाषण-ध्वनियों अथवा वर्णो का आवरण धारण करके व्यक्त होता है (वाक्यपदीय ७१-७३; व्या० म० वृ० २८-४५) वाक्य की उत्पत्ति अन्ततोगत्वा स्फोटात्मा से होती है, जो ध्वनि द्वारा व्यक्त होता है और नित्य तथा अभेद्य 'वाचक' (ध्वनिव्यग्य: नित्य: अक्रम:) है। यथार्थ में स्फोट एक और अद्वैत है, परन्तु उपाधि (जिसको नाद, ध्वनि या आत्माभिव्यक्ति की शक्ति अथवा वाक् कहते है) के प्रभाव से अनेक भाषण-ध्वनियों के रूप में व्यक्त होता प्रतीत होता[1] है; परन्तु वास्तव में अनेकता तो व्याकृता 'ध्वनि' में है, न कि स्फोटात्मा[2] में । आत्मा मे नाद की उत्पत्ति होती है, जिसे व्याकृता ध्वनि या केवल ध्वनि भी कहते है[3] जो बुद्धि, प्राण आदि मे होती हुई स्थूल अगों द्वारा व्यक्त होती है :--

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रकाशते ।
(वा० प० १, ११७)

वास्तविक विकार इसी नाद या वाक् मे होता है और इसी से आवृत होने पर अविकारी स्फोटात्मा भी विकारी प्रतीत होता है[4] । अत: सूत सहिता स्फोटात्मा को प्रणव या ओंकार के नाम से दो प्रकार का बतलाती है--एक पर या ब्रह्म-रूप, दूसरा अपर या शब्द-रूप[5] । शब्द-रूप स्फोट या प्रणव ही नाद या वाक् से युक्त होता है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया की दृष्टि से विविध रूप मे व्यक्त होता हुआ नाना वर्णो की सृष्टि करता है :--

---

१ **यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादै कं प्रकाशितम् ।**
यदाहुरपरे शब्द तस्य वाक्ये तथैकता ।।

२ **स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः ।**
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ।। (या० पा० १, ७७)

३ **शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।**
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते (द्वो० पा० १,३०)

४ **स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।**
प्राकृतस्य ध्वनेः काल शब्दस्येत्युपचर्यते ।।

५ **नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो नापरश्च सः ।**
अक्रमः क्रम रूपेणभेदवानिवजायते ।।

श्रृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक्
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥
स्वधाम्नो ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥
तस्य ह्यासन् त्रयोवर्णा आकाराद्या भृगूद्वहः
धार्यन्ते यैस्त्रयो गुणानामर्थवृत्तयः ॥
ततोऽक्षरसमान्मायमसृजद्भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शदीर्घह्रस्वादिलक्षणम् ॥

(ग) नाद, अनाहतनाद तथा महानाद

शैवागम के अनुसार सच्चिदानन्द शिव से शक्ति, शक्ति से कारणनाद तथा नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है (आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुः समुद्भवः); यहाँ पर नाद को 'महानाद' कहा जाता है और 'अष्टप्रकरण' के अनुसार 'बिन्दु' को अनाहतनाद कहा जाता है (विन्दुरेव समाख्यातो व्योमनाहतमित्यपि)। इसी अनाहत नाद या बिन्दु से 'कार्य नाद' पैदा होता है (भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्), जो नाना वर्णों में गद्य-पद्यात्मक रूप में प्रकट हो जाता है (वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः)।

कुछ शैवागमों में इसी बात को दूसरे ढँग से कहा गया है। उनके अनुसार शिव के साथ उसकी शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है; इस शक्ति का नाम ज्ञान-शक्ति है जो सारी अभिव्यक्ति का निमित्त कारण है। शिव-शक्ति के संयुक्त तत्त्व से परिग्रह शक्ति का जन्म होता है, जिसका नाम क्रिया-शक्ति भी है। वही बिन्दु है, जो अभिव्यक्ति का उपादान कारण है। यह शुद्ध और अशुद्ध-भेद से दो प्रकार का है; शुद्ध विन्दु को 'महामाया' तथा अशुद्ध विन्दु को 'माया' भी कहते हैं। शक्ति तथा विन्दु के सम्बन्ध को विकल्प अथवा भेद-ज्ञान कहते हैं। इसी विकल्प द्वारा शिव शुद्ध-विन्दु को क्षुब्ध करता है, जिससे शब्द तथा अर्थ की द्वैत-धारा चल पड़ती है, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी अवस्थाओं में होकर नाना रूपों में प्रकट होती है। इसी प्रकार अशुद्ध-विन्दु के क्षोभ से भी अभिव्यक्ति होती है।

---

१ परः परतरं ब्रह्मज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
प्रकर्षेण प्रणवः यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः ॥
अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दस्य सुनिर्मलः ।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः ॥

(घ) प्रेरणा का उद्गम

अतः भारतीय परम्परा के अनुसार शब्दार्थात्मक या गद्यपद्यात्मक काव्य अन्य सभी प्रकार के काव्य (कला) कर्मों की भाँति, आत्मा की अभिव्यक्ति है, जिसको वह अपनी शक्ति या ध्वनि द्वारा अव्यक्त से व्यक्त 'सूक्ष्म से स्थूल, प्राकृत से व्याकृत तथा एकवर्णा से अनेकवर्णा करता है। उस शक्ति या माया का धर्म ही यह है कि वह अभिव्यञ्जना करे, आत्मा को अद्वैत से अनेक करके प्रकट करे। आजकल के युग में भी वेनिडिटो क्रोचे ने ऐसा ही मत प्रकट किया है; उसके अनुसार आत्मा की अभिव्यञ्जना ही को कविता कहते हैं।

आत्माभिव्यक्ति में वाह्य विभागों का भी प्रमुख स्थान है। बाह्य विभाग जब हमारी इन्द्रियों द्वारा हमारे अन्तर्जगत पर प्रभाव डालते हैं, तो हमारे भीतर तदनुरूप संचारी तथा स्थायी भाव उत्पन्न होकर तीव्र होते हुए रसत्व को प्राप्त करते हैं जिससे ओत-प्रोत होकर हम व्याकुल हो उठते हैं; भवभूति ने रामचन्द्रजी की ऐसी ही अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है :—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।।

इस व्याकुलता को दूर किये बिना चैन नहीं मिल सकती; और इसको दूर करने का एकमात्र उपाय है अभिव्यक्ति; लबालब भरे हुए तालाब की एकमात्र प्रतिक्रिया है उसमें से जल-निर्यात :—पुरोत्पीडतटागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया। इस 'प्रतिक्रिया' के बिना, अन्तर्लीन भावोद्रेक से हम राम की भाँति व्यथित होते हैं और मोह में पड़े रहते हैं :—

अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दामं ज्वलिष्यतः ।
उत्पीड इव धूमस्य मोहः प्रागावृणोति माम् ।

अतः बाह्य विभावों से विभावित यह भाव आत्मा की शक्ति के द्वारा व्यक्त होता है, क्योंकि इसी शक्ति से स्थिर समाधिस्थ चित्त में अभिधेय भाव का स्फुरण होता है और उसको व्यक्त करने के लिए पद आदि विभावित होते हैं:—

मनसि सदा सुसमाधिति विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ।।

इसीलिये मम्मट ने काव्यप्रकाश[1] में काव्य के कारणों में शक्ति को प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह शक्ति ही नाद, बिन्दु आदि अवस्थाओं में होती हुई शब्द तथा अर्थ दोनों

---

१ **शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्**
काव्यशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवः ।।

का कारण है—इसी से क्रोञ्च-वध वाल्मीक में वह 'अर्थ' उत्पन्न करता है, जो काव्य की आत्मा है और इसी से उस आत्मा को आवृत करने वाला नाना वर्णात्मक कलेवर भी उत्पन्न होता है; शोक तथा श्लोक दोनों का कारण एक ही है; अतः ध्वन्यालोक में कहा गया है कि :—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्वबियोगत्थं शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

परन्तु काव्य एक अरण्यरोदन नहीं है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसे श्रोता की अपेक्षा है; इसमें ऐसी ध्वनि है, जो प्रतिध्वनि प्राप्ति के लिए उपयुक्त स्थल चाहती है। चाहे कवि 'स्वान्तः सुखाय' ही क्यों न लिखे, उसमें वह सामर्थ्य तथा उद्देश्य निहित रहता है जिस से कवि का प्रेरक भाव श्रोता या पाठक के हृदय में भी उसी भाव को उत्पन्न कर देता है। कुप्पुस्वामी शास्त्री ने वाल्मीकि की कविता के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं:—

"In the second canto of Balakanda, it is unmistak-ably suggested, through the Soka=Sloka equation and through Valmik's own observation about his own Poetry in 1-2-18, that the true poetry is not made but is a beautiful and spontaneous emanation from the fountain of rasa and that the life and growth of genuine poetry depend upon a delightful syntiesis of artist and the art-critic, of kavi and Sahrdaya, of charm and response. According to this theory of poetry, kavya is not necessarily ornate peotry or court peotry, as some alien Sanskritists would render the term, but it is genuine poetry."

अतः काव्य-प्रेरणा के उद्गम में, जहाँ आन्तरिक 'शक्ति' तथा वाह्य विभाव सहायक होते हैं, वहाँ श्रोता-सापेक्षता भी उसका एक मुख्य तत्त्व है। श्रोता-सापेक्षता को ही हम समाज-सापेक्षता कह सकते हैं। वाल्मीक का शोक श्लोकत्व को कभी प्राप्त न होता, यदि उनके पास ही क्रोञ्च-घातक व्याध तथा उसके शिष्यगण सुनने वाले न होते :—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमियुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥
तस्यैवं ब्रुवन्तश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्त्ते नास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥

चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम् ।
शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुगवः ॥
पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥
शिश्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् ।
प्रतिजग्राह सहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद् गुरुः ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि न केवल समाज मे उसकी अभिव्यक्ति को सम्भव बनाया, प्रत्युत उनके द्वारा उस अभिव्यक्ति के 'प्रतिग्रहण' से वाल्मीक को परितोष भी हुआ ।

अब प्रश्न यह होता है कि विभावो से हम क्यो आकर्षित होते हे और हमारी अभिव्यक्ति समाज-सापेक्ष क्यो है । इस प्रश्न के उत्तर के लिए विभावो की तात्त्विक रचना पर विचार करना आवश्यक होगा । 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की लोकोक्ति को भारतीय दर्शन का प्रामाणिक 'सूत्र' कहा जा सकता है । अत पिण्डाण्ड के अनुसार ब्रह्माण्ड मे भी यही पॉच कोश है और यहॉ भी 'विज्ञानमय' जगत के तथा सूक्ष्म 'अन्यदिव' से स्थूल-जगत के स्थूलत्व तथा अनेकत्व का विकास हुआ है । यह कहा जा चुका है कि ज्यो-ज्यो स्थूलता (माया) का आवरण बढता है, त्यो-त्यो 'रस-स्वरूप' आत्मा परोक्ष होता जाता है और उसका रस माया-शवलित होकर सुखदुखादि अनेक रूपो मे प्रकट होता जाता है । साथ ही माया इस परोक्ष आत्मा के सौन्दर्य या रस को शब्द-रूप रस-गन्ध-स्पर्शात्मक जगत के रूप मे व्यक्त करके, उसको भोगने के लिए श्रोत्रचक्षुरसनाघ्राणत्वगात्मक ऐन्द्रिय जगत का निर्माण करती है, इन दोनो जगतो मे से एक मे आकर्षण है, दूसरे मे चाह, एक मे काम है दूसरे मे रति, एक मे इच्छा है दूसरे मे तृप्ति । इस द्वैत-सिद्धान्त के द्वारा जहाँ एक को अनेक करके एक पूर्ण को अनेक अपूर्णो मे विभक्त कर दिया जाता है, वहॉ इन अपूर्णो के भीतर अपने से बाहर पूर्णता को खोजने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती हे । इसके फलस्वरूप एक ओर हम जड बाह्य-जगत के विभावो से आकर्पित और प्रभावित होते हे तो दूसरी ओर विश्व के चेतन अन्तर्जगत के साथ उस आकर्पण तथा प्रभाव का आस्वादन करना चाहते है । अतएव कवि जड-चेतन के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से प्रभावित होकर जहाँ बाह्य जगत मे खोई पूर्णता देखता है वहॉ उससे विभावित भाव की अभिव्यक्ति करके 'सहृदय' (समान हृदय) प्राणियो के साथ तादात्म्य स्थापित करके पूर्णत्व लाभ करना भी चाहता है । अत किन्ही अशो मे अडलर का यह कहना ठीक है कि कवितादि सारी कलाये अपूर्ण मनुष्य के पूर्ण होने के प्रयास की द्योतक है ।

(२) महाकाव्य
(क) परम्परागत लक्षण

हम देख चुके हैं कि जब काव्य 'साहित्य' हुआ, तब उसके क्षेत्र की सीमा भी संकुचित हो गयी। इस संकुचित अर्थ में भी श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं—गद्य, पद्य तथा मिश्र[1]। इनमें से पद्य काव्य भी तीन प्रकार के होते हैं (१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य तथा (३) मुक्तक काव्य। छठी शताब्दी में दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः ।

अतः इसके अनुसार महाकाव्य ऐसे सर्गों में विभक्त होना चाहिए जो बहुत बड़े न हों। इसके आमुख में आशीर्वाद, देव-नमस्कार अथवा ग्रन्थ के कथावस्तु को सूचित करने वाले पद्य होने चाहिए। इसका कथानक इतिहास, कथा या अन्य सद्‌वृत्त पर आश्रित होना चाहिए। महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का उल्लेख होना चाहिए। उसका नायक चतुर और उदात्त हो। नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय तथा सूर्योदय के रूप में प्रकृति वर्णन हो; उद्यान-विहार, जल-क्रीड़ा, मधु-पान आदि के रूप में उत्सव वर्णन हो; विप्रलम्भ, विवाह, कुमार-जन्म आदि के रूप में पारिवारिक जीवन का चित्रण हो तथा मन्त्रणा, दूतप्रयाण, युद्ध (आजि) नायकाभ्युदय आदि के रूप में सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन का चित्रण हो। महाकाव्य आकार में छोटा नहीं होना चाहिए। अलंकार, रस तथा भाव का होना आवश्यक है, क्योंकि 'लोकरञ्जन' उसका मुख्य लक्षण है। उसके सर्ग भिन्नवृत्त होने चाहिए और वह नाटकीय संधियों तथा श्रव्यत्व गुण से युक्त होना चाहिए। इस प्रकार का काव्य कल्पान्तरस्थायी होता है।

---

१ पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्—दंडी।

लगभग यही लक्षण अग्निपुराण (३३०) काव्यालंकार (१) सरस्वती-कण्ठाभरण (५) आदि में भी दिये गये है; परन्तु, सबसे अधिक विस्तार के साथ उनका निरूपण पन्द्रहवी शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण मे किया है, जिसको तुलनात्मक अध्ययन के लिए यहाँ दिया जाता है :—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंश-भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक-संधयः ।
इतिहासोभद्वं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु ॥

अतः साहित्य-दर्पण के अनुसार महाकाव्य सर्गबन्ध होना चाहिए, जिसमें कम-से-कम आठ सर्ग हों, जो न बहुत छोटे और न अति बड़े हों। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो, जो केवल अन्त में वदलना चाहिए; कभी-कभी एक सर्ग नाना छन्दों मे भी हो सकता है। हरएक सर्ग के अन्त में भावी सर्ग के विषय की सूचना दे देनी चाहिए। नायक कोई सुर या कुलीन क्षत्रिय हो, जिसमें 'धीरोदात्त' के गुण हों; और धीरोदात्त[1] होने के लिए महासत्त्व, अतिगम्भीर, क्षमावान्, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर तथा अहंकार को छिपाने वाला होना आवश्यक है। एक

१ **महासत्त्वोऽतिगम्भीरः। क्षमावानविकत्थनः स्थिरोनिगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः (द० रू० ३)**

ही वंश के कुलीन राजा हों तो एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं। प्रधान रस या तो शृंगार होना चाहिए या वीर अथवा शान्त; दूसरे रस केवल सहायक मात्र होने चाहिए। कथावस्तु के संगठन में नाटकीय संधियों का प्रयोग आवश्यक है। कथानक या तो ऐतिहासिक हो या उसमें किसी सज्जन का चरित होना चाहिए। महाकाव्य का लक्ष्य चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति है और उसके प्रारम्भ में ईश-वन्दना, आशीर्वाद अथवा कथा-वस्तु के निर्देश के पश्चात् कभी कभी सज्जन-प्रशंसा तथा असज्जन-निन्दा भी होती है। यथा-अवसर इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, सायंकाल, अन्धकार, दिवस, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुओं, वनों, सागरों, संभोग, विप्रलंभ, ऋषियों, स्वर्ग, नगरों, यज्ञों, युद्धों, आक्रमणों, विवाहोत्सवों, मंत्रणा, कुमार-जन्मादि विषयों का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नामकरण कवि के नाम पर अथवा कथानक, नायक या अन्य पात्र पर होना चाहिए, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्यविषय के अधार पर होना चाहिए।

(ख) लक्षणों का अर्थ

विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित महाकाव्य-लक्षणों का मूल्य आँकते हुए हमें यह याद रखना चाहिए कि इन लक्षणों में कुछ बातें ऐसी हैं, जो निश्चित तथा अनिवार्य हैं और जिनके विषय में आचार्य लोग एकमत हैं, जबकि कुछ बातें ऐसी हैं, जो अनिश्चित तथा गौण हैं। पहले प्रकार में निम्नलिखित हैं :—

(१) नायक का चतुरोदात्तत्व।
(२) चतुर्वर्ग-प्राप्ति का लक्ष्य।
(३) रस की उपस्थिति।
(४) कथानक का ऐतिहासिक आधार या सदाश्रयत्व।

और दूसरे प्रकार में निम्निलिखित लक्षण आते हैं :—

(१) सर्गों की रचना या संख्या*।
(२) वर्ण्यविषयों की सूची।
(३) काव्य या सर्गों का नामकरण।

निस्संदेह पहले प्रकार के लक्षणों में साहित्य का भारतीय आदर्श निहित

---

* कहीं सर्गों की संख्या अथवा उसके श्लोकों की गिनती का उल्लेख बिल्कुल नहीं है, साहित्यदर्पण में सर्ग-संख्या न्यूनतम आठ है; परन्तु प्रत्येक सर्ग का विस्तार निश्चित नहीं है, ईशान-संहिता में न्यूनतम सर्ग संख्या के अतिरिक्त अधिकतम संख्या भी दी गयी है। (अष्टसर्गान्न तु न्यूनं त्रिंशत्सर्गाच्च नाधिकम्) और पद्य-संख्या भी ३० से २०० तक निश्चित कर दी है।

है, जब कि दूसरे में उस आदर्श के व्यक्तीकरण की प्रणाली। पहले का सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है जिसका स्वरूप समाज की संबुद्ध तथा ऊर्जस्वित प्रज्ञा द्वारा निर्धारित किया जाता है ; दूसरे का सम्बन्ध महाकाव्य के शरीर से है, जिसकी रचना व्यक्ति-विशेषों (कवियो) द्वारा होती है। 'आदर्श' है युग-युगान्तस्थायिनी शाश्वत और सुसंस्कृत सामाजिक 'शक्ति' का आदेश, जिसका पालन अनिवार्य है ; काव्य-रचना कवियो द्वारा उसका व्यक्तिगत 'आज्ञा पालन' है, जिसको प्रत्येक कवि अपनी शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास के अनुसार सम्पादित करने मे स्वतंत्र है। यही कारण है कि रामायण, महाभारत, कुमारसंभव, रघुवंश, बुद्ध-चरित, सौन्दरानन्द, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय आदि जहाँ प्रथम प्रकार के लक्षणों मे सहमत है, पूर्णतया एकमत है, वहाँ दूसरे प्रकार के लक्षणों में वे एक दूसरे से अत्यधिक विभिन्न हैं—किसी में एक नायक है, तो किसी में अनेक ; रामायण मे सात काण्ड है, तो महाभारत में अठारह पर्व, रघुवंश में १९, बुद्धचरित में २८ तथा रत्नाकर के 'हरविजय' में ५० सर्ग हे। इसी प्रकार सर्ग-रचना तथा वर्ण्य-विषयों के चयन मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। अतः लक्षणों के प्रथम प्रकार को महाकाव्य के स्थायी तत्त्व कह सकते है और दूसरे को अस्थायी।

अस्थायी-तत्त्वों का विश्लेषण करने से हमें इनकी अनेकता या विभिन्नता में भी एक ध्रुव एकता मिल सकती है, जिसके द्वारा भारतीय महाकाव्य की 'आत्मा' के लिए शरीर-रचना की जाती है। महाकाव्य के वर्ण्य-विपयों की सूची को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वर्ण्य-विषयों का चुनाव मानव-जीवन के पूर्ण क्षेत्र से किया जाता है, जिसको निम्नलिखित भागों मे विभक्त किया जा सकता है :—

(१) व्यक्तिगत साधना।
(२) मानव का प्रकृति से सम्बन्ध।
(३) मानव का परिवार से सम्बन्ध।
(४) मानव का समाज से सम्बन्ध।

आचार्यों द्वारा बतलाये गये उक्त लक्षणों में वर्ण्य या प्रतिपाद्य विषयों को मानव-जीवन के इन चार भागों में इस प्रकार बाँटा जा सकता है :—

(१) चतुर्वर्ग प्राप्ति।
(२) संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष, ऋतु, पर्वत, वन, सागरादि।
(३) संभोग, विप्रलम्भ, विवाहोत्सव ; कुमार-जन्म आदि।
(४) आक्रमण, युद्ध, मंत्रणा, ऋषि-मुनि, यज्ञ आदि।

इससे प्रकट है कि भारतीय महाकाव्य व्यक्ति के जीवन का अध्ययन प्रकृति, परिवार और समाज के स्वाभाविक सैंनिकर्ष में करना चाहता है ; उसके अनुसार मानव-जीवन का पूर्ण चित्र इस व्यापक तथा विस्तृत पृष्ठभूमि के बिना नहीं मिल सकता, क्योंकि मनुष्य की इच्छा ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों की जो नानात्वमयी अभिव्यक्ति 'जीवन' के नाम से पुकारी जाती है वह इसी पृष्ठभूमि द्वारा विभावित एवं उद्भावित होती है। अपनी इच्छाशक्ति से उद्भूत 'काम' द्वारा मनुष्य जिन 'सामग्रियों तथा सेवाओं' की माँग उत्पन्न करता है, उन्हीं का उत्पादन वह अपनी, क्रियाशक्ति से उद्भूत 'अर्थ' द्वारा करके उस माँग की पूर्ति करता है। माँग-पूर्ति के इस व्यापार में सदसद्विवेक तथा आत्मानात्मभेद-बुद्धि होना अत्यावश्यक है, अन्यथा स्वार्थवाद, इन्द्रियलोलुपता तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला होने का डर रहता है। इसी कमी को पूरा करने के लिए ज्ञान-शक्ति से उद्भूत 'धर्म' की आवश्यकता पड़ती है, धर्म ही इच्छा तथा क्रिया, काम तथा अर्थ के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए सदाचार और अध्यात्मवाद का सहारा देता है और अन्त में मानव को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीनों से ऊपर उठा कर 'मोक्ष' द्वारा न केवल जड़, अनात्म तथा असत् से मानवात्मा को अनासक्त करता है, अपितु उसे तुच्छ स्वार्थों से भी छुटकारा दिलवाता है, जिसके फलस्वरूप वह समाज में संयमी कर्मयोगी होकर कर्त्तव्य-कर्मों को करता हुआ अनासक्ति-योग का जीता-जागता उदाहरण हो जाता है। इस प्रकार चतुर्वर्ग-समन्वित मानव-जीवन के भारतीय आदर्श की पूर्णता दिखाने के लिए आवश्यक है कि मानव की सम्पूर्ण लीला-भूमि का अध्ययन और चित्रण किया जाय। यह लीलाभूमि प्रकृति, परिवार तथा समाज की समवेत भूमि है, इसी को उसकी विविधता तथा विभिन्नता के साथ चित्रित करने के लिए भारतीय महाकाव्य ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है। इसी लीला-भूमि से सामग्री लेकर भारतीय महाकाव्य की शरीर-रचना हुई है।

इस महाकाव्य-शरीर का आत्मा वही रस है, जिसका वर्णन पीछे हो चुका है, परन्तु यहाँ वह केवल व्यक्ति की ही वस्तु न होकर समष्टि की भी है। 'रसो वै सः' के चिरन्तन सत्य का जो साक्षात्कार योगी अपनी समाधि में करता है और साधारण कवि अपनी कविता के परिमित क्षेत्र में करना या करवाना चाहता है उसी को महाकवि प्रकृति, परिवार एवं समाज के विस्तृत परिधि में फैलाकर तथा जीवन की पूर्णता में व्याप्त करके करना तथा करवाना चाहता है। महाकाव्य रस का 'समाजीकरण' करना चाहता है, वह व्यक्ति को न केवल समाज एवं प्रकृति के प्रशस्त-प्रांगण में रस-साधना करने के लिए बाध्य करता है, अपितु वह इस साधना में सारे समाज को रत करने के लिए भी प्रयत्नशील है। जिस

प्रकार प्राचीन 'काव्य' में नाट्य का लक्ष्य वेदव्यवहार को सार्ववर्णिक और सार्वजनिक बनाना था, उसी प्रकार 'साहित्य' में महाकाव्य का ध्येय है। अतः महाकाव्य में मुक्तकादि काव्यों की भाँति केवल पृथक-पृथक चित्रों या परिस्थितियों द्वारा ही रसानुभूति विभावित नही होती; उसकी निष्पत्ति में मानव-चरित के चित्रण तथा उसकी पृष्ठभूमि में रहनेवाली प्रकृति, परिवार तथा समाज की त्रिपुटी से भी सहायता ली जाती है।

जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, रसानुभूति मनोरञ्जन-मात्र नहीं है, अतः महाकाव्य में मानव-चरित का चित्रण केवल 'अर्थ-काम' समन्वित होने से काम नहीं चल सकता; यदि काव्यरस का सौन्दर्य सत्यत्व एवं शिवत्व से युक्त रखना है, तो अर्थकामपरता की स्वच्छन्द रंगरलियों पर धर्म का अंकुश बिठाने की आवश्यकता है और उन्हें अनासक्त 'भोगों' के रूप में बदलकर मोक्षसाधना में साधन रूप में प्रयुक्त करना है। इसीलिए महाकाव्य के स्थायी तत्त्वों में रस के साथ-साथ चतुर्वर्ग प्राप्ति का विधान किया गया है। नायक का धीरोदात्तत्व तथा कथानक का सदाश्रयत्व भी रस के 'असतो मा सत गमय' के आदर्श को स्थापित करने के लिए रक्खा गया है; अन्यथा साधारण मनोरञ्जन तो भाँड़ों की भड़ैती से भी हो सकता है और मनुष्य की हीन भावनाओं तथा मनोवेगों को उभाड़ने वाले वेश्यालयों, मदिरालयों तथा नग्नस्वरूपों के वर्णन से भी सम्भव है। परन्तु, इससे समाज की प्रगति नही दुर्गति होगी; मानव देवत्व की ओर न जाकर असुरत्व की ओर जायगा; वह सौन्दर्य का रसिक न रहकर रक्तपात एवं नरदाह का रसिक हो जायेगा। अर्थ-काम-परायण 'प्रगतिवाद' को भी मानना पड़ेगा कि मानव-जीवन में अर्थ-काम की प्रधानता होते हुए भी, यदि उसकी मानवता को जीवित रखना है तो इन दोनों को 'साध्य' के स्थान से उतारकर केवल साधन-पद देना पड़ेगा। हमारे काव्य में रस की अलौकिकता तथा जीवन का आदर्शवाद इसी ओर प्रयत्नशील है।

(ग) लौकिक और अलौकिक का समन्वय

अर्थ-काम का धर्म-मोक्ष के साथ संयोग कराके तथा अलौकिक रस को मानव-जीवन से संयुक्त करके भारतीय महाकाव्य ने लौकिक और अलौकिक के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में कथानक की ऐतिहासिकता तथा नायक के क्षत्रियत्व एवं देवत्व ने भी बहुत सहायता पहुँचाई है। इतिहास-प्रसिद्ध कथानक के नायक के प्रति जनता के हृदयों में यों ही विशेष राग होता है, और यदि वह क्षत्रिय* (देश के राजनीतिक जीवन का

* प्राचीन भारत के समाज में क्षत्रिय का वही स्थान था जो आज राजनीतिक नेताओं का है। वस्तुतः 'क्षत्रिय' शब्द को राजनीतिक नेता का पर्यायवाची ही समझना चाहिए, न कि किसी जाति-विशेष का मनुष्य।

प्राण) हुआ तो वह राग एक मोहनीमंत्र बन जाता है। नायक के साथ पाठकों का यह रागात्मक सम्बन्ध जहाँ रस-परिपाक में शीघ्रता तथा सरलता उत्पन्न कर देता है। और रसानुभूति में आवश्यक ममत्व या तादात्म्य ला देता है, वहाँ उसका धीरोदात्तत्व एवं देवत्व रस के शिवत्व एवं सत्यत्व को निश्चित कर देता है जिसके बिना रसकी पूर्णता ओर परिपक्वता तो दूर, उसकी रचना भी सम्भव नहीं। इसीलिए भारतीय महाकाव्य लौकिक चरित को वर्ण्य बनाकर भी उसकी लोकोत्तरता पर दृष्टि रखता है, मानवत्व में निहित देवत्व को व्यक्त और विकसित करने में दत्तचित्त रहता है।

कथानक के भीतर लौकिक और अलौकिक का समन्वय समाविष्ट करने के लिए भारतीय महाकाव्यों में प्रायः ऐतिहासिक कथानक को ऐसे परिवर्तित और परिवर्द्धित कर लिया गया है कि उसमें ऐतिहासिक सत्य के साथ-साथ आध्यात्मिक सत्य भी दिखाया जा सकता है। यही कारण है कि वाल्मीकि के राम मनुष्य होते हुए भी पूर्ण ब्रह्म हैं अथवा उनकी पूर्ण मनुष्यता ही ब्रह्मता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक बड़े महत्व का है :—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अन्वय दो प्रकार किया जाता है—'वेद-वेद्ये परे पुंसि दशरथात्मजे जाते' अथवा 'दशरथात्मजे वेदवेद्ये परे पुंसि जाते'। इसका अर्थ है कि जब वेदवेद्य परब्रह्म ने दशरथपुत्र राम के रूप में पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त किया, अथवा जब राम ने पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करके वेदवेद्यत्व (ब्रह्मत्व) को प्राप्त किया, तब प्राचेतस (वाल्मीकि) द्वारा रामायण के रूप में वेद ने साक्षात् रूप ग्रहण किया। अतः श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने लिखा है :—

The author of the Ramayana blends in a happy way the ideas–that God fulfills himself in the best man, Shri Ramachandra, and that man, as Dasharatha's son, riser to his full stature by pulling up his Manhood to the level of Brahmanhood. The author of the Ramayana would interpret the apanisadic teaching **"पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः"** as equivalent to **"मनुष्यान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः"**

यही बात हमें न्यूनाधिक रूप में अन्य राम-काव्यों में भी मिलती है, परन्तु इसका जितना अच्छा निर्वाह हमारे तुलसीदासजी ने किया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। वे अपने रामचरित मानस के प्रारम्भ ही में स्पष्ट कर देते हैं कि

उनकी सीता उद्भवस्थितिसंहारकारिणी राम-वल्लभा हैं और राम वे हरि हैं जो जगत् के 'अशेष कारण' हैं और जिनकी माया के वशीभूत ब्रह्मा आदि देवताओं और असुरों सहित अखिल विश्व प्रवृत्त हो रहा है :—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥
यन्मायावशवर्त्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवा सुराः
यत्सत्त्वादमृषैव भाति-सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।

इन्हीं परब्रह्म राम का अवतार दशरथनन्दन रामचन्द्र के रूप में होता है; अतः वे ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं और मनुष्य की सारी मर्यादाओं के भीतर रहते हुए लीला करते हैं। साथ ही वे मनुष्य होते हुए भी ब्रह्म हैं, क्योंकि उनकी मनुष्यता लोकोत्तर कल्याणाभिनिवेश में ही अपनी पूर्णता देखती है। यही बात थोड़े हेर-फेर के साथ कृष्णकाव्यों और विशेषकर महाभारत तथा भागवत् के कृष्ण के विषय में कही जा सकती है ; 'कुमार-संभव, श्रीकंठचरित, आदि शिव-कथा को लेकर चलने वाले काव्य आध्यात्मिक और भौतिक, अलौकिक तथा लौकिक के समन्वय के एक ऐसे ही उदाहरण हैं। इसी समन्वयवाद के कारण जहाँ इनमें ऐतिहासिकता की खोज की गयी है, वहाँ इनमें आध्यात्मिक रूपक देखने वालों की भी कमी नहीं है।

यह समन्वयवाद भारतीय महाकाव्य की बहुत बड़ी विशेषता रही है, और इसकी उपलब्धि केवल राम, कृष्ण और शिव के कथानकों में ही होती है ऐसी नहीं है। त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, धर्मशर्माभ्युदय आदि जैन महाकाव्यों से भी यही बात प्रमाणित होती है और अश्वघोष तो अपने सौन्दरानन्द में स्पष्ट लिख ही देता है कि इस ग्रंथ के लिखने में उसका एकमात्र उद्देश्य निर्माण-विषयक सत्य को एक आकर्षक आवरण के भीतर रखना है, जिससे लोग उससे आकर्षित होकर उधर जायें और बुद्धत्व को प्राप्त करें। अतः बुद्धचरित में सिद्धार्थ गौतम की कथा के भीतर आत्मा का वह बोधमय स्वरूप भी मिल सकता है जो अनेक संघर्षों के पश्चात् उसे प्राप्त होता है और जिसके विषय में गौतम बुद्ध की भाँति ही कहा जा सकता है कि :—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयो सुत ः॥

भारतीय महाकाव्य-परम्परा में इसी प्रकार की कृतियाँ श्रेष्ठ समझी जाती थीं क्योंकि वे अध्यात्म-प्रधान संस्कृति के अनुरूप आदर्शों की सृष्टि करती थीं। यही कारण है कि साधारण कथा के आधार पर रचित नैषध-चरित तक को

यही रूप ग्रहण करना पड़ा और जिन कवियों ने महाकाव्य के इस मर्म को नहीं समझा उनकी रचनाएँ ऐतिहासिक कथानक पर आश्रित होने पर भी विक्रमांक-देवचरित तथा नवसाहसांकचरित के समान पण्डित-मण्डली द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत होते-होते विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गयीं। भौतिकवादी विचारधारा के विद्वानों*को इस पर शोक हो सकता है, परन्तु अध्यात्मवादी भारत को इससे किंचित् भी खेद नहीं, क्योंकि हमारे इतिहास की कल्पना इस काल-कवलित विश्व के परिधि तक ही सीमित नहीं है; उसमें तो जीवात्मा की उस लीला का भी समावेश हो सकता है, जो हमारे इस काल से भी परे उस काल की परिधि में आती है, जिसको महाकाल कहा जा सकता है।

(घ) देवासुर-संग्राम

लौकिक और अलौकिक के समन्वय का मूल रहस्य है देवासुर संग्राम। हम देखते हैं प्रकृति में दो प्रकार की शक्तियों के बीच संघर्ष चल रहा है—एक तो सृजन, पोषण तथा विकास की शान्त धारा लेकर आता है, जिससे प्रकृति हरी-भरी और जीवनमयी दिखाई पड़ती है; दूसरा प्रकार उच्छेदन, ह्रास और विनाश के बवन्डर लेकर चलता है ; जिससे प्रकृति के खिलखिलाते हुए स्वास्थ्य पर उजाड़ और विध्वंस की भयावह क्रीड़ा होने लगती है। यह जीवन और मृत्यु का संघर्ष है, सत् और असत् का युद्ध है, जो हमें प्रकृति में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार का संघर्ष मानव-समाज में भी चलता रहता है—हमारे सामाजिक द्वंद्वों, युद्धों और महायुद्धों के रूप में इसी की अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक कलेवर में सदा कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं, जो समाज के अस्तित्व के लिए घातक होती हैं और जो नियन्त्रित रहने पर उसके लिए लाभप्रद भी हो सकती हैं। इनका उभाड़ और उच्छृंखलपन समाज के लिए कभी हितकर नहीं, अतः वह इन पर विजय प्राप्त करना चाहता है।

बाह्य-जगत् की भाँति हमारे अन्तर्जगत् में भी एक संघर्ष चल रहा है। इस अन्तर्द्वन्द्व में भी वही अस्तित्व और अनस्तित्व, जीवन और मृत्यु, चेतन और जड़, सत् और असत् के बीच युद्ध होता है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार इसी अन्तर्द्वन्द्व की प्रतिकृति बाह्य-जगत् में विद्यमान है; और इन दोनों में से एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े विना नहीं रह सकता। बाह्य-जगत् के अंग-भूत प्राणी और प्रकृति उद्दीपक होकर हमारे मन में अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न करते तथा उन्हें संस्कार रूप में संचित करते रहते हैं। हमारे महत् (बुद्धि) तत्त्व की दो प्रवृत्तियाँ इन अनुभूतियों और संस्कारों को दो रूपों में

* व्यूलर, विक्रमाँ० पृ० १; कीथ, हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर, पृ० १४४

कर देती है—धनात्मक प्रवृत्ति शम, दम, दया, ओदार्य आदि देवत्व रूप मे ओर ऋणात्मक प्रवृति क्रोध, मद, मत्सर आदि असुरत्व रूप मे। पुरुष-प्रकृति के सयोग से उत्पन्न 'महत्' की देवत्व-प्रवृत्ति शुद्ध चेतन-पुरुष की ओर ले जाती हे जब कि असुरत्व-प्रवृत्ति जड प्रवृत्ति की ओर। अत एक का लक्ष्य चैतन्योन्मुख सुखवाद है आर दूसरे का जडत्वोन्मुख दुखवाद, एक रस (ब्रह्मानन्द) की अनुभूति करा सक्ती ह, दूसरी विष (हलाहल) की।

महज्जन्य व्यावहारिक जगत् मे उक्त दोनो प्रवृत्तियाँ परस्पर घुली-मिली-सी है। परन्तु साहित्य मे दोनो का चित्रण आवश्यक और अनिवार्य होते हुए भी देवत्व-विजय का ही दिखलाना वाछनीय है क्योंकि यह जीवन तो वह सागर है, जिसमे से विष से लेकर रस (अमृत) तक सारे रत्न निकल सकते है। देवासुरयोग की दो चरमसीमाएं है—एक देव-दासत्व और दूसरा असुर-दासत्व, पहले का फल है अमृत तथा दूसरे का विष और इन दोनो के बीच मे है अन्य रत्न। प्रश्न यह हे कि हमे निकालना क्या हे, देव-विजय की दुन्दुभी बजाते हुए चिरजीवनदायक अमृत अथवा असुर-विजय का स्वागत करते हुए चिर-मृत्यु-विधायक विष। चाहे प्रकृति को देखिए अथवा व्यक्ति, परिवार या समाज को, सर्वत्र 'अमृत' की खोज ही वाछनीय दिखाई पडती हे। यद्यपि व्यावहारिक जगत मे अमृत अपने आत्यन्तिक रूप मे प्राप्त नही है, फिर भी वह अपने सापेक्षिक रूपो मे ही जीवन को जीने योग्य बना देता हे। इस प्यासी खोज मे ही मानव-जीवन की सार्थकता है। परन्तु इसको जागृत रखने के लिए भी देव-विजय पर दृष्टि रखना आवश्यक है, न केवल बाह्य-जगत मे अपितु अन्तर्जगत मे भी।

यही कारण है कि व्यासजी का 'जय' नामक इतिहास भारतकार तथा महाभारतकार के हाथो मे पडकर केवल दो राजवशो का युद्धमात्र ही न रह गया, उसके द्वारा कृष्ण-शक्ल, असत्-सत् अधर्म-धर्म आदि के बीच होने वाले व्यापक देव-दानव द्वन्द्व को भी व्यक्त किया गया है ओर उसमे नर की विजय द्वारा ही नर-समष्टि मे व्याप्त नारायण की विजय भी दिखलाई गयी है। अत. ऐतिहासिक कथानक मे पर्याप्त हेर-फेर करनी पडी। नारायण की शक्ति जहाँ व्यष्टि मे पञ्च ज्ञानेन्द्रियो द्वारा समान रूप से भोगी जाती है, वहाँ समष्टि मे पञ्च-जनो द्वारा, अतएव इस शक्ति की प्रतीक नारायणी (द्रौपदी) को पॉच पाण्डवो की पत्नी होना पडा। इसी प्रकार दुर्योधन के सौ भाई होना ओर उन सबका नाम 'दुर्' उपसर्ग-युक्त होना, भीष्म का शर-शय्या-शयन, कर्ण-वध या जयद्रथ-वध आदि मे अलौकिक घटनाएँ तथा अन्त मे हिमालय के लिए महाप्रस्थान आदि ऐसी बाते है, जो किन्ही आध्यात्मिक तथ्यो की प्रतीक होती हैं, जिनमे से कइयो का आधार तो स्पष्टत ऋग्वेद है।

जो बात यहाँ महाभारत के लिए कही गई है, वही न्यूनाधिक रूप में रामायण तथा ऐसे ही अन्य महाकाव्यों के लिए भी कही जा सकती है। परन्तु, जहाँ इन महाकाव्यों में ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर आध्यात्मिक तत्त्व-निरूपण किया गया है, वहाँ ऐसे महाकाव्य भी है, जिनमें आध्यात्मिक तथ्यों को ही मानवीय जीवन का जामा पहनाया गया है। इस प्रकार के महाकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कुमार-सम्भव है। कुमार-सम्भव हिमालय पर्वत के वर्णन से प्रारम्भ होता है। पर्वत का अर्थ है पर्ववान् ; पहाड़ में अनेक पर्व होते हैं, इसीलिए उसे पर्वत कहते हैं। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड मे भी अनेक पर्व है ; अतः वैदिक साहित्य की भाँति कुमार-सम्भव में पर्वत इन दोनो के प्रतीक के रूप में आया है। इस पार्वत की कन्या पर्वती वही शक्ति है, जो पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एकसी व्याप्त है और जिसको वैदिक साहित्य में "हेमवती उमा' या केवल उमा कहा गया है। यह पर्वत बड़ा भारी प्रजापित है, जिसके राज्य मे अनेक देवकर्मों द्वारा यज्ञ विस्तार पाता है, परन्तु असुरत्व के प्रतीक तारक आदि से आक्रान्त होने पर इसकी सम्भावना नही की जा सकती है। इस तारक का वध उक्त उमा तथा अजरामर शिव ब्रह्म के संयोग से उत्पन्न कुमार ही कर सकता है। अतः इस दिव्य-संयोग तथा कुमार-जन्म को लक्ष्य रख कर ही कुमार-सम्भव लिखा गया है। इस लक्ष्य की पूर्ति कवि ने न केवल व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में अपितु दाम्पत्य-जीवन तथा सामाजिक जीवन में भी दिखाने का प्रयत्न किया है।

(ङ) देव-द्वंद्वचित्रण का उपयोग

देव-दानव-द्वंद्व का चित्रण भारतीय महाकाव्य में एक विशेष महत्त्व रखता है। यह चित्रण वास्तव में भारतीय काव्य का यथार्थवाद है, क्योंकि इसके द्वारा जीवन में होने वाले सुख-दुख, जय-पराजय, लाभ-हानि, उत्थान-पतन आदि के द्वंद्वों का चित्रण हो जाता है। परन्तु यह वह यथार्थवाद नही जो दुख, पराजय, हानि, पतन आदि को श्लाघ्य पद प्रदान करे और पाठकों के मन निराशा, क्षोभ या असन्तोष की आँधी उत्पन्न करके उनको पथ-भ्रष्ट करे। यह वह यथार्थवाद है, जो जन-जन के मन में रहने वाली सुख और प्रगति की इच्छा को जागृत रखना है और विश्व-नाश या संकट-मुक्ति की प्रबल आशा को बनाये रखता है क्योंकि इसके बिना उस देव-विजय की आशा नहीं जो व्यष्टि और समष्टि में सर्वत्र विकासोन्मुखी और कल्याण-विधायिनी शक्तियों की प्रतीक है।

देव-विजय के व्यापक चित्रण में ब्रह्मानन्द व्यक्तिगत साधना के दुर्गम और संकीर्ण स्थल से निकलकर सहस्रधार हो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बरसता

हुआ प्रतीत होता है और आबाल-वृद्ध के आचरण मे अभिव्यक्त होकर सदाचार और सयम के रूप मे समष्टि के जीवन मे आह्लाद और उल्लास की वृद्धि करता है। यही रस का समाजीकरण है। स्थितप्रज्ञ योगी आत्मा के जिस सौन्दर्यपुञ्ज की अनुभति समाधि मे तथा अभिव्यक्ति अपने व्यक्तिगत 'व्यवहार' मे करता है गीति-काव्यकार उसी की फुलझडियो को कुछ नीचे स्तर पर ग्रहण करके अपनी गतियो को सजीव करता है, और महाकाव्यकार उसी के विश्ववितत महारश्मि-जाल को चित्रित कर व्यष्टियो के सश्लिप्ट समष्टिजीवन को सत्, सरस तथा सुन्दर बनाता हे। गीति-काव्य की सफलता भाव-घनत्व मे हे, जब कि महाकाव्य की भाव-विस्तार मे। यद्यपि महाकाव्य मे गीति-काव्य की भाँति पद-पद मे काव्यत्व नही होता, परन्तु उसकी समष्टि मे जो काव्यत्व होता है और उसके विस्तार, व्यापकत्व तथा विशालत्व का जो प्रभाव पडता है वह अन्ततोगत्वा अधिक तीव्र तथा स्थायी होता है। यही कारण है कि महाकाव्य मे समष्टि-साधना तथा युग-निर्माण की जो सामग्री तथा शक्ति होती है, वह गीति-काव्य मे नही। रामायण, महाभारत, रामचरित-मानस आदि की सफलता तथा स्थायी लोक-प्रियता का यही रहस्य हे।

(२) कामायनी का महाकाव्यत्व काव्यात्मा

(क) कामायनी में रस

भारतीय महाकाव्य का जो रूप यहाँ स्थिर किया गया है, उसके अनुसार कामायनी के महाकाव्य का मूल्य आँकने के लिए उसके आत्मा और शरीर दोनो की परीक्षा करनी होगी। जैसा पहले कहा जा चुका है, अन्य काव्यो की भाँति महाकाव्य की आत्मा भी रस ही है और यह रस वास्तव मे एक ही है जो अनेक विभिन्न रसो, भावो, सञ्चारियो आदि मे नानारूप होकर रहता है। शृगार-प्रकाशादि के मतानुसार यह मूल रस शृगार है, जब कि भवभूति कहते हैं कि एक करुण रस ही निमित्त-भेद से पृथक-पृथक रूप उसी प्रकार धारण कर लेता है, जिस प्रकार आवर्त, बुद्बुद्, तरग आदि विकारो को प्राप्त होने वाला जल —

एको रसः करुण एवं निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

कामायनी से इन दोनो मतो की पुष्टि होती है—प्रारम्भ से देखने पर दूसरे की और अन्त से देखने पर पहले की।

भाव—विलास

कामायनी के प्रारम्भ मे करुणार्द्र मनु चिन्ता-कातर वदन लिये हुये एकान्त मे बैठे है और 'एक मर्म-वेदना करुणा-विकल कहानी सी निकल रही है' मानों वह कह रही है कि:—

इस करुणा-कलित हृदय मे
अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

जल-प्लावन के विनाश, विध्वस और प्रलय द्वारा विभावित करुण-भाव 'ऑसू' की भाषा मे, मनु-हृदय, मे 'स्मृतियो की एक बस्ती' बसा देता है और अतीत वैभव-विलास, प्रताप-प्रभुत्व, कीर्ति-दीप्ति की निरन्तर याद से उसके 'मस्तक मे जो घनीभूत पीडा छाई' हुई है वह राम के करुण-रस के समान पुट-पाक-तुल्य भीतर-ही-भीतर व्यथित कर रही है —

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढ़घनव्यथः
पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।

अन्त में 'पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाह. प्रतिक्रिया। शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेवधार्यते' के अनुसार वह प्रलाप करने लगता है ; करुणभाव चिता, अनुताप, परिताप, पश्चात्ताप, घृणा, क्रोध, भय, विषाद, निराशा आदि मे परि-वर्तित होता है (१, १०-३२) और मनु अत्यन्त करुणीय, व्यथित एवं अवसन्न होकर मृत्यु की शीतल गोद का आह्वान करता है —

मृत्यु ! अरी चिरनिद्रे ! तेरा
अंक हिमानी सा शीतल।

दूसरे सर्ग मे मनु की दशा बदली ; रौद्र जलप्लावन तथा करुण विध्वस के हटते ही 'व्याधि की सूत्र धारिणी' चिता ने अपना रूप बदलकर मनु के इस कथन को सार्थक किया:—

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता
तेरे हैं कितने नाम।

और स्हपृणीय आशा का कलेवर धारण कर उनके 'सदय हृदय' में 'मधुर स्वप्न सी झिलमिल' हो व्यक्त हुई और उसने देखा.—

जीवन ! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह।

* * *

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में ?
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

फिर क्या था ? मनु कर्म-निरत हुए ; पाकयज्ञ करने लगे; हृदय में सहानुभूति उमड़ी और यश्चित कश्चित अपरिचित के लिये यज्ञशिष्ट अन्न को दूर रखने लगे। साथ ही मनन-चितन ने नई समस्यायें ला खड़ी की ; नई चिन्तायें जगी, एक अभाव का अनुभव हुआ और मधुर प्राकृतिक भूख समान आदि वासना, उत्पन्न हुई तथा मनु के हृदय मे एक टीस, एक व्याकुलता और एक अधीर चाह ने प्रवेश किया। उसका 'मन संवेदन से चोट खाकर विकल हो उठा' और वह कातर हो कहने लगा:—

कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो।

श्रद्धा के आते ही मनु उसे 'लुटे से निरखने लगे'; प्रथम परिचय के पश्चात गृहपति और अतिथि रूप मे रहते हुए उन दोनों में 'जीवन वन के मधुमय वसन्त' काम ने प्रवेश किया और वे दोनो एक दूसरे के प्रति एक हिचकिचाहट-भरे आकर्षण का अनुभव करने लगे:—

था समर्पण मे ग्रहण का एक सुनिहित भाव।
थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सदा अटकाव।
चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल;
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।

यह आकर्षण बढ़ता गया और मनु के हृदय में एक 'नई इच्छा' उस 'अतिथि का सकेत' लेकर आने लगी—वह श्रद्धा का 'भूखा' हो गया। अतः उसे श्रद्धा तथा पशु के बीच प्रेम का आदान-प्रदान भी नही रुचा और उसका हृदय क्षण भर को वेदना, व्यथा, ईर्ष्या-द्वेष का क्रीडास्थल बन गया:—

किन्तु यह क्या ? एक तीखी घूँट, हिचकी आह !
कौन देता है हृदय में वेदना-मय डाह ?

क्योंकि वह प्रेम का प्रतिदान चाहता है और चाहता है अपने प्रेम-पात्र पर एकाधिपत्य:—

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान।
सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान॥

इस अवस्था में श्रद्धा का पास आना और अनमने मनु के प्रति सहानुभूति, स्नेह तथा सत्कार प्रदर्शित करना रति-भाव को व्यक्त होने का अवसर प्रदान

करता है—मनु सव्रीड़ 'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' कहता हुआ अधीर, अशांत, उद्-भ्रान्त तथा उन्मत्त (५-९२) हो जाता है:–

> छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
> धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त ।
> वात-चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
> धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश ।

प्रेम की इस परिणति के समय श्रद्धा का हृदय भी उसी प्रकार आलोडित है और वह लज्जा, पुलक, रोमाञ्च, भ्रू-विक्षेप, उल्लास आदि से युक्त होकर रत्यनभावों की साक्षात् मूर्ति हो जाती है :—

> झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार ।
> लद गई पाकर पुरुष का मर्म-मय उपचार ।
> और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
> आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव ।
> मधुर व्रीड़ा-मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
> हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास ।
> गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
> भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक ।
> स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
> खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्गद् बोल ।

अन्त में सम्भोग-शृंगार की अन्तिम बाधा लज्जा को भी 'कुचल' दिया जाता है और रक्त खौलाने वाले 'व्याकुल चुम्बन' से शीतल प्राण धधक उठता है (७-१३६) ।

संभोग-शृंगार के इस रति-भाव को निमित्त-भेद से बदलने देर नहीं लगती । मनु के यज्ञ में 'रुधिर के छींटे, अस्थि-खण्ड की माला, पशु की कातर-वाणी' से श्रद्धा के मन में जुगुप्सा, मोह, ग्लानि, आवेग, चिन्ता, घृणा आदि उत्पन्न हो जाते हैं (१२६-१२९) । इनके कारण रूठी हुई श्रद्धा को मनाने में मान-विप्रलम्भ का प्रारम्भ हो जाता है । उधर गर्भिणी श्रद्धा से आकर्षण का अभाव अतृप्त-मनु के हृदय में एक आकुलता उत्पन्न कर देता है; श्रद्धा का शिशु-स्नेह दृप्त और स्वार्थी मनु में ईर्ष्या प्रदीप्त कर देता है :—

> यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
> है प्रेम बाँटने का प्रकार ।

फलतः वह श्रद्धा को छोड़ चला जाता है और श्रद्धा करुण-विप्रलम्भ में शंका, औत्सुक्य, स्मृति, चिन्ता, उद्वेग, उन्माद, स्वप्न, निर्वेद आदि से पीड़ित

होती (१७५-१८६) है, परन्तु बच्चे के भोले प्रश्न और उसकी किलकारी श्रद्धा के विषण्ण हृदय में वात्सल्य-रस की प्रतिष्ठा कर देते हैं:—

'मा'—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गई
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

प्रवास-काल ईर्ष्या-हेतुक विप्रलम्भ के स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप मनु का रति-भाव श्रद्धा से हटकर इडा पर जमता है और वह अन्त में 'अतिचार' के रूप में व्यक्त होता है, जिससे इडा के मन में भय उत्पन्न होने से भयानक रस का आभास आ जाता है—

आलिंगन ! फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे काँप उठी।
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी।

मनु की इस कुचेष्टा से अपनी रानी का मान-भग होते देखकर प्रजा क्रुद्ध हुई और मनु के दर्प-पूर्ण कठोर वचनों से उसका क्रोध और उद्दीप्त होता गया; फलतः अमर्ष, उत्साह उग्रता आदि संचारियों से पुष्ट होता हुआ रौद्र रस प्रकट होता है :—

अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी।

* *

उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव-शक्तियाँ क्रोधभरी,
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।
धूमकेतु सा चला रुद्र-नाराच भयंकर,
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरीं मनु पर, मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर,
रक्त-नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।

इस अनिष्ट-प्राप्ति पर शोक, क्षोभ, ग्लानि, जुगुप्सा, शंका आदि से प्रताडित मनु-हृदय में निर्वेद की भावना अंकुरित होकर पनपती है (२१८-२१९); श्रद्धा मिलन से तुष्टि, सांत्वना तथा विश्वास पाकर शान्त-रस की भूमिका प्रारम्भ होती है और असफलताओं से मनु के मन में तीव्र विराग जागृत होकर निर्वेद को उद्दीप्त करता है:—

सोच रहे थे "जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है,

भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है ?

और चिर शान्ति की चाह उसे (निर्वेद को) स्थायित्व की ओर ढकेलती है; श्रद्धा के पुनर्मिलन से, मनु के हृदय में उसके प्रति जो रति-भाव था, वह शुद्ध भक्ति-भाव में बदल जाता है:—

तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृ-मूर्ति हे निर्विकार;
हे सर्वमंगले ! तुम महती
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,

तब श्रद्धा "तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात" कहकर मनु को संबल प्रदान करती हुई उसे 'समरस अखण्ड आनन्द' की झलक दिखाती है, जिससे मनु के हृदय में आनन्द-तत्त्व के प्रति तीव्रतम उत्कण्ठा जागरित होती है:—

देखा मनु ने नर्त्तित नटेश,
हत-चेत पुकार उठे विशेष;
'यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप-पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल ।

यहाँ पर तत्त्व ज्ञान-जनित उस भाव की झलक मिलती है जिसे मम्मट* ने स्थायी निर्वेद तथा नाटयशास्त्रकार ने शम कहा है, और जो हर्ष, मति, स्मृति, निर्वेद आदि संचारियों द्वारा पुष्ट होता हुआ त्रिपुर-रहस्य आदि के दर्शन से उद्भूत अद्भुत रस की विभूति पाकर परिपाक को प्राप्त हो जाता है और सुख-दुख, ईर्ष्या-द्वेषादि द्वन्द्वों के स्थान पर एक समरसता-पूर्ण 'अखण्ड आनन्द' का साम्राज्य हो जाता है :—

सुख सहचर दुःख विदूषक
परिहास-पूर्ण कर अभिनय;
सब की विस्मृति के पट में
छिप बैठा था अब निर्भय ।

* *

---

* स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद्भवेद्यदि;
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ ।

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था ।

साहित्य-दर्पणकार ने शान्त रस की इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि उसमें सुख-दु.ख, ईर्ष्या-द्वेष, चिन्ता, इच्छा आदि नहीं रहते, केवल शम की प्रधानता रहती है :—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता, न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः, सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ।

एक रस

इस शान्त रस से हम आनन्दमयकोश की उस रसानुभूति की कल्पना कर सकते हैं, जिसे "अद्वैत सुखदु:खयो:" कहा गया है; यह पूर्ण, अखण्ड, एक आनन्द है, जिसमें सुख-दुख दोनो एकाकार होकर द्वंद्वातीत अव्याकृत आस्वाद रूप में हो जाते हैं। शान्त-रस की अवस्था में सुख-दुख का द्वैत प्रारम्भ हो जाता है; परन्तु वह व्याकृत एवं संयुक्त होकर रहता है :—

लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे ।

यह 'विज्ञानमय कोश' की अनुभूति है; यहाँ से नीचे उतर कर मनोमय, प्राणमय, तथा अन्नमय कोशों में यही अनुभूति सुख और दु:ख, शृंगार और करुण दो सुदूर और पृथक किनारों के बीच सरिता के समान बहती हुई चलती है; इस सरिता का जो भाग जिस किनारे (सुख या दु:ख) से जितना निकट या दूर होता है, उस पर उसका उतना ही अधिक या कम रंग चढ़ा हुआ होता है। बीभत्स, रौद्र और भयानक करुण के प्रभाव-क्षेत्र मे हैं, तो वीर, हास्य और अद्भुत शृंगार के प्रभाव-क्षेत्र मे । अत: जहाँ यह कहना ठीक है कि मनु का दु:ख निमित्तभेद से बदलता हुआ शृंगारादि का रूप धारण करता है, वहाँ यह भी ठीक है कि जलप्लावन-पूर्व का शृंगार निमित्तभेद से मनु-हृदय में चिन्ता, आशा, ईर्ष्या, निर्वेद, विस्मय, भय आदि में बदल जाता है । वास्तव में ये दोनों किनारे शान्त-रस में आकर मिल जाते हैं; सुख-दुख की अन्तिम, परिणति निर्वेद में होती है ।

(ख) रस का समाजीकरण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महाकाव्य में, एक प्रकार से, रस का समाजीकरण होता है; और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कथानक का सदाश्रयत्व या ऐतिहासिकत्व, नायक का चतुरोदात्तत्व तथा चतुर्वर्ग-प्राप्ति अपेक्षित माने गये हैं। यों तो कथानक और नायक के विषय में आगे विस्तारपूर्वक कहा गया है, परन्तु जहाँ तक इन बातों का सम्बन्ध रस से है वहाँ तक कुछ विवेचन यहाँ भी आवश्यक है।

कथानक और नायक

कामायनी के कथानक की सृष्टि मनु को केन्द्र मानकर हुई है; यह मनु न केवल शान्ति और व्यवस्था के विधायक इतिहास-प्रसिद्ध राजर्षि मनु हैं, अपितु मननशील मानवता के प्रतीक मनुष्य-सामान्य मनु भी हैं। अतः प्रथम सर्ग का चिन्तन और प्रलाप जहाँ मनु की ऐतिहासिकता के कारण अधिक करुण और प्रभावोत्पादक हो जाता है, वहाँ दूसरी दृष्टि से वह अधिक स्वाभाविक, सुगम एवं हृदयग्राही हो जाता है। इतिहास के कारण मनु से हमारा रागात्मक सम्बन्ध पहले से ही है; अतः उनके करुण-क्रन्दन पर हमारा हृदय सहानुभूति से द्रवीभूत हो जाता है। परन्तु जब हम देखते हैं कि मनु कोई और नहीं केवल 'अन्नरसमयकोश' में फँसा हुआ जीव है, जो 'जल-माया' के आवरण से अपनी सारी देव-विभूति को खो बैठा है, तो हम उससे जिस तादात्म्य का अनुभव करते हैं, वह अधिक यथार्थ होता है और हम 'वैराग्य-शतक' की भाषा में न बोलकर सूर अथवा तुलसी के भक्ति-कातर स्वर में बोल पड़ते हैं।

इतिहास

कामायनी के कथानक की ऐतिहासिकता के विषय में प्रसादजी ने लिखा है—"आर्य साहित्य में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वतमनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनु और मन्वन्तरों के विषय में हमारा साहित्य भरा पड़ा है। परन्तु कठिनाई यह है कि पुराणों के अनुसार अनेक कल्प हैं और

प्रत्येक कल्प में चौदह मन्वन्तर हैं जिनमें से प्रत्येक में एक-एक मनु होता है। वर्तमान कल्प में छः मन्वन्तर बीत चुके हैं सातवाँ चल रहा है तथा शेष अभी भविष्य के गर्भ में हैं। अतः यदि मनुओं की अनेकता को ज्यों-का-त्यों ऐतिहासिक तथ्य मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि कामायनी की कथा किस मनु की जीवन-कथा है। दूसरे भावी मन्वन्तरों की संगति प्रचलित ऐतिहासिक कल्पना के साथ नहीं बैठती; अतएव श्रीनारायण अय्यर ने इस प्रकार के इतिहास को 'सनातन इतिहास[1]' (Permanent History) कहा है। यह वस्तुतः मनोवैज्ञानिक विकास का ही दूसरा नाम है, इसी दृष्टि से भागवतपुराण मन्वन्तरों को सद्धर्म का ह्रास-विकासात्मक प्रवाह (मन्वन्तराणि-सद्धर्म) मानता प्रतीत होता है और पद्मपुराण में चौदह मनुओं के नाम शुक्ल से लेकर कालंधुर (घोर काला) रंगों के नाम पर ही रक्खे गये हैं। आदिपुरुष[2] की विभिन्न कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्य की चिरंतन आत्मा को ही मनु, मैन, मेनुस, आयु, यम, जमा, प्राण, पाअन, ब्रह्म, इब्राह्म तथा आदम आदि माना गया है।

इसके विपरीत विद्वानों ने मनु और मन्वन्तरों को ऐतिहासिक तथ्य मानकर भी गवेषणा की है और वे सब इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे है कि 'मनु' सम्भवतः एक व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर जातिवाचक संज्ञा है। उनके अनुसार 'मनु' एक उपाधि थी[3]। प्रो० मन्कन्ड[4] के मत से मनु शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता था—किसी राजकुल की उपाधि जो उस कुल का प्रत्येक राजा ग्रहण करता था तथा एक नये राज्य के संस्थापक तथा नये वंश के जन्मदाता की उपाधि—इसी के लिए कभी-कभी मन्वन्तराधीश शब्द प्रयोग भी हुआ है। इस मत की पुष्टि इस बात से भी होती है कि जैन परम्परा में भी मनु को कुलकर कहा जाता है।

अस्तु, इस मत के अनुसार भी चौदह मनुओं में से प्रथम सात मनु ही ऐतिहासिक व्यक्ति माने गये हैं। जिनमें वैवस्वतमनु सातवें हैं, इस मनु का नाम पुराणों में श्राद्धदेव भी मिलता है[5] और उनकी स्त्री का नाम भी श्रद्धा है। परन्तु इला उसकी कन्या है और बलात्कार आदि की वैदिक कथा का कोई उल्लेख नहीं

---

१ देखिये Permanent History of Bharatavarsha.

२ एशियाई संस्कृति को संस्कृत की देन।

३ देखिये 'भारत का आदि सम्राट' स्वामी कर्मानन्द कृत, पृ० ४२

४ Pauranic Chronology, पृष्ठ २५

५ योसावस्मिन्हाकल्पे तनयः सः विवस्वतः।
श्रद्धादेवो इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः ॥

मिलता, वैदिक इड़ा की भाँति यह इला देवस्वसा भी नहीं है जिसके लिए मनु पर रुद्र का कोप हुआ है। इसके विपरीत पौराणिक इला 'सुद्युम्न' नाम के पुरुष रूप में परिवर्तित होती है और अन्त में फिर शाप के वशीभूत होकर स्त्रीरूप पाकर पुनः चन्द्रपुत्र बुध के संसर्ग से 'पुरुरवा' को जन्म देती है। वहाँ भी यही स्मरणीय है कि वेद में भी सम्भवतः उसे 'ऐड' (इडा का पुत्र) कहा गया है। अतः वैवस्वतमनु को ऐतिहासिक पुरुष मान लेने पर भी 'कामायनी' तथा 'वेद' के इला-प्रसंग की कोई संगति नहीं बैठती। इसलिए इला प्रसंग तथा उसके इधर-उधर की अन्य घटनाओं को इतिहास के तथ्य न मानकर 'सनातन इतिहास' (मनोवैज्ञानिक) के ही तथ्य मानना अधिक उपयुक्त होगा।

उक्त ऐतिहासिक दृष्टि को मान लेने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि आठवें से लेकर चौदह मनुओं को बिल्कुल मन-गढ़न्त मानना पड़ता है परन्तु यह मन-गढ़न्त भी किस लिए ? एक-आध स्थल पर इनका उल्लेख होता, तो मान लिया जाता कि यह एक साहित्यिक 'गप्प' है। परन्तु परम्परा में पुराण तत्त्व को एक गम्भीर रहस्य माना जाता है। जिसमें 'गप्पबाजी' नहीं फबती। फिर लगभग सभी पुराण तथा जैन और बौद्ध परंपरा मनुओं और मन्वन्तरों के उल्लेखों से भरी पड़ी है। अतः मानना पड़ेगा कि यदि सात मनु ऐतिहासिक हैं तो अन्य सात की कल्पना भी किसी आधार पर स्थित होगी। यह आधार जैसा कि[1] अन्यत्र बतलाया गया है वही है जो पुराणों के १४ लोकों तथा जैन-दर्शन के १४ गुणस्थानों का है—इसमें आत्मा से परमात्मा होने की सारी विकास क्रिया है, जो १४ अवस्थाओं में समाप्त होती है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन में उक्त 'मनोवैज्ञानिक विकास' को मनु तथा मन्वन्तर के रूपक द्वारा प्रकट करने की प्रथा चली आ रही थी। उसको अधिक यथार्थता लाने के लिए यथासम्भव इतिहास का भी प्रवेश कर लिया और जहाँ संभव न हो सका वहाँ काल्पनिक रूपक ही काम देते रहे। अस्तु, वैदिक मनु-कथा तो रूपक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं प्रतीत होती, बहुत सम्भव है पुराणों में जाकर जब इसका मेल ऐतिहासिक मनु कथा से हुआ तो इतिहास तथा रूपक को एक ही कथा के द्वारा व्यक्त करने की दृष्टि से एक के तथ्य दूसरों के तथ्यों से ऐसे मिलजुल गये हों कि आज इनका पृथक करना असम्भव हो रहा हो यह बात यहीं नहीं, महाभारत तथा रामायण के कथानकों में भी हुई है, वस्तुतः इतिहास के माध्यम से अध्यात्म को समझाने की शैली भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है।

---

१ भारतीय समाजशास्त्र, पृ० १८-२२

२ वही, पृ० १०-१५; १८-२५

कथानक का सदाश्रयत्व

कामायनी के कथानक का सदाश्रयत्व श्रद्धा के चरित्र मे निहित है। स्त्री-रूप में वह 'दया, माया, ममता' की मूर्ति है। किलाताकुलि के हिसावाद के चक्कर में पड़कर मनु जब पथभ्रष्ट होता है, तो भी श्रद्धा अचल रहती है। पशु-बलि के बीभत्स दृश्य से क्षुब्ध होकर, वह प्राणि-मात्र के लिए समवेदना अनुभव करती हुई तथा मनृ के स्वार्थवाद पर भर्त्सना करती हुई कहती है :—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत करलो
सब को सुखी बनाओ।
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे;
इतर प्राणियों की पीड़ा लख,
अपना मुँह मोड़ोगे।

इसी प्रकार अहेरी मनु की हिंसामयी वृत्तियों को देखकर भी, वह 'निरीह' पशुओं के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती हुई पाठकों की करुणा को विस्तार प्रदान करती है :—

चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों मांसल बनकर
हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम।
वे द्रोह न करने के स्थल हैं,
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु।"

इस प्रकार श्रद्धा की सर्वमंगला करुणामयी मूर्ति को देखकर, हम उसके साथ रोने और हँसने लगते हैं। वासना का कीड़ा मनु जब श्रद्धा को छोड़ता है, तो वह एक साधारण स्त्री को नहीं छोड़ता, वह प्राणिमात्र की स्नेहमयी माता को छोड़ता है; अतः पाठक उसे क्षमा नहीं करते और जब मनु का यह कलुष इडा के प्रति 'अतिचार' रूप में प्रकट होता है, तो सारस्वतनगर की प्रजा तथा प्रकृति के साथ ही वे भी 'रुद्र-हुंकार' कर उठते हैं। मुमूर्षु मनु के लिए हमारा

हृदय द्रवित होता है, परन्तु इसका कारण मनु का चरित्र नहीं, श्रद्धा की सहानुभूति, करुणा और कातरता है, जो उसकी वाणी से प्रवाहित हो रही है :—

अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा ?

* * *

कैसे पाऊँगी उसको मैं
कोई आकर कह दे रे ।

उसके देवोपम सौजन्य, त्याग तथा औदार्य्य से यहाँ हम अत्यंत प्रभावित होते हैं और इडा-रूप में सारस्वत-प्रदेश और मनु के साथ ही उसके मातृरूप के सामने सभक्ति अपना मस्तक झुका देते हैं :—

अम्बे फिर क्यों इतना विराग,
(इडा)
तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार ।
(मनु)

'चिन्ता' सर्ग में मनु ने जिज्ञासा-भरे नेत्रों से प्रकृति को देख-कर, जिस व्यापक 'रहस्य' के प्रति कुतूहल प्रकट किया था, वही श्रद्धासंवलित निर्विण्ण मनु के मन में विस्मय का संचार करता हुआ त्रिपुर-रहस्य का उद्घाटन कराके अद्भत-रस का सुविस्तृत आलंबन जुटाता है और अन्त में नर्तित नटेश के दर्शन करके एक व्यापक आनन्द में परिवर्तित हो जाता है :—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित,
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरंगायित था,
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन ।

* * *

चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर ।

यहाँ एक स्मरणीय बात यह है कि इस व्यापक आनन्दानुभूति को भी प्रसादजी ने एकान्त व्यक्तिगत जीवन की घटना नहीं रक्खा; सारे सारस्वत प्रदेश के यात्रियों के साथ-साथ ही हम भी इस अनुभूति की ओर प्रगतिशील होते हैं :—

चलता था धीरे धीरे
वह एक यात्रियों का दल;
सरिता के रम्य पुलिन में
गिरि-पथ से ले निज सबल।

रस-समाजीकरण का रहस्य

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कथानक का सदाश्रयत्व ही रस के समाजीकरण का मूल कारण है। श्रद्धा का सत्व और देवत्व न केवल रसो के लिए व्यापक आलम्बन उपस्थित करने मे सफल होते है, अपितु स्वय रसानुभूति उसके कारण ही व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत हो जाती हे। परन्तु इस रस-विस्तार की वास्तविक लक्ष्य-पूर्ति तभी होती है, जब व्यष्टि का 'स्व' समष्टि का 'स्व' हो जावे और व्यक्ति कह उठे —

मै की मेरी चेतनता
सब को ही स्पर्श किये सो;
सब भिन्न परिस्थितियो की
है मादक घूँट पिये सो।

इस ध्येय की यथार्थ पूर्ति केवल बहिर्मुखी दृष्टि से सम्भव नही। यह तभी सम्भव हो सकती है, जब सीता राजा राम की सती रानी न रहकर 'उद्भव-स्थितिसहारकारिणी' शक्ति हो जाये और श्रद्धा 'जगत मगल-कामना कामायनी' अथवा महाशक्ति जगदम्बा हो जाये, जिसमे हम देखे—

वह विश्व चेतना पुलकित
थी पूर्ण काम की प्रतिमा;
जैसे गम्भीर महाह्रद,
हो भरा विमल जल-महिमा।

कामायनी के इस रूप को हम जितना ही अधिक समझेंगे, रसानुभूति की ओर हम उतने ही अग्रसर होगे।

(ग) चतुर्वर्ग-प्राप्ति

चतुर्वर्ग विधान से महाकाव्य का रस-निरुपण अधिक यथार्थ और स्पष्ट हो जाता है। अत कामायनी मे चतुर्वर्गप्राप्ति का जो स्वरूप है, उसे समझ लेना आवश्यक है।

काम-अर्थ

चतुर्वर्ग मे काम सर्व-प्रमुख है। साधारण अर्थ मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

गंध की एक व्याकुल प्यास को ही काम[1] कहते हैं, जो श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इन्द्रियों के सहारे अपने पंचशरों का प्रहार करता है :—

पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा।

हमारे स्थूल-शरीर में यही 'भूख' नाना प्रकार की इच्छाओं और वासनाओं के रूप में प्रकट होती है, जिनकी तृप्ति के लिए स्पर्शादिमय अर्थों को एकत्र करना ही प्रायः हमारा ध्येय हो जाता है। निर्वेद से पूर्व मनु इसी प्रकार के काम का दास है।

जो इसी कामोपासना को अपना साध्य मान लेते हैं, वे दुःख भोगते हैं। 'अनादि वासना' के रूप में जागकर इसी काम ने मनु के एकाकी जीवन को अशांत बनाया; इसी ने मनु के दाम्पत्य जीवन को उजाड़ा और उसको ईर्ष्या-वासना का शिकार बनाकर इधर-उधर भटकाया। इसी के कारण सारस्वत-प्रदेश का सामाजिक जीवन घोर संघर्ष से युक्त होकर छिन्न-भिन्न हुआ और इसी की उपासना करते-करते देव जाति 'विलासिता के नद में' बहती हुई प्रलयकारी जल-प्लावन में निमग्न हो गयी। इसके परिणाम का चित्र[2] काम के अभिशाप के रूप में कामायनी में ही इस प्रकार दिया गया है :—

"अब तुम्हारा प्रजातन्त्र शाप से भरा हो। यह मानव-प्रजा की नयी सृष्टि द्वयता में लगी निरन्तर वर्णों की सृष्टि करती रहे और अनजान समस्यायें रचकर अपनी ही विनाश-साधन करती रहे, अनन्त कलह-कोलाहल चले, एकता नष्ट हो; भेद बढ़े, अभिलषित वस्तु मिलनी तो दूर, अनिच्छित दुःख मिले। अपने दिल की जड़ता हृदयों पर परदा डाल दे; एक-दूसरे को हम पहचान न सकें, विश्व गिरता-पड़ता चले, सब कुछ पास धरा हो, तब भी सन्तोष सदा दूर रहेगा यह संकुचित दृष्टि दुःख देगी।"

"कितनी उमंगें अनवरत उठेंगी। अभिलाषाओं के शैल-शृंग आँसू के बादलों से चुम्बित हो। जीवन-नद हाहाकार से भरा हो, उसमें पीड़ा की तरंगें उठती हों; लालसा-भरे यौवन के दिन पतझड़-से बीत जायँ; सदा नये सन्देह पैदा होते रहेंगे और उनमें संतप्त भीत स्व-जनों का विरोध काली रात बनकर फैलेगा, श्यामला प्रकृति-लक्ष्मी दारिद्र्य से संवलित हो विलखती रहेगी। नर तृष्णा की ज्वाला का पतंग बनकर दुःख के बादल में इन्द्र-धनुष-सा कितने रंग बदलेगा।"

---

१ श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्ते न मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु-स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः।

२ सुमन, पृ० १९९

"प्रेम पवित्र न रह जाये; कल्याण का रहस्य स्वार्थों से आवृत होकर भीत हो रहे; आकांक्षारूपी सागर की सीमा सदा निराशा का सूना क्षितिज हो। तुम अपने को सैकड़ों टुकड़ों में बाँटकर सब राग-विराग करो। मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध हो; दोनों मे सद्भाव न हो। जब मस्तिष्क एक जगह चलने को कहे तो विकल हृदय कही दूसरी जगह चला जाय। सारा वर्तमान रोकर बीत जाय और अतीत एक सुन्दर सपना बन जाय। कभी हार हो, कभी जीत। असीम अमोघ शक्ति संकुचित हो जाय। भेद-भावों से भरी भक्ति जीवन को बाधाओं से भरे मार्ग पर ले जाय; कभी अपूर्ण अहंकार में आसक्ति हो जाय, व्यापकता भाग्य की प्रेरणा बनकर अपनी सीमा में बन्द हो जाय; सर्वज्ञ-ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ छन्द रचे; सम्पूर्ण कर्तृत्व नश्वर छाया-सी बनकर आवे; नित्यता पल-पल मे विभाजित हो और तुम यह न समझ सको कि बुराई से शुभ इच्छा की शक्ति बड़ी है। सारा जीवन युद्ध बन जाय और खून की उस आग की वर्षा में सभी शुद्ध भाव बह जायँ। अपनी ही शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही विरुद्ध होकर, अपने को ढके रहो और अपना बनावटी रूप दिखलाओ, पृथ्वी मे समतल पर दम्भ का ऊँचा स्तूप चलता-फिरता दिखाई दे।"

धर्म-मोक्ष

यह है कामार्थपरता को साध्य रूप में देखने का परिणाम; परन्तु इसी को यदि हम साधन रूप में मानकर चलें और काम-तृप्ति कर्तव्यबुद्धि या धर्म-भावना से करें, तो हमारा काम 'धर्माविरुद्ध काम' हो जाय, जिससे शम, दम आदि की प्राप्ति होकर मोक्ष-मार्ग भी मिल सके। श्रद्धा का काम ऐसा ही काम है।

श्रद्धा के हृदय मे भी वासना जगती है और वह भी मनु से आकृष्ट होकर आत्म-अमर्पण करती है, परन्तु केवल वासना-तृप्ति के उद्देश्य से नही अपितु दया, माया, ममता, मधुरिमा और विश्वास प्रदान करने के लिए :—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ,
तुम्हारे लिये खुला है पास।

श्रद्धा को 'यह अतृप्ति अधीर मन का क्षोभयुत उन्माद' एक परिचित अनु-भूति है, परन्तु वह उसको संयम के अंकुश से वश में भी रखती है, जिससे उसका उपयोग 'हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य' को व्यक्त करने के लिए ही होता है। अतएव श्रद्धा का हृदय विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत है और वह पशु-पक्षियों के दुःख से भी दयार्द्र हो उठती है। ईर्ष्या-द्वेष तो वह जानती ही नहीं और न वह दम्भ, द्रोह,

क्रोध से परिचित है। उसका हृदय ऐसे शुद्ध-प्रेम से आप्लावित है, जो अपराधी मनु के लिए भी निरन्तर रहता है और मनु की अपराधिनी इडा का भी उसी प्रकार स्वागत करता है। इस प्रकार का आचरण धर्ममय कामार्थपरता का परिणाम है; ऐसे आचरण में आत्मा की उस दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति होती है, जिसे 'रसो वै सः' कहा गया है। यह आचरण का काव्य है, जिसका रसास्वादन करके आस्वादक अपना चरित्र बनाते है; इसी काव्य द्वारा 'रस' का ठोस-से-ठोस समाजीकरण होता है, जिससे समाज का नैतिक धरातल ऊंचा होकर वह देवत्व की ओर अग्रसर होता है—यथार्थ रसत्व ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त करने लगता है। इसी काम द्वारा काम का वह सूक्ष्म रूप प्राप्त होता है, जो 'विज्ञानमय' कोश में अनुभव किया जाता है और जिसको वेद मे 'मनस. रेतः' कहा गया है।

अतः काम के इसी रूप द्वारा श्रद्धा न केवल अपने को अविचलित रखती है अपितु मनु के मनस्ताप को भी दूर करके उसे शान्ति, सुख तथा समरसता का सन्मार्ग दिखलाती है और 'अखण्ड आनन्द' का 'अस्वादन' कराके मुनि-दुर्लभ मोक्ष दिलाती है। यही कारण है कि सन्त-साहित्य और आगम-ग्रन्थो में काम को एक बडी आध्यात्मिक शक्ति[१] भी माना है और भगवद्गीता मे वह भगवान् का रूप भी माना गया है :—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभः (७, ११)

(घ) कामायनी में रूपक

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी में भौतिक और आध्यात्मिक, लौकिक तथा अलौकिक का सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए ऐतिहासिक कथानक मे रूपक का भी संमिश्रण कर लिया गया है। अतः सक्षेप में उसको व्यक्त कर देना आवश्यक है।

यह रूपक प्रसादजी की अपनीकृति नही; वास्तव में यह वैदिक कथानक में ही उपस्थित है। पिण्डाण्ड में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द ये पञ्चकोश ही पाँच मुख्य पर्व हैं जिनमे से प्रत्येक अन्य उपपर्वों के कारण पिण्डाण्ड पर्वत (पर्ववत्) कहलाता है। इस पर्वत की सर्वोच्च चोटी आनन्दमय कोश है जहाँ शिव-शक्ति, माया-ब्रह्म या प्रकृति-पुरुष अद्वैतावस्था मे रहते हैं :—

चिरमिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;

---

१ काम पिछाणै राम को जो कोइ जाणै राखि (कबीर) 'कामकलाविलास'

२ इस विषय सम्बन्धी दर्शन को विस्तारपूर्वक जानने के लिए देखिये लेखक-कृत 'वैदिक-दर्शन'।

निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन ।

विज्ञानमय कोश में द्वैत प्रकट होता है—शक्ति (माया) शिव (ब्रह्म) से पृथक व्यक्त हो जाती है और इस रूप में उसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक समनी शक्ति और दूसरी उन्मनी शक्ति । उन्मनी शक्ति अगतिमय है, समनी शक्ति गतिमय; पहली में मनोमय से लेकर अन्नमय तक का समस्त नानात्व बीज-रूप में बन्द है, जब कि दूसरी में वह अंकुरित होकर नीचे के कोशों में पल्लवित और पुष्पित होता है । पहली को अचल माया कहते हैं, तो दूसरी को चल माया; अंतः रूपकों में प्रथम को हिम तथा द्वितीय को जल कहा गया है, यद्यपि वस्तुतः वे एक ही हैं :—

नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन ।

मनोमय कोश से लेकर अन्नमय तक मन रूप में स्थित मननशील जीव मनु कहलाता है । इन्द्रिय-शक्तियाँ ही देव हैं; मनु (मन) स्वयं एक देव है । ये देव जितने ही अधिक स्वच्छन्द, स्वेच्छाचारी और विलासी होते जाते हैं, अन्नमय कोश के मांसल भोगों की ओर इनकी प्रवृत्ति जितनी अधिक होती जाती है, ये उतने ही जल-माया से आवृत होते जाते हैं, यहाँ तक कि अन्त में जल की ऐसी प्रालेय बाढ़ आती है कि सब डूब जाते हैं :—

वे सब डूबे; डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार ।

मत्स्य (मत्स्यावतार में विष्णु) की कृपा से केवल मनु (जीव) इस ध्वंस से बच जाता है जो अवसाद और विषाद को अपनाता हुआ पर्वत के उत्तुंग शिखर (मनोमय कोश) पर बैठकर आँसू बहाता है :—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह ।

व्यष्टि-साधना

मननशील जीव की शक्ति के दो रूप हैं—एक हृदय-तत्त्व, दूसरा मूर्द्धा-तत्त्व । कामायनी के रूपक में एक को श्रद्धा और दूसरी को इडा कहा गया है; एक 'हृदय

सत्ता का सुन्दर सत्य' खोजती है, दूसरी स्वयं 'त्रिगुण-तरंगमयी' बुद्धि है। विषण्ण और विरक्त मनु (जीव) का त्राण हृदय-तत्त्व द्वारा ही हो सकता है। अतः श्रद्धा आकार मनु को 'तप नहीं, जीवन सत्य' का पाठ पढ़ाकर फिर कर्म में प्रवृत्त करती है। परन्तु, कर्मक्षेत्र में आसुरी-शक्तियों के संयोग से जीव (मनु) पुनः पतन की ओर जाने लगता है। वह मोहान्ध होकर अपनी श्रद्धा-शक्ति का परित्याग करता है और इडा (बुद्धि-तत्त्व) से नाता जोड़ता है; आसुरी सुखवाद को अपनाने के पश्चात जीव को बुद्धिवादी जड़वाद ही भाता है परन्तु इसका परिणाम भयंकर ही होता है—जिन आसुरी शक्तियों (रूपक में किलाताकुलि) से प्रभावित होकर जीव (मनु) श्रद्धा का परित्याग तथा जड़वाद का ग्रहण करता है, उन्हीं के नेतृत्व में उस पर वज्रपात होता है और वह मुमुर्षु हो जाता है। अब सारे जड़वादी बुद्धिवाद से उसका विश्वास उठ जात है और अवसन्न तथा निर्विण्ण हुआ वह पुनः श्रद्धा (हृदय-तत्त्व) की शरण आता है।

श्रद्धा उसे पर्वत (पिण्डाण्ड) की चोटियों पर (कोशों, चक्रों आदि) पर चढ़ाती है। 'मनोमय' कोश की चोटी तक उसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया के पृथक-पृथक क्षेत्र मालूम पड़ते हैं—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

तत्त्वतः ये तीनों तत्त्व श्रद्धा[1] ही के अंग है; अतः 'विज्ञानमय' कोश में पहुँचकर ये तीनों एकाकार होकर सारे नानात्व को एकत्व में लाने का प्रयत्न करते हैं :—

महाज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।
नीचे ऊपर लचकीली वह
विषय वायु में धधक रही सी;

---

[1] तु० क० एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः तेनैष पूर्णः—तस्य श्रद्धा एव शिरः ऋतं दक्षिणपक्षः सत्यमुत्तरपक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

महाशून्य मे ज्वाल सुनहली,
सब को कहती "नही-नही" सी ।

'आनन्दमय' मे स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-शरीर की सारी अनेकता एकता मे परिवर्तित हो जाती है और शक्ति-शक्तिमान् शिवशक्ति, प्रकृति-पुरुष, श्रद्धा-मनु सयुक्त रूप मे हो जाते है और अनाहत ध्वनि सुनाई पडती है —

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे ।

यही 'आनन्दमय' कोश हिमगिरि (पिण्डाण्ड) की चोटी कैलाश है, जहाँ अखण्ड शान्ति और आनन्द का वातावरण है और द्वैतभाव का नाम तक नही है —

मनु ने कुछ कुछ मुसक्याकर,
कैलास और दिखालाया;
बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया ।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी है;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नही कमी है ।

समष्टि-साधना

कामायनी-रूपक मे सारस्वत-नगर 'जल-माया'[१] आवृत समष्टि चेतना का प्रतीक है, जो सामाजिक क्षेत्र मे कर्म के रूप मे प्रगट होती है । इस क्षेत्र मे मनु का सुखवाद और इडा का बुद्धिवाद मिलकर भौतिक समृद्धि की चरम सीमा तक पहुँचने पर भी विषाद और निराशा, सघर्ष और अशान्ति को ही प्राप्त करता है, सच्ची शान्ति और सफलता के लिए 'श्रद्धामय' मानव को साथ लेकर ही इडा का बुद्धिवाद प्रयत्नशील होता है । सारस्वतनगर के निवासियो की कैलाश-यात्रा इस प्रयत्न को भले प्रकार दिखलाती है । 'श्रद्धामय' मानव के साथ से इडा का बुद्धिवाद धर्म-विहित हो जाता है, अत धर्म के प्रतिनिधि-स्वरूप वृषभ पर सुखो-

१ तु० क० एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयस्तेनष पूर्णः । प्रियमस्य शिरः आमोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोदः उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।

पभोग की प्रतिमा सोमलता लादकर मानव 'अखण्ड आनन्द' की खोज में सफल होता है :—

> था सोमलता से आवृत
> वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि;
>
> * * *
>
> सारस्वत नगर निवासी
> हम आये यात्रा करने;
> यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
> पीयूष सलिल से भरने।

धर्म की परिणति इसी अखण्ड आनन्द में होती है; इसी को पाकर वह चिरमुक्त होता है :—

> इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
> उत्सर्ग करेंगे जाकर;
> चिर मुक्त रहे यह निर्भय
> स्वच्छन्द सदा सुख पाकर।

वस्तुतः कामायनी की कथा में वैदिक साहित्य के तीन आख्यानों मनु-इडा, पुरुरवा-उर्वशी तथा यम-यमी का समन्वय मिलता है। वेद मे मनुष्य की चिरन्तन आत्मा को व्यष्टि रूप में 'नर' और समष्टि रूप मे 'नारायण' कहा गया है और इनकी शक्ति क्रमशः 'नारी' 'नारायणी' हैं। शक्तिमान् और शक्ति के इसी जोड़े को ही दृष्टिभेद से उक्त तीनों आख्यानों में भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त किया है। अन्नमय कोष के रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्दात्मक नाना भोगों के लिए मचलने और रोने-चिल्लाने वाला जीव 'पुरुरवा' (अर्थात् नाना भांति रव करने वाला) है और चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र इन्द्रियों की विविध कामनाओं में व्यक्त होने वाली 'शक्ति' उर्वशी ((अर्थात् विविध कामना करने वाली) है। यह कोरे भावुकतावाद और भोगवाद की प्रतीक है। मनोमय कोष के जीव में मनन, विवेक आदि है अतः उसको मनु कहा गया है और उसकी शक्ति का नाम इरा (प्रेरणा करने वाली) या इडा (अन्न) है, क्योंकि वही वस्तुतः अन्नमय के उक्तकर्म में प्रेरित करने वाली है। अतः इडा बुद्धिवाद और भौतिकवाद की प्रतीक है। विज्ञानमय कोष का जीव उक्त दोनों अवस्थाओं से ऊपर उठा हुआ है—भावुकतावाद और भोगवाद तथा बुद्धिवाद और भौतिकवाद दोनों से बचता हुआ वह 'संयमन' करता है। अतः वह यम है, पालक शक्तियों (पितरों) का राजा है उसकी शक्ति उक्त दोनों शक्तियों की भाँति विविधता और अनेकता

में बिखरी हुई न होकर 'एक' और संयत होती है। अतः उसका नाम 'यमी' है। यही 'व्यवसायात्मिक' बुद्धि की एकता है जो कि भगवद्गीता में श्रेय मार्ग की साधिका मानी गयी है। अतः यही उस कल्याण मार्ग की निर्देशिका हो सकती है जिसका सम्बन्ध मनु यम से है।

प्रसाद जी ने उक्त तीनों अवस्थाओं के लिए 'मनु' नाम ही रक्खा है जो वैदिक परम्परा के अनुकूल है। शक्तियों को उन्होंने दो ही के अन्तर्गत माना है—उर्वशी और यमी दोनों को श्रद्धा प्रतीक में मूर्तिमान किया है, क्योंकि वे दोनों ही वस्तुतः हृदय-तत्त्व के ही दो पक्षों को व्यक्त करती हैं, पहली भावुकता और दूसरी साधना का। अतः प्रसाद जी ने मननशील मानव जीव (मनु) की दो शक्तियाँ मानी हैं—एक बुद्धि और दूसरी भावना, जिन्हें उन्होंने क्रमशः इडा और श्रद्धा कहा है। कोरी बुद्धि की शरण लेने से मनुष्य शुष्क जडवादी भौतिकता में फँसकर असफल होता है। सारस्वत के प्रजापति मनु की सफलता यही है। भौतिक उन्नति के लिए भी भावना का पुट आवश्यक है, मनन और श्रद्धा की संयुक्त क्रिया की आवश्यकता है। इसीलिए मनु-श्रद्धा का पुत्र 'मानव' ही उस कार्य-संपादन के लिए चुना जाता है जिसमें मनु असफल होता है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिए तो संयत भावना की नितांत आवश्यकता है ही। इसीलिए निर्विण्ण मनु का पथ-प्रदर्शन करने वाली और उन्हें नटराज का दर्शन कराने वाली 'कामायनी' में श्रद्धा है। कामायनी में एक बात ध्यान देने की यह है कि जो श्रद्धा अन्त में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के त्रिपुर को भस्म करके दिव्य, अनाहत, पर निनाद सुनाने में समर्थ होती है, वही श्रद्धा एक समय मनु को 'तप नहीं जीवन सत्य' करके कर्म-घोर में प्रवृत कराती है और उसे 'वासना का कीड़ा' होने से नहीं बचा सकती। श्रद्धा की यह असफलता इडा की असफलता के समान ही खटकने वाली है। परन्तु इसका कारण स्पष्ट है। उक्त असफल श्रद्धा भावना के उस पक्ष का प्रतीक है जिसे ऊपर 'भावुकता' कहा गया है, इसके द्वारा तो वासनायम कर्म की ओर ही प्रवृत्ति हो सकती है। इडा के बुद्धिवादी क्रियावाद की असफलता के अनुभव से ही श्रद्धा (भावना) ज्ञानशक्तियाँ साधना होकर निर्विण्ण मनु का पथ-प्रदर्शन कर सकती है। इसी विवशता को कामायनी में प्रसाद जी ने इस प्रकार प्रकट किया है :—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके,
यह विडम्बना है जीवन की।

अन्त मे जब लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, तो न इच्छा, क्रिया, तथा ज्ञान ही रहते है और न मनु श्रद्धा ही; वहाँ तो दिव्य नाद मे श्रद्धा-मनु ही रह जाते हैं।

"दिव्य अनाहत पर निनाद मे श्रद्धायुत बस मनु तन्मय थे"

(३) कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य-शरीर)

(क) बहिरंग

कामायनी के काव्य-शरीर का निर्माण जिस कथानक के आधार पर किया गया है उसका विश्लेषण इसी पुस्तक मे अन्यत्र किया गया है। सारे कथानक की प्रेरक शक्ति श्रद्धा कामायनी है, अत. उसी के नाम पर इस महाकाव्य का नामकरण हुआ है। इसमे कुल पन्द्रह सर्ग है जिनका नामकरण उनके वर्ण्य विषयो पर हुआ है। प्रत्येक सर्ग मे एक ही छन्द है, जो आद्योपान्त चलता है और पुराने महाकाव्यो की भाँति अन्त मे बदलता नही; हाँ एक बार निर्वेद सर्ग मे अवश्य बीच मे एक भिन्न छन्द आ गया है, जो काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाता है और वस्तु-विन्यास को यथार्थता प्रदान करता है।

प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द रखते हुए भी कवि विविधता के मोह को नहीं छोड़ सका है और उसने यथासम्भव उसी छन्द के विभिन्न रूपो का प्रयोग किया है। अत: कर्म सर्ग मे २८ मात्राओ के जिस छन्द का प्रयोग हुआ है उसके अन्त में कभी एक गुरु है, कभी दो और कभी तीन :—

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोमलता तब मनु की (एक)
जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खड़ी थी (दो)
ठीक यही है सत्य ! यही है,
उन्नति सुख की सीढ़ी (तीन)

इसी प्रकार की विविधता चिन्ता और आशा आदि सर्गों मे भी दिखाई पड़ती है, जहाँ पिंगल शास्त्र के नियमो को निभाते हुए और कही उनकी अवहेलना करके भी विविधता उत्पन्न की गयी है :—

(क) मौन ! नाश ! विध्वंस ! अँधेरा !
शून्य बना जो प्रगट अभाव।

(ख) जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,
व्यक्त नील नभ-माला में।

(क) करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सब का।
(ख) दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान।

कामायनी मे कुल मिलाकर कम-से-कम १३ छन्दो का प्रयोग किया गया है, जिनमे से कुछ पुराने छन्द है, जिनका वर्णन पिगल-शास्त्र मे मिलता है; इनमें से ताटंक, शृगार, रूपमाला और सार मुख्य है। इडा-सर्ग में प्रसादजी ने गीतों का प्रयोग किया है, जिसके प्रारम्भ मे एक टेक होती है, जिसकी तुक से सभी पक्तियो की तुक मिलती है। यद्यपि कही-कही बीच मे ऐसी पक्तियाँ भी आजाती हैं, जिनकी तुक टेक से पूर्णतया मेल नही खाती :—

करती सरस्वती मधुर नाद
बहती थी श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव सी अप्रमाद,
सब उपल उपेक्षित पड़े रहे जैसे वे निष्ठुर जड़ विषाद।
वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमे था केवल मधुर गान।
थी कर्म-निरंतरता प्रतीक चलता था स्ववश अनन्त ज्ञान।
हिम शीतल लहरों का रह रह कूलों से टकराते जान;
आलोक अरुण किरणों का उन पर अपनी छाया बिखराता
अद्‌भुत था निज निर्मित पथ का वह पथिक चल रहा निर्विवाद।
कहता जाता कुछ सुसंवाद।

कामायनी का बहिरंग अन्तरंग के अनुरूप है। छन्द-विधान और शब्द-योजना, विपय तथा भावो के अनुसार बदलते है। चिन्ता सर्ग के वैभव-वर्णन में उपयुक्त शब्दों के कारण जो गति और गरिमा यत्र-तत्र दिखाई पड़ती है, वह विषाद और अवसाद के चित्रण मे नही, यद्यपि छन्द वही रहता है। श्रद्धा सर्ग तथा इडा सर्ग के छन्दों और शब्दों मे भी वैसा ही भेद है जैसा स्वयं श्रद्धा और इडा में। जहाँ एक का मृदु-ध्वनि-बहुल १६ मात्रा या शृंगार छन्द द्रुत गति से चलता हुआ हृदय मे मधुरता, कोमलता तथा प्रसन्नता का सञ्चार करता है, वहाँ दूसरे के लम्बे-लम्बे पदवाले गीत मंथर गति से चलते हुए मस्तिष्क पर बोझ डालते हुए से प्रतीत होते है। इस कथन की पुष्टि दोनों के उद्धरणों से हो सकती है—

तरल आकांक्षा से है भरा,
सो रहा आशा का आह्लाद। (श्रद्धा)
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर।
ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ अनिल अनल क्षिति और नीर।
(इडा)

इस प्रकार यदि रहस्य और आनन्द, काम और निर्वेद तथा कर्म और दर्शन सर्गों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो बड़े ही रोचक निष्कर्ष निकल सकते हैं।

कामायनी के काव्य-शरीर की रचना में प्रसाद को जो सफलता मिली है उसका श्रेय उनके भाषाधिकार को कम नहीं है। यद्यपि उनकी भाषा में व्याकरण की अशुद्धियाँ, प्रान्तीयता के दोष तथा कविसुलभ स्वच्छन्दता ढूँढने से अवश्य मिल जायेंगी, परन्तु भाषा की व्यापक प्राञ्जलता, लाक्षणिक प्रयोगों की प्रबल सार्थकता, अभिव्यक्ति की पूर्ण यथार्थता, शब्दों की भावानुकूलता तथा मुहावरों की स्वाभाविकता आदि उनकी शैली के इतने गुण हैं कि उक्त दोष क्षम्य प्रतीत होते हैं। प्रसादजी ने हिन्दी को संस्कृत का सौष्ठव और गांभीर्य्य प्रदान किया है, परन्तु कामायनी में 'प्रिय प्रवास' की संस्कृततात्मकता को नहीं अपनाया गया है। यहाँ प्रायः छोटे-छोटे तत्सम शब्द स्वाभाविक रूप में प्रसाद-गुण के पोषक होकर आये हैं और जहाँ वे अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, वहाँ अस्पष्टता का कारण विषय-गांभीर्य्य, लाक्षणिक प्रयोग, रहस्य-भावना अथवा वैदिक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न है, भाषा की क्लिष्टता नहीं। कहीं-कहीं तो भाषा अत्यन्त सरल होकर बोलचाल की भाषा बन जाती है :—

(क) थके हुए थे दुखी बटोही
वे दोनों ही माँ-बेटे—
खोज रहे थे भूले मनु को,
जो घायल होकर लेटे।

(ख) अरे झेलता ही आया हूँ,
जो आवेगा सह लेंगे।

(ग) हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते जिसको मर कर जीव।

लेखक ने समास-बहुल भाषा को न अपनाते हुए भी भाषा में अपूर्व समास-शक्ति दिखलाई है। यों तो सर्वत्र ही शब्दाडम्बर तथा चमत्कार प्रदर्शन का पूर्णतया अभाव है और शब्दों के प्रयोग में अत्यन्त संयम तथा मितव्ययता से काम लिया गया है, परन्तु कहीं-कहीं तो समास-शक्ति का प्रयोग चरम सीमा तक पहुँच गया है। उदाहरण के लिए कामायनी के दो प्रारम्भिक पद ले लीजिए। शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार महाकाव्य के आमुख में आशीर्वाद, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश होना चाहिए। जहाँ एक ओर ये दोनों पद प्रबन्ध की इतिवृत्तात्मकता तथा वर्णनात्मकता की पूर्ति करते हैं, वहाँ वे आमुख के लक्षणों पर भी ठीक उतरते हैं। जैसा कि रूपक-विवेचन में कह चुके हैं, इन पदों का 'एक पुरुष' तथा 'एक तत्त्व

की प्रधानता' सर्ग के उस 'चिरमिलित प्रकृति से पुलकित चेतन पुरुष पुरातन" की ओर संकेत है जो आगमों में 'अग्निदाहकयोरिव' अभिन्न शिव-शक्ति बतलाये गये हैं। इस प्रकार परम सत्ता के उल्लेख से अथ या ओङ्कार के समान नमस्क्रिया का काम निकल जाता है। साथ ही 'भीगे नयनों' तथा 'प्रलय-प्रवाह' के उल्लेख से अन्नमय-कोशस्थ विपन्न जीव की दुरवस्था तथा जड़-चेतन की एकता के संकेत द्वारा उसके साध्य को बतलाकर वस्तु-निर्देश भी कर दिया है।

(ख) वस्तु-विस्तार की नाटकीयता

कोई भी प्रबन्ध-काव्य नाटकीय तत्त्वों के बिना सफल नहीं हो सकता ! इसीलिए साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्य में भी 'सर्वे नाटक-संधयः' का विधान किया है। संधियाँ अर्थ-प्रकृतियों और अवस्थाओं को मिलाने वाली होती हैं; अतः संधियों के साथ उनका होना अनिवार्य हो जाता है। इसलिये एक प्रकार से महाकाव्य में सभी नाटकीय तत्त्वों का समावेश हो जाता है; कथा-वस्तु के विस्तार और विकास के लिए ये सभी तत्त्व आवश्यक हैं।

कामायनी के 'आधिकारिक' वस्तु में मनु और श्रद्धा का संयोग तथा आनन्द-प्राप्ति तक का उनका संयुक्त जीवन आता है। नायक-नायिका के क्रिया-कलाप को विस्तार तथा विविधता देने वाले और उसके प्रवाह को इधर-उधर मोड़ने वाले 'प्रासंगिक' वस्तु के अन्तर्गत वे घटनाएँ आती हैं, जिनका मूल सम्बन्ध किलाताकुलि तथा इडा से है। मनु-इडा-मिलन, मनु का राज्य-शासन, संघर्ष, सारस्वत प्रदेश-वासियों की कैलाश-यात्रा आदि इडा-काण्ड की अंगभूत घटनाओं का समावेश 'पताका' में होता है, जिसमें आधिकारिक वस्तु की रोचकता बढ़ती है और उसके विकास तथा प्रसार में सहायता मिलती हैं। किलाताकुलि का पौरोहित्य तथा यज्ञ में पशुबलि आदि 'प्रकरी' में आते हैं, जिसके बिना मनु में असुरत्व वृद्धि श्रद्धात्याग, इडा पर अतिचार तथा संघर्ष का नेतृत्व न हो सकने से 'पताका' का अस्तित्व ही न हो पाता।

पताका तथा प्रकरी के अतिरिक्त अन्य तीनों अर्थ-प्रकृतियों का निर्वाह भी कामायनी में अच्छी तरह हुआ है। कामायनी का 'कार्य' (चरम लक्ष्य) विपन्न और विपण्ण मनु को 'अखण्ड आनन्द' की प्राप्ति करवाना है। पर्वतारोहण से प्रारम्भ होने वाला यह लक्ष्य पूरा तो होता है आनन्द सर्ग में, परन्तु इसका 'बीज' चिन्ता और आशा सर्गों में ही पड़ जाता है, क्योंकि जहाँ प्रथम में वह अवसाद और पश्चात्ताप तथा निराशा और मृत्यु से आलोड़ित, दुःख-सागर में डुबकी लगाता हुआ दुःख-निवारण की उत्कट आवश्यकता अनुभव करता है, वहाँ द्वितीय सर्ग में दुःख-विनाश की आशा तथा आनन्द-प्राप्ति की संभावना-

स्वरूप विश्व के रमणीय तत्त्व की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होता है और 'जीवन! जीवन की पुकार' आने लगती है :—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।

इस 'बीज' और 'कार्य' के बीच सारा वस्तु 'विन्दु' है जिसमें अग्निष्टोम, श्रद्धा-प्राप्ति, स्त्री-सहवास, आखेट, सोमपान, सारस्वत-प्रदेश में शासन आदि द्वारा बीज पल्लवित और पुष्पित होता है।

इस प्रकार जिस आनन्द-प्राप्ति का बीज-वपन होता है, उसका यथार्थ प्रारंभ श्रद्धा के मिलन पर होता है। श्रद्धा के समर्पण से लेकर काम तथा वासना की अभिव्यक्ति तक 'आरंभ' अवस्था है, जिसमें मनु आनन्द की चाह में स्थूल भोगों को खोजने लगता है। इस अवस्था तथा 'बीज' अर्थप्रकृति को मिलाने के लिए 'मुख'-संधि रक्खी गयी है, जिसमें यजन, मनन, चिन्तन करते-करते मनु के मन में "मधुर प्राकृतिक भूख समान' अनादि वासना जगती है और वह 'प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?' चाहने लगता है :—

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना।
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना ॥

यह इच्छा होते ही श्रद्धा-सर्ग में मनु को 'मधुकरी के मधु-गुञ्जार' सा नारी का स्वर सुनाई पड़ता है और

एक झिटका सा लगा सहर्ष
निखरने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन ।

प्रारम्भ अवस्था के पश्चात् 'पल भर की उस चंचलता' के लिए श्रद्धा द्वारा लज्जा-दमन, यज्ञ तथा गर्भ-धारण, मनु द्वारा यज्ञ में पशु-बलि, सोम-पान, श्रद्धा का भावी शिशु के लिए कुटीर बनाना, मनु का भागकर इडा के पास जाना, सारस्वत-प्रदेश में शासन-व्यवस्था करना और अन्त में इडा पर अतिचार करना ये सब 'यत्न' की अवस्था के अन्तर्गत आते हैं; इनके द्वारा मनु एक-एक करके बाह्य विश्व के भागों में आनन्द ढूँढ़ता है, परन्तु व्यर्थ; उसे प्रत्येक प्रयत्न के पश्चात निराश होना पड़ता है; उस चिर प्यास को 'एक घूँट' नहीं मिल पाता :—

एक घूँट का प्यासा जीवन.........

इस 'यत्न' अवस्था तथा 'बिन्दु' का मेल वासना सर्ग में होता है, जब कि मनु श्रद्धा को आत्म-समर्पण करते हैं और श्रद्धा स्वीका करती है:—

किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-'बंध' नारी-हृदय-हेतु सदैव ।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान ।
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ?"

यही 'प्रति-मुख' संधि है ।

यत्न के पश्चात् 'प्राप्त्याशा' की अवस्था आती है, जिसमें जिस फल (आनन्द) की प्राप्ति के लिए अब तक प्रयत्न होते रहे, उसकी प्राप्ति की आशा होने लगती है । इसके अन्तर्गत मनु का घायल होकर गिरना, श्रद्धा का स्वप्न देखकर उसके पास आना, मनु का निर्वेद और पलायन तथा श्रद्धा से पुनर्मिलन, श्रद्धा उपदेश तथा मनु द्वारा श्रद्धा में मातृ-रूप देखना आदि हैं । इस अवस्था और बिन्दु की गर्भ-संधि तब होती है जब मनु युद्ध करते-करते घायल हो जाते हैं और मुमुर्षु अवस्था में गिर पड़ते हैं तथा इडा उनके पाँ बैठी हुई अतीत पर विचार-विमर्श करती है :—

आज पड़ा है वह मुमूर्षु सा
वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुए पराये,
सबका ही जो अपना था ।

* *

इसे दंड देने में बैठी
या करती रखवाली में ?
यह कैसी है विकट पहेली,
कितनी उलझन वाली मैं ।

'नियताप्ति' में फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है । इस अवस्था का प्रारम्भ पर्वतारोहण से प्रारम्भ होता है, जब कि—

दोनों पथिक चले हैं कब से
ऊँचे ऊँचे चढ़ते चढ़ते;
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही से बढ़ते ।

और 'प्रतिकूल पवन वेग, भीषण खड्ड, भयंकर खाई, वात-चक्र' को पार करने में हताश होते हुए मनु को साहस बँधाती हुई श्रद्धा अन्त में ऐसे स्थान पर

पहुँच जाती है, जो दिवा-रात्रि, ग्रह, तारे और नक्षत्रों से परे था और जहाँ पहुँच कर श्रद्धा कहती है :—

"घबराओ मत ! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये"
मनु ने देखा आँख खोलकर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।

इस पर्वतारोहण से प्रारम्भ होने वाली और आनन्द प्राप्ति में समाप्त होने वाली 'कार्य' नामक अर्थ प्रकृति को नियताप्ति अवस्था से मिलाने वाली 'अवमर्श' संधि दर्शन सर्ग के अन्त में आती है, जब श्रद्धा का उपदेश सुनते-सुनते

देखा मनु ने नर्तित नटेश
हत-चेत पुकार उठे विशेषः—
यह क्या ! श्रद्धे बस तू ले चल।
उन चरणों तक निज दे संबल।

बस इसके पश्चात् श्रद्धा मनु को लेकर 'ऊर्ध्वदेश' की ओर चल देती है। उपर्युक्त नियताप्ति में फल-प्राप्ति का निश्चय होने के पश्चात् आनन्द-सर्ग में 'फलागम' होता है, जब कि चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द छाया हुआ था और

क्षण भर में सब परिवर्तित
अणु अणु थे विश्व कमल के;
पिंगल पराग से मचले
आनन्द सुधा-रस छलके।

इस अन्तिम अवस्था को 'कार्य' अर्थप्रकृति से मिलाने वाली 'निर्वहण' संधि में त्रिपुर-रहस्य का उद्घाटन होता है, जिसके कारण मनु देखता है :—

शक्ति तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठासा;
शृंग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठासा।

(ग) कामायनी के वर्ण्य विषय (प्रकृति)

प्रकृति का स्वरूप

कामायनी के वर्ण्य विषयों में प्रकृति का प्रमुख स्थान है; परन्तु कामायनी में प्रकृति कभी अकेली नहीं आती। 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' से लेकर सरस्वती तट तक और सारस्वत-प्रदेश से लेकर कैलाश तक—यही कामायनी का

घटना-क्षेत्र है, जिसमें प्रसाद ने नदी, समुद्र, पर्वत, घन, वर्षा, आँधी, झंपा, उल्का, उषा, रात्रि, संध्या, अन्धकार, नक्षत्र, प्रकाश आदि प्रकृति के अनेक अंगों को चित्रित करने का अवसर ढूँढ़ निकाला है, परन्तु प्रकृति इन सब स्वरूपों में 'पुरुष' के साथ है—कहीं उसके 'प्रलय-प्रवाह' को 'एक पुरुष भीगे नयनों से' देख रहा है, तो कहीं 'हँसती-सी पहिचानी-सी अकेली प्रकृति' उसकी 'मर्म-वेदना' की कहानी सुन रही है; कभी पुरुष 'विज्ञान सहज साधन उपाय' से 'ऐश्वर्य-भरी परम रमणीय प्रकृति का पटल खोलने में परिकर कसकर कर्मलीन' बन रहा है, तो कभी पुरुष के अतिचार से 'प्रकृति त्रस्त' होकर 'क्रोध-भरी देव-शक्तियों' को प्रेरित करती है।

प्रकृति-पुरुष के निरन्तर सहवास के समान ही विचित्र है। कामायनी में बाह्य-प्रकृति और अन्तः-प्रकृति का सादृश्य तथा पारस्परिक प्रभाव। जलप्लावन से प्रकृति क्षुब्ध होती है तो मनु के मानस में भी क्षोभ, निराशा और चिन्ता उत्पन्न करती है जिससे वह मृत्यु के 'शीतल अंक' का आह्वान करने लगता है और बाद में प्रकृति की स्तब्धता उसी की हृदय-दशा की समानता करती है :—

दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान।

जल-प्लावन समाप्त होने पर जब 'त्रस्त प्रकृति का वह विवर्ण मुख फिर से हँसने लगा' तो मनु के मन में भी 'मधुर-स्वप्न सी झिलमिल' आशा जगी और वह 'मैं हूँ, मैं रहूँ' के विश्वास से कर्म तथा कर्म से सहानुभूति की ओर चला, और एक चन्द्रिका-चर्चित निशीथ के 'रमणीय दृश्य' से प्रभावित होने पर उसके मन में **'अनादि वासना'** का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप **'विश्वकमल की मृदुल मधुकरी'** रजनी मनु को खिलखिलाती हुई एक ऐसी अवगुंठनवती रमणी के समान लगी, जो **'जीवन की छाती के दाग'** खोजती हो; मनु भी 'कुछ' (प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?) खो चुका है, जिसके लिए वह रजनी से अनुरोध करता है :—

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना;
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना।

यह अन्तः-प्रकृति और बाह्य-प्रकृति के सहयोग से उत्पन्न मनु का एक 'मनोराज्य' है, जागृत स्वप्न है, जो एक भविष्यवाणी सिद्ध होता है और फलतः मानो उक्त अनुरोध के उत्तर-स्वरूप ही श्रद्धा आ जाती है जिसका सौन्दर्य भी उक्त रात्रि-सुन्दरी के सौन्दर्य समान ही मादकता तथा मधुरिमा से पूर्ण है, 'हँसी का मदविह्वल प्रतिबिम्ब' है। बाह्य-प्रकृति और अन्तः-प्रकृति की ऐसी ही अभि-

सधि का परिणाम श्रद्धा का 'स्वप्न' है जो एक सच्ची घटना के यथार्थ साक्षात्कार के समान है।

अन्तः-प्रकृति और वाह्य-प्रकृति के बीच इस अज्ञात 'बे तार-के-तार' का प्रमाण कामायनी की कुछ अन्य घटनाओं में भी मिलता है। मनु की रंगीन भावनाओं की प्रतिकृति-स्वरूपा काम-ध्वनि इधर 'उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो' का उपदेश करती है, तो उधर मनु 'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' कहता हुआ श्रद्धा को आत्म-समर्पण कर देता है। चपल सौन्दर्य की 'धात्री' लज्जा की पकड़ 'ठहरो कुछ सोच विचार करो' की शिक्षा द्वारा जिस अनिष्ट की आशंका की ओर संकेत करती है वह अन्त में श्रद्धा-परित्याग के रूप में आ ही खड़ा होता है। मनु जभी यज्ञ करने की इच्छा से 'कौन पुरोहित बनेगा; किस विधान से यज्ञ करूँ' आदि बातें सोच रहे हैं, तभी अकस्मात् किलाताकुलि आकर उनकी मनचाही कह देते हैं :—

यजन करोगे क्या तुम ? फिर यह
किसको खोज रहे हो;
अरे पुरोहित की आशा में
कितने कष्ट सहे हो।

इसी प्रकार 'मन की परवशता महा दुःख' से व्यथित मनु को बुद्धिवादी इडा का 'स्वयं बुद्धि' होकर मिलना, मनु के अनिचार से त्रस्त होती हुई इडा के त्राण के लिए तुरन्त सिंह-द्वार को तोड़कर प्रजा का भीतर घुसना और निर्विण्ण तथा विरक्त मनु के लिए शान्ति पथ-प्रदर्शिनी श्रद्धा का आना ऐसी ही घटनाएँ जो प्रकृति के विभिन्न अंगों के बीच एक अज्ञात तथा अदृश्य सूत्र की ओर संकेत करती हैं।

इस प्रकार की घनायें कोई अनहोनी या अस्वाभाविक बातें नहीं है; प्रत्येक व्यक्ति को गम्भीर विचार करने पर ऐसी कुछ घटनाएं अपने जीवन में मिल जायेंगी। कामायनीकार के लिए हमारे ये संयोग या दैवयोग अव्याख्यातव्य नहीं है। उनके लिए अन्तः-प्रकृति और बाह्य-प्रकृति तत्त्वतः एक ही है; अन्तर है तो केवल स्वरूप का—यदि एक अपेक्षाकृत सघन है, तो दूसरी तरल, यदि एक हिम है तो दूसरी जल; एक चेतन है, तो दूसरी जड़। इन दोनों विकृतियों के मूल रूप को भारतीय दर्शन में 'प्रधान' कहा है, जिसकी ओर प्रसाद जी ने भी कामायनी में बड़े सुन्दर ढंग से संकेत किया है :—

नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन।

एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन ।

यह 'प्रधान' ही वह मूल-शक्ति है जो बाह्य-जगत् मे कोकिल की काकली, फूलों की हँसी, सरिता के कल-कल, शिशुओं के कोलाहल, लता के फूलों तथा धरणि की गन्ध आदि तरल रूपों में अपनी अभिव्यक्ति करती है और अन्त में अन्तर्लीन होकर अचल 'एकान्त' मे परिवर्तित हो जाती है :—

वे फूल और वह हँसी रही
वह सौरभ, वह निश्वास घना;
वह कलरव, वह संगीत अरे
वह कोलाहल एकान्त बना ।

इसी अचल 'एकान्त' को जब वह छोड़ती है तभी उसके परमाणुओं से नानात्वमयी सृष्टि हो जाती है । प्रसाद ने इस प्रक्रिया का बड़ा ही सुन्दर वर्णन अपनी कवित्त्वपूर्ण भाषा में किया है :—

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिये ।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से,
मिलने को गले ललकते से;
अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते से ।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया में;
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
मतवाली अपनी माया में ।
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी,
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
मादक मरंद की वृष्टि रही ।

बाह्य-जगत् की इस नानात्वमयी जड़ संसृति मे व्यक्त होनेवाली यह मूल शक्ति स्वयं जड़ नहीं है; आगमों मे इसे चिद्रूपिणी 'कामकला' कहा है, जो चित् से भिन्न है और चेतन तथा जड, अन्त: तथा बाह्य सृष्टि के रूप में 'जड़-चेतनता की गाँठ' सी होकर व्यक्त होती है :—

वह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला;
उसका सन्देश सुनाने को
संसृति में आई यह अमला ।

वास्तव में, प्रसाद के शब्दों में, 'वह विश्व चेतना' है, जिसके 'चेतन समुद्र में जीवन लहरों सा बिखर पड़ा है, जिसके ज्योत्स्ना-जलनिधि में बुद्बुद् सा रूप बनाये नक्षत्र दिखाई देते' हैं । अपने अमूर्त रूप में वह एक 'अभेद सागर' है जिसमें प्राणों के संकोच-प्रसार का निरन्तर चलता हुआ क्रम मूर्त जगत् के नाना रसों को इसमें घुला-मिलाकर एक रस, एक 'चरम भाव' में परिणत कर देता है । दूसरे शब्दों में, 'अपने सुख-दुख से पुलकित सचराचर मूर्त विश्व' की व्यक्त समष्टि के भीतर 'चिति का विराट वपु' है, जो शाश्वत रूप में शिव, सत्य तथा सुन्दर है ।

अपने दुख सुख से पुलकित
वह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
वह सत्य सतत चिर सुन्दर ।

यह चिति उस चिद्ब्रह्म की शक्ति है, जिससे उसका शक्तिमान् चिर-तरंगायित रहता है :—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन ।

वास्तव में शक्ति और शक्तिमान्, जैसा कि अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है, एक दूसरे से पृथक रह ही नहीं सकते; अग्नि और दाहकत्व की भाँति उनका तादात्म्य नित्य है:—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादत्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ।।

प्रकृति-पुरुष का संघर्ष

यद्यपि यह शक्ति अपने अव्याकृत मूल रूप में शक्तिमान् के साथ तादात्म्य रखती है, फिर भी अपने विकृत और व्याकृत रूप में वह पुरुष के लिए निरन्तर ही संघर्ष उपस्थित करती रहती है । 'प्रधान' से 'महत्' होते ही वह एक पुरुष पुरान को अनेक पुरुषों में, एक महादेव को अनेक देवों में बदल देती है और उन

देवो के निवास के लिए न केवल अनेक मन्दिर (शरीर) बना डालती है, अपितु उनके आस-पास चारो ओर अनेक आकर्षण-विकर्षण मय रूपो मे व्यक्त होकर 'सघर्ष' की भूमिका प्रारम्भ कर देती है, इसीलिए वेद[1] मे 'महत्' को देवो का एक असुरत्व कहा गया है।

यह सघर्ष ससार का एक सनातन सत्य है। भारतीय विकासवाद के चार सम्प्रदायो तथा आधुनिक डार्विनवाद ने जहाँ इसका प्रभाव जन्तुशास्त्रीय विकास मे स्वीकार किया है वहाँ वैदिक समाज-शास्त्र और आधुनिक मार्क्सवाद इसका प्रभाव एक प्रकार से सामाजिक जीवन के विकास मे भी स्वीकार करता है। मानव-जीवन मे यह सघर्ष अध्ययन की सुविधा के लिए, ३ भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) मानवता और प्रकृति का सघर्ष, (२) पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन 'प्रकृति के पुतलो का परस्पर सघर्ष' तथा (३) व्यक्तिगत जीवन मे आत्मानात्म सघर्ष।

कामायनी का प्रारम्भ ही प्रथम प्रकार के विकराल सघर्ष से होता है। एक समय था कि मनु की जाति ने अपनी शक्ति के द्वारा प्रकृति को मुट्ठी मे कर रक्खा था :—

सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के
बल, वैभव, आनन्द अपार।

* * *

शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति थी
पद-तल मे विनम्र विश्रान्त॥

परन्तु, एक दिन आया जब कि जल-प्लावन मे उस जाति का 'सबकुछ' चला गया और उसके एकमात्र अवशिष्ट व्यक्ति को प्रकृति की विजय तथा अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी —

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद मे।

परन्तु, दुख के बादल फटते ही वह यह हार भूल जाता है और प्रकृति-विजय पर फिर उतारू होकर सारस्वत-प्रदेश को यान्त्रिक सभ्यता द्वारा प्रकृति के 'अत्याचार' का प्रतिकार करना सिखाता है :—

अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते है
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते है।

आत्मानात्म-सघर्ष की ओर 'कामायनी मे रूपक' पर विचार करते हुए

---

१ दे० 'वैदिक-दर्शन'।

संकेत किया जा चुका है और पूर्व के अध्याय में इसका सविस्तार वर्णन भी कर चुके हैं, यहाँ अब दूसरे प्रकार के संघर्ष पर विचार करना होगा।

(घ) प्रकृति के पुतलों का संघर्ष

स्त्री-पुरुष में

मनु-श्रद्धा और मनु-इडा के बीच होने वाले संघर्ष में प्रसाद ने स्त्री-पुरुष-समस्या को लिया है। मनु-इडा के संघर्ष का कारण उनका विचार-भेद कहा जा सकता था, परन्तु मनु और इडा तो एक ही विचारधारा वाले हैं—दोनों शुद्ध बुद्धिवादी और जड़वादी हैं, फिर भी उनमें भयंकर संघर्ष होता है। अतः जो लोग वर-वधू में विचारों की एकता के बल पर दाम्पत्य-जीवन में सुख-शांति निश्चित करना चाहते हैं वे भूल में हैं। वास्तव में स्त्री-पुरुष-संघर्ष का मुख्य कारण यह है कि वे इन्द्रिय-सुख को ही विवाहित जीवन का चरम लक्ष्य मान लेते हैं। इसी कारण मनु की ईर्ष्या ने श्रद्धा को और उसके अतिचार ने इडा को खोया। दाम्पत्य-जीवन का विषय-भोग मोक्ष के लिए आवश्यक संयम तथा सदाचार का साधन मात्र होना चाहिए—मनु को श्रद्धा के नेतृत्व तथा आदेश में रहकर ही चलना चाहिए तभी न केवल उन्हें आनन्द मिलेगा, अपितु इडा जैसी जड़वादी बुद्धिवाद की अनु-गामिनी भी उसके सामने घुटने टेक देगी।

समाज में

कामायनी एक बड़े सामाजिक संघर्ष और भयंकर राज्य-क्रांति का चित्रण है। देखने में तो इसका तात्कालिक कारण मनु का इडा पर 'अतिचार' था। परन्तु अधिक ध्यान देने से पता चलता है कि मनु से प्रजा पहले ही असन्तुष्ट थी और उस समय 'सिंहद्वार' को तोड़ने के समय ही मनु द्वारा त्रस्त इडा का क्रन्दन केवल एक संयोग था। मनु ने अपनी यांत्रिक सभ्यता द्वारा लोगों में लोभ, कृत्रिम दुःखों को सुख समझना तथा सम्पत्ति-वितरण के वैषम्य से उत्पन्न आर्थिक शोषण आदि को वृद्धि प्रदान की थी और उनसे प्रकृतशक्ति छीनकर उन्हें अशक्त कर दिया था। अतः प्रजा पहले ही से किलाताकुलि के नेतृत्व में संगठित होकर आयी थी; उनका ऐसा संगठित और सुसज्जित आक्रमण किसी तात्कालिक घटना का परि-णाम नहीं हो सकता था; वह यांत्रिक सभ्यता के भोगवाद और भौतिकवाद से उत्पन्न अशान्ति की बारूद का आकस्मिक विस्फोट था जिसने स्पष्ट कर दिया कि भौतिकता में सामाजिक सुख-शान्ति नहीं!

सामाजिक सुख-शान्ति का विधायक प्रजापति मनु नहीं, ऋषि मनु है। जिस मनु को सारस्वत-नगर-निवासियों ने संसार से मिटा देना चाहा था, उसी की

शरण में सब कैलाश को जाते हैं और सच्ची शान्ति को पाकर अपने को धन्य मानते है। इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी के अनुसार भौतिकवाद से सामाजिक कल्याण नहीं हो सकता; उसकी प्राप्ति तो तभी हो सकती है जब समाज और राष्ट्र के नियामक वीतराग ऋषि हों, जो सब के सुख में ही अपना सुख मानते हों :—

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है;
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।

सर्व-सेवा के इस आदर्श की पूर्ति एक भौतिकवादी द्वारा सम्भव नहीं, वह अपने देहाभिमान और स्वार्थ को इतना नहीं छोड़ सकता; इसकी वास्तविक पूर्ति तो सच्चा अध्यात्मवादी ही कर सकता है, जो गांधीजी की भाँति अपने 'अहम्' की चेतनता में सब को समेट सकता हो और जो अपने चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार करके स्वयं निर्विकार हो गया हो :—

मैं की मेरी चेतनता
सब को ही स्पर्श किये सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी।
चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता सा;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धँसता सा।
सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥

प्रकृति के पुतलों की भाग्य-विधात्री

कामायनी में प्रकृति मनुष्य के सामाजिक जीवन की नियन्त्रिका होने के कारण उसकी भाग्य-विधात्री भी है। देव-जाति के दंभ, दर्प, अनाचार और अत्याचार को बढ़ता देखकर न मालूम प्रकृति किस अज्ञात शक्ति से उनके लिए दण्ड-विधान करती है और सब-के-सब जल-प्लावन में डूब जाते हैं :—

उनको देख कौन रोया यों
अन्तरिक्ष में बैठ अधीर !

व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय,
वह प्रालेय, हलाहल नीर ।

सारस्वत-प्रदेश में मनु के राज्य में निरन्तर बढ़ते हुए शोषण, अत्याचार और अतिचार की चरमसीमा जब 'इड़ा रानी' पर होने वाले अतिचार के रूप में पहुँच जाती है, तो प्रकृति और उसके पुतलों का भयंकर कोप होता है और अत्याचारी को कहना पड़ता है :—

तो फिर मैं हूँ आज अकेला जीवन रण में,
प्रकृति और उनके पुतलों के दल भीषण में

अनीश्वरवादी और भौतिकवादी लोग चाहे ऐसी घटनाओं को केवल 'संयोग' कह कर ही टाल दें और उनके पीछे किसी अदृश्य सत्ता का हाथ न देखें, परन्तु एक ईश्वरवादी के लिए, जो सारे चराचर विश्व की समष्टि में एक ही 'विराट वपु' देखता हो, युद्ध दुर्भिक्षादि ईति-भीति उसी प्रकार समष्टि-गत रोग हैं। जिस प्रकार व्यष्टिगत कुष्टादि, और दोनों को एकमात्र उद्देश्य है प्रकृति-विरुद्ध आचरण करने का दण्ड । बिहार-भूकम्प का कारण बताते हुए गांधीजी ने भी एक ऐसी बात कही थी, जिसकी आलोचना कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने कड़े शब्दों में की थी। पर जिसने न केवल सामूहिक चेतना की अभिव्यक्तियों का पर्यवेक्षण किया है, अपितु उस चेतना से अपनी व्यष्टि-चेतना का तादात्म्य करके अनुभव भी किया है, वह ही समझ सकता है कि जिस प्रकार सामाजिक पापों के विरुद्ध मानव-चेतना विद्रोह करती है उसी प्रकार वाह्य प्रकृति में व्याप्त चेतना भी करती है या नहीं । विश्व के सन्तों की अनुभूति तो इस विषय में 'हाँ' ही कहती है ।

नारी-रूप

सामाजिक दृष्टि से मनुष्य जीवन का सारा कर्म नारी में ही केन्द्रित है, नारी ही नर की शक्ति है और उसी में उसके रस का व्यावहारिक स्रोत है । सर्वप्रथम वह पुरुष के सामने एक आकर्षण, स्फुरण, उल्लास और उत्साह का विभाव होकर आती है । नारी के रूप में उसको श्रद्धा के प्रथम वर्णन में पाते हैं जिसके सुखद प्रभाव को व्यक्त करने के लिए प्रसाद ने कैसे सुन्दर रूपकों और उपमाओं का विधान किया है :—

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम ।
कुसुम वैभव में लता समान
चन्द्रिका में लिपटा घनश्याम ।

* * *

नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति ।
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ मे स्फूर्ति ।।
उषा की पहली लेखा कांत
माधुरी से भीगी भर मोद ।
मदभरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद ।।
कुसुम-कानन-अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार ।
रचित-परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार ।।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध ।
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिंब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध ।।

इस प्रकार के वर्णनो मे रूपको की या उपमाओ की बाढ़ का भी अपना महत्व है और उनके द्वारा अतिसूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को साकारता देने के लक्ष्य को प्रसाद जी ने ध्यान मे रखा है । कभी-कभी तो उन्होने वर्णन-वैचित्र्य के तथा अलंकार-अतिरेक के द्वारा आधुनिक रुचि को असुन्दर लगने वाली वस्तु को भी सौन्दर्य प्रदान कर दिया है । नीले रग वाले भेड़ के चमड़े को लपेटे नारी आज भला किसको सुन्दर प्रतीत होगी ! परन्तु प्रसाद जी के वर्णन में उसका रूप देखकर उसे कौन सम्मोहनमयी न कहने लगेगा :—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम ।
अरुण रवि-मंडल उनको भेद,
दिखाई देता हो छवि-धाम ।।

या कि नव इन्द्रनील लघुशृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत ।
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत ।।

घुँघराले बालों के बीच "विधु-वदन" तथा उस पर खेलने वाली मधुर मुस्कान का भी वर्णन कितना सुन्दर और सजीव है !

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस-अवलंबित मुख के पास ।
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास ।।
और उस मुखपर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम ।
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम ।।

नारी के इस सरल सौन्दर्य-प्रवाह मे विकार या क्षोभ उत्पन्न करने वाली 'वासना' है । वासना के आगमन से वह उन्मत्त उल्लास "सव्रीड़ सुकुमारता" द्वारा दब कर भीतर-भीतर 'आनन्द कूजन' करता रहता हे, उसकी प्रच्छन्न अभि-व्यक्ति रोमाञ्च आदि द्वारा ही होती है। नारी के इस रूप का चित्रण भी प्रसाद ने बड़ी सफलतापूर्वक किया है जिसका उल्लेख रस-निरूपण के प्रसग मे हो चुका है ।

वासना नारी के हृदय मे एक स्वाभाविक दुर्बलता के रूप मे आती है और वह अनुभव करती है कि 'अवयव की सुन्दर कोमलता, लेकर मै सब से हारी हूँ" (पृ० १०४) उस समय नारी एक विचित्र मन की ढिलाई अनुभव करती है । उसमे सदा 'उत्सर्ग, समर्पण और दान की प्रवृत्ति' रहती है । नारी के इस मनोवैज्ञानिक स्वरूप का चित्रण कामायनी मे देखने योग्य है—

सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महातरु छाया में,
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में ?
अभिनय करती क्यों इस मन में
कोमल निरीहता श्रमशीला ?
निस्संबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में ।
चाहती नहीं जागरण कभी

सपने की इस सुघराई मे !
रुकती हूँ और ठहरती हूँ
पर सोच-विचार न कर सकती ।
पगली सी कोई अंतर में
बैठी जैसे अनुदिन बकती ।
मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ।
भुजलता फँसा कर नरतरु से,
झूले सी झोंके खाती हूँ ।
इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है ।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है ।

इस चित्रण मे रोकने और ठहरने वाली लज्जा है । 'वासना' के साथ लज्जा का सम्मिश्रण नारी के रूप का एक नया ही पक्ष ला खड़ा करता है, जिसमे एक रुकावट, एक हिचक, एक सिमटन, एक पिघलन और न जाने क्या हृदय मे मूक ध्वनि करने लगती है । श्रद्धा के इस रूप का वर्णन कितना वास्तविक है.—

सब अंग मोम से बनते है
कोमलता मे बल खाती हूँ,
मैं सिमट रही सी अपने में,
परिहास गीत सुन पाती हूँ ।
स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों मे भर कर बाँकपना,
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो,
वह बनता जाता है सपना ।
मेरे सपनों से कलरव का
संसार आँख जब खोल रहा,
अनुराग समीरों पर तिरता
था इतराता सा डोल रहा ।
अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को,
जीवन भर के बल-वैभव से

सत्कृत करती दूरागत को ।
किरणों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलंबन ले चढ़ती,
रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती ।
छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं,
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं ।
संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप वरजती खड़ी रही,
भाषा बन भौहों की काली
रेखा सी भ्रम में पड़ी रही ।

लज्जा शील की रक्षिका और सौन्दर्य की धात्री है, परन्तु कामी इसे सहन नहीं कर सकता । वह तो इसे 'प्राणों का आवरण' और 'आनन्द विघ्न' मानता है । परन्तु इस आवरण के हटते ही नारी-रूप में कैसा परिवर्तन होता है, उसका चित्र गर्भिणी श्रद्धा के वर्णन मे देखिए :—

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार,
श्रद्धा की अब वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अंधकार ॥

* * *

भावनामयी वह स्फूर्ति नहीं
नव नव स्मित रेखा में विलीन,
अनुरोध न तो उल्लास, नहीं
कुसुमोद्गम सा कुछ भी नवीन ।
आती है वाणी में न कभी
वह चाव-भरी लीला हिलोर,
जिसमें नूतनता नृत्यमयी
इठलाती हो चंचल मरोर ।

यह चित्रण एकांगी है, इसमें केवल पुरुष की अतृप्त वासना की आँखों से देखा हुआ एक अभाव चित्र है; वस्तुतः भावी जननी का गौरवपूर्ण चित्र इससे बिल्कुल भिन्न है :—

केतकी-गर्भ सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी,
कंपित लतिका सी लिए देह।
मातृत्व-बोझ से झुके हुए,
बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।
सोने की सिकता में मानो,
कालिंदी बहती भर उसास,
स्वर्गंगा में इंदीवर की,
या एक पंक्ति कर रही हास।
कटि में लिपटा था नवल वसन,
वैसा ही हल्का बुना नील,
दुर्भर थी गर्भ मधुर पीड़ा,
झेलती जिसे जननी सलील।
श्रमबिन्दु बना सा झलक रहा
भावी जननी का सरस गर्व,
वन कुसुम बिखरते थे भूपर,
आया समीप था महापर्व।

हिन्दी साहित्य मे प्रसाद से पूर्व नारी के रूप का वर्णन बहुत हुआ था, उसमें भी विरह-वर्णन की तो पराकाष्ठा ही हो चुकी थी। प्रसाद जी ने भी श्रद्धा के विरह का वर्णन किया है; उसमे सयत भाषा और भाव, उक्तियो की नवीनता और विचित्रता तथा शैली की सरलता एव सरसता स्पृहणीय है :—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरंद रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ!
वह प्रभात का हीन-कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि, शशि, तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।

जहाँ तामरस इंदीवर या सित शतदल है मुरझाए,
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आए;
वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाए।

एक मौन-वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही;
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।
नील-गगन में उड़ती-उड़ती विहग-बालिका सी किरनें,
स्वप्न लोक को चलीं थकी सी नींद सेज पर जा गिरनें;
किन्तु विरहिणी के जीवन में एक घड़ी विश्राम नहीं,
बिजली सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तमघन घिरने।

सोती हुई श्रद्धा का जागृत सौन्दर्य्य अपनी निराली ही छटा रखता है और मनु तो उस 'निशा सी नारी' की 'उज्ज्वल रूप चन्द्रिका' मे स्नान करके आत्म-विभोर सा ही हो जाता है :—

जागृत था सौन्दर्य्य यदपि वह
सोती थी सुकुमारी,
रूप-चंद्रिका में उज्ज्वल थी,
आज निशा सी नारी।
वे मांसल परमाणु किरण से
विद्युत थे बिखराते,
अलकों की डोरी में जीवन
कण कण उलझे जाते।
विगत विचारों के श्रम सीकर
बने हुए थे मोती;
मुख-मंडल पर करुण कल्पना
उनको रही पिरोती।
छूते थे मनु और कंटकित
होती थी वह बेली;
स्वस्थ व्यथा की लहरों सी
जो अंगलता थी फैली।
वह पागल सुख इस जगती का
आज विराट बना था;
अंधकार मिश्रित प्रकाश का
एक वितान तना था।

यहाँ पर मनु के स्पर्श से श्रद्धा की अग-लता का कंटकित होना नारी-सौन्दर्य्य के एक नये ही पक्ष को चित्रित कर रहा है। इसमे है नर-नारी के पारस्परिक

आकर्षण से उत्पन्न अनुभाव का किंचित् प्रदर्शन। इसी के एक दूसरे स्वरूप का चित्रण श्रद्धा-मनु की उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वासना-मय परिचय में देखिये :—

चल पड़े कब से हृदय दो पथिक से अश्रांत,
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रांत।
एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत-विकार;
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।

एक जीवन सिन्धु था, तो वह लहर लघु लोल;
एक नवल प्रभात तो वह स्वर्ण-किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सघन उद्दाम;
दूसरा रंजित किरण से श्री-कलित घनश्याम।

नदी तट के क्षितिज में नव जलद सायंकाल,
खेलता दो बिजलियों से मधुरिमा का जाल।
लड़ रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश;
एक सकता था न कोई दूसरे को फाँस ?

पुरुष के सामीप्य से नारी-सौन्दर्य्य का मूल्य तो बढ़ता ही है, परन्तु पशु के सान्निध्य ने श्रद्धा के सौन्दर्य्य में जो वृद्धि की वह कालिदास की मृगशावक-प्रणयिनी शकुन्तला की याद दिलाये बिना नहीं रह सकती :—

एक माया ! आ रहा था पशु अतिथि के साथ,
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।
चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अंग
स्नेह से कर चूमता उद्ग्रीव हो यह संग,

कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल,
भाँवरों से निज बनाता अतिथि सन्निधि-पाल।
कभी निज भोले नयन से अतिथि वदन निहार
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से डार।

और वह पुचकारने का स्नेहशवलित चाव,
मंजु ममता से मिला बन हृदय का सद्भाव।
देखते ही देखते दोनों पहुँच कर पास
लगे करने सरल शोभन मधुर मुग्ध-विलास।

परन्तु, फिर भी नारी-सौन्दर्य्य का मूल्य आँक सकना नर के लिए ही सम्भव है, वह भी संभवतः युवक के लिए ही। अतः स्त्री के सौन्दर्य्य की सही परख युवक-

नेत्रों से देखने पर ही हो सकती है। मनु ने जिस रूप में श्रद्धा को देखा वह मनु के ही शब्दों में प्रसाद ने जैसा अच्छा व्यक्त किया है उसकी समता शायद ही कहीं मिले। इस चित्र में नारी के स्थूल शृंगारों का वर्णन नहीं, अपितु सौन्दर्य्य-विभावित मनु-हृदय की एक सूक्ष्म झाँकी है। यही वह अनुभूति है जो औरों के लिए 'गूँगे का स्वाद' रह जाती है, परन्तु कवि ने जिसे मूर्त्त रूप दिया है।

दिव्य तुम्हारी अमर अमिट छवि
लगी खेलने रंग—रली,
नवल हेम-लेखा सी मेरे
हृदय-निकष पर खिंची भली।
अरुणाचल मन-मन्दिर की वह
मुग्ध माधुरी नव प्रतिमा
लगी सिखाने स्नेहमयी सी,
सुन्दरता की मृदु महिमा
हृदय बन रहा था सीपी सा
तुम स्वाती की बूँद बनी,
मानस शतदल झूम उठा जब
तुम उसमें मकरन्द बनी।
मैंने समझा मादकता है
तृप्ति बन गई वह इतनी,
भगवति ! वह पावन मधुधारा !
देख अमृत भी ललचाये,
वही, रम्य सौन्दर्य्य शैल से
जिसमें जीवन घुल जाये।
संध्या अब ले जाती मुझसे,
ताराओं की अकथ कथा,
नींद सहज ही ले लेती थी
सारे श्रम की विकल व्यथा।
तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो
तुम उस में संतोष बनी।

कुसुम के साथ काँटे भी होते हैं और सुन्दर के साथ असुन्दर भी। **नारी,** कोमलता और सुन्दरता की प्रतीक नारी भी इसका अपवाद नहीं। **इसी ओर**

संकेत करते हुए कामायनीकार ने नारीहृदय का एक चित्र दिया है :—

नारी का वह हृदय ! हृदय में,
सुधा सिन्धु लहरें लेता,
बाडव ज्वलन, उसी मे जलकर,
कंचन सा जल रँग देता।
मधु पिंगल उस तरल अग्नि में
शीतलता संसृति रचती,
क्षमा और प्रतिशोध ! आह रे
दोनों की माया नचती।

नारी-रूप के इन्ही दोनो पक्षों की ओर ऋग्वेद के सूर्यासूक्त में भी संकेत किया गया है :—

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यता।
सौभाग्यमस्थै दत्त्वायाऽथास्तं विपरेतन
तुष्टमेतत् कटुकमेतदथाष्ठिषवन्नैतदत्तवे
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति
आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा शुन्धति

(च) प्रकृति-चित्रण

नारी का सौन्दर्य्य उस व्यापक सौन्दर्य्य का एक अंग मात्र है जो सारी प्रकृति में बिखरा पड़ा है। प्रसाद प्रारभ ही से प्रकृति के प्रेमी रहे है और उन्होने अपने गीतों में उसके सौन्दर्य्य को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कामायनी मे प्रकृति के एक विस्तृत क्षेत्र को लेकर उसके विविध अंगों का वर्णन किया गया है, जिसमे कई स्थलो पर तो बहुत ही सुन्दर चित्र मिलते हैं। उदाहरण के लिए हिमालय-वर्णन देखिए:—

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी
पथ थक कर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।
पवन वेग प्रतिकूल उधर था
कहता, "फिर जा अरे बटोही।
किधर चला तू मुझे भेदकर ?
प्राणों के प्रति क्यों निर्मोही ?"

छूने को अम्बर मचली सी
बढ़ी जा रही सतत उँचाई;
विक्षत उसके अंग, प्रगट थे
भीषण खड्ड भयकरी खाँई।

रविकर हिमखंडों पर पड़कर
हिमकर कितने रंग बनाता;
द्रुततर चक्कर काट पवन भी
फिर से वहीं लौट आ जाता।

उपर्युक्त वर्णन मे, 'अचल हिमानी' की स्तब्धता, पर्वत की गगन-भेदी ऊँचाई, प्रतिकूल पवन के वेग, गिरि-गह्वर की भीषणता तथा सूर्य-चन्द्र-किरणो के हिमखंडों पर प्रभाव को जिस उक्ति-वैचित्र्य ओर काव्यचातुर्य्य के साथ चित्रित किया गया है वह अत्यन्त मधुर और मनमोहक है। इसके आगे 'सुर-धनु' की माला पहने या 'चपला के गहने' चमकाते जलधर अथवा 'महाश्वेत गजराज गण्ड से बिखरी' मधु-धाराओ के समान प्रवहमान गिरि-निर्झरो मे कालिदास के हिमालय-वर्णन का अनुकरण होने पर भी, एक अद्भुत कौशल से काम लिया गया है, जिसके कारण मौलिक वर्णन का आनन्द मिलता है :—

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुर-धनु माला पहने;
कुंजर-कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।

प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्भर ऐसे;
महाश्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधु-धारायें जैसे।

'समतलों की चित्रपटी' उनमे निरतर गतिमान नद तथा 'ऊँचे चढने की रजनी का सवेरा' भी एक नयी सूझ ओर नवीन कल्पना के परिचायक है :—

हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्रपटी से लगते;
प्रतिकृतिओं के वाह्य रेख से
स्थिर, नद जो प्रति पल थे भगते।

लघुतम वे सब जो वसुधा पर
ऊपर महाशून्य का घेरा;

ऊँचे चढ़ने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सवेरा।

कामायनी में रजनी का जैसा सुन्दर चित्र मिलता है वह संभवतः अन्यत्र दुर्लभ है। रात का विश्व में, बार-बार आना-जाना, रात्रि-पवन का चलना, नक्षत्र-मंडित निशा का खिलखिलाना, तथा नैश वातावरण की स्तब्धता इन सब में से प्रत्येक के चित्रण में एक नयी प्रतिभा और अनूठी कला कापरिचय मिलता है :—

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।
किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही सी
चली जा रही किसके पास।
विकल खिलखिलाती है, क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।
घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकी सी आती;
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ में लाती।

यहाँ पर रूपकों का जो सौन्दर्य्य है वह रात्रि में नारी-सुलभ स्थितियों तथा व्यापारों के आरोप से द्विगुणित हो गया है। आगे कवि जिस घनिष्टता और ममता की भावना के साथ रजनी को संबोधित करता है और नैश विभूति ज्योत्स्ना के सौन्दर्य्य में तन्मय एवं गद्‌गद् होता है, वह सहृदय पाठक के लिए रमणीय वस्तु है :—

रजत कुसुम के नव पराग सी
उड़ा न दे तू इतनी धूल;
इस ज्योत्सना की, अरी बावली
तू इसमें जावेगी भूल।
पगली हाँ सम्हाल ले, कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;

देख, बिखरती हैं मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली !
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली ।
ऐसे अतुल अनंत विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग ?
या भूली सी खोज रही कुछ
जीवन की छाती के दाग ।

कामायनी में रात का यह चित्र अकेला नहीं है; कभी 'माधवी निशा की अलसाई अलकों' को किसी रूपक में या 'चंद्र की विश्राम राका बालिका' को उपमा में स्थान मिला है; तो कभी रजनी के पिछले पहरों में, जीवन बन में किसी 'मधुमय वसंत के प्रवेश का उल्लेख मिलता है। तारागण को अभिभूत करने का चन्द्र-प्रयास कैसा असफल रहता है और उस समय कुञ्जों और कुसुमों का कैसा सौन्दर्य्य होता है उसका उल्लेख करते हुए कहा गया है :—

चल-चक्र वरुण का ज्योति भरा
व्याकुल तू क्यों देता फेरी ?
तारों के फूल बिखरते हैं
लुटती है असफलता तेरी ।
नव नील कुञ्ज हैं झीम रहे,
कुसुमों की कथा न बंद हुई;
है अंतरिक्ष आमोद भरा
हिम-कणिका ही मरकन्द हुई ।
इस इन्दीवर से गन्ध-भरी
बुनती जाती मधु की धारा;
मन-मधुकर की अनुराग-मयी
बन रही मोहिनी सी कारा।

* *

अंचल लटकाती निशीथिनी अपना ज्योत्स्ना-शाली
जिसकी छाया में सुख पावे सृष्टि वेदना वाली।

उच्च शैल शिखरों पर हँसती प्रकृति चंचला बाला,
धवल हँसी बिखराती अपनी फैला मधुर उजाला ।

ये सब चाँदनी रातो के चित्र है; परन्तु चन्द्रहीन रात के भी कुछ चित्र बहुत सुन्दर बन पड़े है । तारो की झलमलाहट, नदी मे उनका प्रतिविम्ब, मन्द पवन, शान्त वृक्ष तथा उनकी धूमिल छायाएँ कवि के बचनो मे साकार और सजीव-सी हो उठी है :—

वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात,
उजले उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल ।
धारा बह जातीं बिम्ब अटल,
खुलता था धीरे पवन पटल,
चुपचाप खड़ी थीं वृक्ष पाँत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात ।
धूमिल छायाएँ रहीं घूम,
लहरी पैरों को रही चूम ।

इसी वर्णन की श्रद्धा के शब्दो मे पुनरुक्ति भी कितनी नवीन और कितनी सुन्दर है !

वह बोली 'नील गगन अपार
जिसमें अवनत घन सजल भार;
आते जाते सुख दुख दिशि पल
शिशु सा आता कर खेल अनिल;
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगनू अविरल,
वह विश्व अरे कितना उदार !
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार ।
जग, अपनी आँखें किये लाल,
सोता ओढ़े तम नींद जाल;
सुरधनु सा अपना रंग बदल,
सृति संसृति नति उन्नति में ढल;
अपनी सुषमा मे यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडुदल,

अवकाश सरोवर का मराल ।
कितना सुन्दर कितना विशाल ।।

युद्धोपरान्त सारस्वत नगर की 'भीमा रजनी में तारागण' अन्धकार, विचारों के सर्राटे, नदी के सन्नाटे, घायलों की सिसकी, दीपों की झलमलाहट तथा पवन की मद गति का एक अपना सौन्दर्य्य है जो 'अग्नि-शिखा-सी' धधकती हुई इड़ा के सामीप्य से विशेष महत्त्व का हो गया है :—

वह सारस्वत नगर पड़ा था
क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना,
जिसके ऊपर विगत कर्म का
विष विषाद आवरण तना ।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह
तारा नभ में टहल रहे,
वसुधा पर यह होता क्या है
अणु अणु क्यों हैं मचल रहे ?
जीवन में जागरण सत्य है
या सुषुप्ति की सीमा है,
आती है रह रह पुकार सी
'यह भव-रजनी भीमा है ।'
निशिचारी भीषण विचार के
पंख भर रहे सर्राटे,
सरस्वती थी चली जा रही
खींच रही सी सन्नाटे ।
अभी घायलों की सिसकी में
जाग रही थी मर्म व्यथा,
पुर-लक्ष्मी खग-रव के मिस कुछ
कह उठती थी करुण कथा ।
कुछ प्रकाश धूमिल सा उसके
दीपों से था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक रुक कर
खिन्न भरा अवसाद रहा ।
भय-मयमौन निरीक्षक सा था
सजग सतत चुपचाप खड़ा,

अंधकार का नील आवरण
हृदय जगत से रहा बड़ा।
मंडप के सोपान पड़े थे
सूने, कोई अन्य नहीं,
स्वयं इड़ा उस पर बैठी थी
अग्नि शिखा सी धधक रही।

इससे बिल्कुल विपरीत है सरस्वती-तट की निस्तब्ध निशा जिसको श्रद्धा सनाथ कर रही है :—

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त,
वह था असीम का चित्र कान्त,
कुछ शून्य बिन्दु उर के ऊपर,
व्यथिता रजनी के श्रम-सीकर;
झलके कब से पर पड़े न झर,
गंभीर मलिन छाया भू पर।
सरिता-तट-तरु का क्षितिज प्रान्त,
केवल बिखेरता दीन ध्वान्त;
शत शत तारा मंडित अनन्त,
कुसुमों का स्तबक खिला वसन्त।
हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हलके प्रकाश से पूरित उर,
बहती माया सरिता ऊपर,
उठती किरणों की लोल लहर।
निचले स्तर पर छाया दुरन्त,
आती चुपके, जाती तुरन्त।

निशीथ की इस निस्तब्धता में सरिता का 'एकान्त कूल' भी पवन के झकोरों, लहरों की थपकियों तथा दीप्ति की कँपकँपियों में भी कैसा सुन्दर लगता है :—

सरिता का वह एकान्त कूल,
था पवन हिंडोले रहा झूल।
धीरे-धीरे लहरों का दल,
तट से टकरा होता ओझल;
छप छप का होता शब्द विरल,
थर थर कँप रहती दीप्ति तरल।

संसृति अपने में रही भूल,
वह गन्ध-विधुर अम्लान फूल।

जल-प्लावन के पश्चात् की उषा भी कितनी आशा, आह्लाद और उल्लास का स्रोत बनकर आयी। 'सुनहले तीर बरसना', कालरात्रि को जल में अंतर्निहित करना, प्रकृति के विवर्ण मुख पर पुनः हँसी लाना, 'सित सरोज' पर 'पिंग पराग' के समान कोमल आलोक बिखेरना, अलसाई वनस्पतियों का शीतल जल से मुख धोते हुए जागना तथा प्रकृति को प्रबुद्ध करना इसी उषा का वरदान है :--

उषा सुनहले तीर बरसाती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अंतर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में
शरद विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।
धीरे धीरे हिम आच्छादन
हटने लगा धरातल से,
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से।
नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार बार जाती सोने।

प्रसाद ने प्रकृति के रमणीय रूप का जितना सुन्दर चित्रण किया है उतना ही उसके उग्र रूप का भी। दारुण वज्रपात, भयंकर घनघटा, सूर्य का निविड़ तम में क्रमिक प्रवेश तथा शंपाओं को लिये हुए अन्धकार का आवरण आदि से जिस प्रलयंकर वातावरण का सृजन कामायनी में किया गया है वह हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलता।

हा-हा-कार हुआ क्रंदनमय
कठिन कुलिश होते थे चूर;
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव
बार बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकंपन
झंझा के चलते झटके।
अंधकार में मलिन मित्र की
धुँधली आभा लीन हुई;
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा
स्तर स्तर जमती पीन हुई।
पंचभूत का भैरव मिश्रण,
शंपाओं के शकल-निपात;
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रही ज्यों खोया प्रात।

भूमण्डल-व्यापी अंधकार के लिए कितनी सुन्दर और सरस उत्प्रेक्षा की गयी है :—

बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।

गरजती हुई सिंधु लहरियों का भी ऐसा सजीव और स्वाभाविक चित्रण संभवतः अन्यत्र मिलना दुर्लभ है :—

उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी।

इन सब उग्रताओं और भयंकरताओं के साथ पौराणिक जल-प्रलय को साहित्य में मूर्तिमान करने तथा पृथ्वी की 'ऊभ-चूभ' अवस्था का चित्रण करने का श्रेय कामायनीकार को ही है :—

धँसती धरा, धधकती ज्वाला
ज्वालामुखियों के निश्वास;

और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास
सबल तरंगाघातों से,
उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी
ऊभ-चूभ थी विकलित सी
बढ़ने लगा विलास वेग सा
वह अति भैरव जल-संघात;
तरल तिमिर से प्रलय पवन का
होता आलिंगन प्रतिघात
वेला क्षण क्षण निकट आ रही
क्षितिज क्षीण फिर लीन हुआ;
उदधि डुबाकर अखिल धरा को
बस मर्य्यादा हीन हुआ।
करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सब का;
पंचभूत का यह तांडवमय
नृत्य हो रहा था कब का।

प्रकृति के उग्र रूप की भाँति ही उसके करुण रूप को भी कामायनी में स्थान मिला है। वस्तुतः यह करुणा मानव-हृदय की अनुभूति का आरोप मात्र है जिसमें प्रकृति किसी निराश या दुखी व्यक्ति के प्रति समवेदना का रूप धारण करती हुई मालूम पड़ती है। यह देखिये खिन्न मनु के सायकाल का करुण प्रसग :—

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय;
घन पटल में डूबता था किरण का समुदाय।
कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छल छन्द;
मधुकरी का सुरस संचय हो चला अब बंद।
उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन;
मेटता अंतिम अरुण आलोक वैभव-हीन।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक,
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते से कोक।

चिंता कातर मनु के हृदय की करुणा, स्तब्धता और विकलता को लिये एक ऐसा ही चित्र हमे कामायनी के प्रारम्भ मे भी मिलता है जिसमे हमें प्रकृति

के विषण्ण एव अवसन्न रूप के दर्शन होते है —

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह !
नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन ।
दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान ।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान ।
उसी तपस्वी से लम्बे थे, देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल जैसे पत्थर बनकर ठिठुरे रहे अड़े ।

प्रकृति के ऐसे विविध और सुन्दर चित्र उपस्थित कर सकने का कारण है प्रसाद का प्रकृति से घनिष्ठ परिचय । कितनी ही रातो की चाँदनी और नक्षत्र-प्रभा तथा कितने ही उषाकाल और सायकाल प्रसाद ने गगातट पर या गगा-गर्भ मे नौका पर बिताये थे । विनोदशकर व्यास लिखते है कि प्रसाद जी को प्रकृति से अधिक प्रेम था और अमरकटक पर्वतमाला, नर्मदा-तट तथा जीवन के अन्तिम भाग मे उन्हे समुद्र के सौन्दर्य्य ने भी प्रभावित किया था । प्रसाद जी का अपना प्रकृति-प्रेम ही सभवत: मनु के इन शब्दो मे प्रकट हुआ है :—

जब जीवन में साध भरी थी
उच्छृंखल अनुरोध भरा ।
मै था, सुन्दर कुसुमों की वह
सघन सुनहली छाया थी,
मलयानिल की लहर उठ रही
उल्लासों की माया थी !

उषा अरुण प्याला भर लाती
सुरभित छाया के नीचे ।
मेरा यौवन पीता सुख से
अलसाई आँखें मीचे ।
ले मकरन्द नया चू पड़ती,
शरद प्रात की शेफाली,
बिखराती सुख ही, संध्या की
सुन्दर अलकें घुँघराली ।

प्रकृति के साथ इतने निकट परिचय ने प्रसाद के भावों में जो माधुर्य्य उनके जीवन-प्रभात मे घोल दिया वह उनके रोम-रोम मे ऐसा भिद गया कि बाद की कटुता भी उसे नही निकाल सकी और उसकी अभिव्यक्ति उनके काव्य में निरतर होती रही । वस्तुतः उनके कृतित्व के सौन्दर्य्य का रहस्य है प्रकृति के साथ उनका यही प्रगाढ़ परिचय ।

दार्शनिक आधार-शिला

(१) व्यक्तिगत जीवन की देन

यों तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी निज की दृष्टि रखता है जिसमे वह जीवन को देखता है— स्वयं और समाज, व्यक्ति और समुदाय, व्यक्ति और प्रकृति तथा व्यष्टि और समष्टि के विषय में सोचता, विचारता और निर्णय करता है परन्तु, सच्चा कवि अपनी शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास से, कोमलता, उदारता और सहानुभूति से तथा कल्पना, अन्तर्दृष्टि एव आत्मविचार से इस दृष्टि को इतना पैना, प्रगतिमय और व्यापक बना लेता है कि वह सचमुच एक 'दर्शन' का रूप धारण कर लेती है। इसको पाकर कवि क्रान्तदर्शी हो जाता है, उसे ऋषित्व प्राप्त हो जाता है, उसकी वाणी को सब सुनने और बोलने लगते हैं और वह न चाहते हुए भी किसी 'पंथ' की स्थापना कर जाता है। अतएव प्राचीन महाकवि ऋषि हो गये।[1]

कवि का वह दर्शन सर्वप्रिय होता है। कवि के हृदय में विश्व की अनुभूतियाँ प्रतिबिंबित रहती है और उसकी वाणी मे भी उनकी अभिव्यक्ति। इसके साथ ही उसकी इस दार्शनिक अभिव्यक्ति की विशेषता यह होती है कि उसमें दार्शनिक की कठोर शुष्कता के स्थान पर माता की मोदमयी ममता होती है जो प्रत्येक सहृदय को आकर्षित किये बिना नही रह सकती; कवि-दर्शन सुन्दर कलेवर लेकर आता है और मोहक मदिरा पिलाकर ही मानता है। अतएव यह दर्शन अधिक उपयोगी और क्रियात्मक हो सकता है। इसलिए सच्चे कवियों के दर्शन को समझने और समझाने की बहुत बडी आवश्यकता है।

दुर्भाग्यवश, कवियों के दर्शनो को समझने की प्रथा भारतवर्ष में कालिदास से पूर्व ही बंद हो चुकी थी, अन्यथा उस कवि को कुछ और ही महत्त्व प्राप्त होता। सभवतः इसका मूल कारण है वर्णाश्रम-व्यवस्था का विनाश और उसके परिणाम-स्वरूप कविता का आश्रम की स्वस्थ और स्वतंत्र परिस्थितियों से राजभवनों की रँगरलियों मे जाना। इस परिवर्त्तन के पश्चात् भारतवर्ष में सभवतः सर्वप्रथम रवीन्द्राथ ठाकुर को ही यह महत्त्व मिल सका कि उनके काव्य मे 'दर्शन' देखने का प्रयत्न किया जाता। अन्यथा कवियों के काव्य की प्रायः वहिरंग-

[1] दे० आगे 'कुमारसंभव' शीर्षक के अन्तर्गत।

परीक्षा ही होती रही। इसके कारण आलोच्य और आलोचक दोनों में ही हैं। प्रथम तो कवि अपनी स्वाभाविक यश-लिप्सा से अपनी सभी रचनाओं को 'प्रकाशित' करना चाहता है और वैभव के आश्रय से शीघ्र कर भी डालता है। इसके परिणाम-स्वरूप रामायण के समान, कवि की जीवन-साधना का सिद्ध लक्ष्य ही आलोचकों के सामने न होकर, उसकी समस्त साधना होती है—उत्थान-पतन, शुक्ल-कृष्ण सत-असत् और दिन-रात की द्वंद्वमयी अपूर्णता से परिपूर्ण जीवन-साधना। फिर आश्रमवासी सन्यासी के पूर्व जीवन की किसे चिन्ता थी? तुलसीदास और सूरदास तक के जीवनवृत्त इसीलिए अभी तक अंधकार में हैं। परन्तु, राजाश्रित कवि का तो प्रत्येक दिन, राजाश्रय से उसकी रचना की भाँति ही 'प्रकाशित' होता जाता था। 'राजाश्रय' के स्थान पर यदि 'प्रकाशन-सुविधाएँ' रख दें तो यही बात आधुनिक कवि के लिए भी लागू हो जाती है। अतएव उनका समस्त जीवन, दिन-रातमय, आलोचकों के सामने आ जाता है, आलोचक भी ऐसे जो भीतर से बाहर, शुक्ल से कृष्ण और दिन से रात को अधिक देखना चाहते है, विशेषकर हम फ्रायडयुगीय लोग जो पंकज की सौन्दर्य्य-परीक्षा पंक के विश्लेषण से ही करने में सिद्धस्त हैं।

अस्तु, कवि के दर्शन का सबसे बड़ा स्रोत है उसका व्यक्तित्व जिस में उसकी प्रतिभा और निपुणता, अभ्यास और अनुभव तथा अध्ययन और अनुभूति सभी कुछ आजाता है। फिर कामायनी तो प्रसाद की जीवन-साधना का सिद्ध अंत है; अतः उसमें निहित दर्शन को विभिन्न अवस्थाओं में से विकसते हुए देखने के लिए कवि के जीवन से हमें विशेष सहायता मिल सकती है। अतः सर्वप्रथम उनके जीवन के सृजनात्मक पक्ष की देन पर ही विचार किया जाता है; कलाकार को बनाने वाले भीतरी-बाहरी तत्वों पर सामूहिक दृष्टिपात किया जाता है।

कलाकार की कृति में उसके व्यक्तित्व की सुन्दरतम अभिव्यक्ति मिलती है। अतः कला का पारखी यदि कलाकार के व्यक्तित्व का निरीक्षण करे तो कोई असंगत बात नहीं। परन्तु ऐसा करते हुए, स्वयं प्रसाद जी का यह कथन न भूलना चाहिए कि 'कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका व्यक्तित्व'।[1]

वस्तुतः हमें कलाकार के व्यक्तित्व का वही पक्ष अभीष्ट है जिसने उसकी कला को कलात्व दिया है—वही सत्, स्वस्थ और सुन्दर पक्ष जो उसके असत्, अस्वस्थ और असुन्दर को अभिभूत करके उसकी कृतियों में मुखरित हुआ है। इसी विजयी ओर सफल पक्ष में प्रगति के तत्त्व हैं। इसके विपरीत, पराभूत और असफल पक्ष में निस्सन्देह 'दुर्गति' के बीज भरे पड़े हैं। यही कारण है कि भारतीय

१ वि० प्र०, पृ० २४ पर उद्धृत प्रसाद का लेख।

परम्परा ने सदा पहले को उभारा, पसारा और याद रक्खा तथा दूसरे को दबाया, छुपाया और भुलाने का प्रयत्न किया। कुछ लोगों को सूर या तुलसी, बाण या कालिदास, रवीन्द्र या अरविन्द, गौतम या गांधी, हर्ष या ह्यूगो, खय्याम या शेक्सपियर द्वारा पुनः-पुनः पराजित तथा परिष्कृत 'सांग काम' की कुचालों में ही प्रगति दिखाई पड़ती है, 'अनंग काम' की कृति उनकी दृष्टि में मिथ्यात्व है। ऐसे ही लोगों से प्रसाद जी ने कहा है :—

इस गंभीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य मानव इतिहास—
यह तो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य मलिन उपहास;
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती,
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती ॥

'रीती गागर' को ही निरखने के शौकीन व्यक्तियों की यह बात पलायन नहीं तो समर्पण या चाटुकारिता की प्रकृति तो है ही जो उन्हें अपनी अस्वस्थ चारित्रिक दुर्बलताओं मे औचित्य स्थापित करने के लिए उन्हें किसी सबल बहाने की खोज मे प्रवृत्त करती है। परन्तु प्रसाद जी को भय है कि अपनी 'रीती गागर' दिखलाने में कहीं अपनी भूलों के साथ-साथ उन देखने वालों की प्रवञ्चना भी प्रकट न हो जाए :—

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो मेरा रस ले अपनी भरने वाले,
यह बिडम्बना अरी ! सरलते ! तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं
भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों को दिखलाऊँ मैं।

सचमुच जीवन की भूलों और प्रवञ्चनाओं से भरे अध्याय को देखकर भला कौन निहाल होगा ! कृति के समझने में कर्ता के उन उपकरणों का क्या उपयोग जिन पर एक 'वज्र आवरण' डाले बिना कृति का अस्तित्व ही सम्भव न होता !

प्रसाद जी के साहित्य की गुरुता परखने में उनके व्यक्तितत्व का ज्ञान बहुत सहायक हो सकता है। परन्तु, खेद है कि इस दिशा में श्री विनोदशंकर व्यास जी का ही कुछ प्रयत्न मेरी जान में हुआ है, परन्तु वह अत्यल्प एवं अपर्याप्त है। व्यास जी लिखते हैं—"प्रसाद जी का वास्तविक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव सात्विक पाया। पान को छोड़कर उन्हें और कोई व्यसन नहीं था, वह भाँग तक नहीं पीते थे। मांस-मदिरा से हार्दिक घृणा-सी थी।.....चौदह वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन प्रसादजी के साथ रहते हुए भी मैंने उनमें कोई दुर्गुण नहीं देखा।" प्रसाद जी का यही रूप उन्हें उल्लास और प्रकाश देने वाला है और वे इस उज्ज्वल "गाथा" को लक्ष्य करके कहते है :—

"उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया
आलिंगन में आते-आते मुसका कर जो भाग गया।"

प्रसाद जी का जीवन एक मुक्त-साधना का जीवन था—नैतिक, साहित्यिक और साथ ही आध्यात्मिक साधना का। उनका विश्वास था कि 'अपवित्रता, असत् और दुश्चरित्रता कला का उद्देश्य न होना चाहिए।' अतः असुरत्व पर देवत्व की विजय अनिवार्य थी, जीवन के प्रत्येक प्रयास और प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में। इस विजय के बिना उन्हें वह 'विराट रमणीय', वह 'नटराज' महादेव नहीं मिल सकता था, जिसकी स्मृति को लेकर ही वे साहित्य पथ पर चलते रहे और जिसकी सौन्दर्य्य-रश्मियों से ही काव्यकन्या को सजाते रहे—

जिसके अरुण कपोलों की लाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में;
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की।

दुनियाँ को इसी कन्था से प्रयोजन होना चाहिए न कि उसकी सीवन उधेड़ने से। कन्था के भीतर जो ढका है, उसको ढाँकने से ही तो कन्था का निर्माण हो सकता है।

प्रसाद जी के व्यक्तित्व में करुणा अपना विशेष स्थान रखती है। बारहवें वर्ष में पिता, पन्द्रहवें में माता, तथा सत्रहवें में ज्येष्ठ भ्राता के निधन के हृदय-द्रावक दृश्य मानो किशोर जयशंकरप्रसाद को करुणा-प्लावित करने के लिए पर्याप्त न थे; इसलिए नियति ने एक के बाद दूसरी पत्नी का वियोग भी उनके लिए ला उपस्थित किया[१]। उनकी विधवा भौजाई तो 'करुणस्य मूर्त्तिरथवा शरीरिणी' होकर उनके लिए करुणा का चिर स्रोत ही बन गयी थीं। दुःखद प्रसंगों से उनके कोमल कवि-हृदय को जो प्रेरणा मिली उसी से वे वेद और वर्धमान, बुद्ध और बौद्ध तथा बाल्मीकि और व्यास की करुणा को हृदयंगम कर अपने साहित्य में उसकी व्यापक और उदात्त अभिव्यक्ति कर सके[२]। कामायनी के मनु के लिए प्रयुक्त निम्नलिखित शब्द किसी समय स्वयं प्रसाद जी के लिए भी कितने उपयुक्त थे :—

१ वही पृष्ठ १—२
२ देखिये आगे अ०

दुःख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे।
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे[१]।

उनकी करुणा का मूल उनकी व्यापक उदारता थी जो उनके 'रक्त' में होने से उनका 'स्वभाव' बन गयी थी। जिसके पितामह के 'द्वार से कोई खाली हाथ न लौटता' हो जिसका पिता अपनी उदारता और गुणग्राहकता के लिए काशी-नरेश के समान सम्मानित होता हो और जिसका भाई अपने अपूर्व औदार्य तथा ऊंची रहन-सहन के लिए प्रसिद्ध हो[२], वह क्यों न पीड़ित मानवता के लिए "सजल-संस्कृति का यह पतवार" अपना 'हृदय रत्न-निधि स्वच्छ' खोल दे। वंशानुगत गुरुता तथा उदारता का जो स्वस्थ और सुन्दर प्रभाव प्रसाद के जीवन एवं साहित्य पर पड़ा उसकी समता रवीन्द्रनाथ ठाकुर में ही मिल सकती है, जिनसे वे अवश्य ही प्रभावित हुए थे। इन्ही गुणों के कारण, मल्लिका, स्कन्दगुप्त, देवसेना आदि अपने आदर्श पात्रों की भाँति प्रसाद जी ने भी अपने ईर्ष्यालु विरोधियों तथा अपराधियों को भी क्षमा कर दिया[३] तथा निस्वार्थ कर्त्तव्य परायणता को ही सदा अपनाया[४]।

यही है 'हृदयसत्ता का सुन्दर सत्य' जो प्रसाद जी की सौदर्य्यानुभूति को अत्यधिक चमका देता है। ११ वर्ष की अवस्था में अपनी माताजी के साथ तीर्थ-यात्रा करते समय, विंध्य तथा अरावली की गिरिश्रेणियों और नर्मदा, शिप्रा, एवं यमुना की लोल लहरियों, पश्चात् जगन्नाथपुरी की यात्रा में समुद्र की उत्ताल तरंगों, काशी में उषाकालीन गंगा-तट के दृश्यों तथा उनके गृहोद्यान की पुष्प-क्यारियों ने प्रकृति-सौन्दर्य्य के जिस गूढ़-रहस्य को उनपर प्रकट किया उसी को उन्होंने 'जीवन के मधुमय वसन्त' मे, कोकिल की काकली में, कलियों की पंखड़ियों में, 'नृत्य-शिथिल-निश्वासों' में, शिशुओं की चञ्चलता में तथा संगीत की स्वर-लहरियो में पाया और उन्होंने देखा कि—

सौन्दर्य्य मयी चञ्चल कृतियाँ,
बनकर रहस्य हैं नाच रहीं;

१ वि० पृ० ३२
२ वि० पृ० १-३
३ देखिये वि० प्र०, पृ० ७-८
४ तु० क० वि० पृ० ८ जिसके अनुसार अपनी पुस्तकों के लिए पाये हुए पुरस्कार को भी उन्होंने दान कर दिया और अपनी रचना के लिए एक पैसा भी कभी नहीं लिया।

मेरी आँखों को एक वहीं,
आगे बढ़ने में जाँच रही ।

. सौन्दर्य की इसी व्यापक कल्पना ने प्रसाद जी को एक विशेष दृष्टि-कोण दिया जिसे हम 'आनन्दवाद' कह सकते है। यह दृष्टिकोण ही 'उन्हे सर्वदा मृदु-भाषी, हँसमुख, मिलनसार, सहृदय ओर व्यवहार-कुशल[1] वनाये रखता था और इसी ने उन्हे एक मादक मस्ती दी थी जो कभी मधुर मुस्कान मे तथा कभी स्वच्छंद अट्टहास मे प्रकट हो पडती थी। उनका कहना था "जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त-प्रेरणा फूलो की पखड़ियो को गद्‌गद् कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोका सव का आलिगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरतर परिस्थिति होनी चाहिए।"[2]उनका विश्वास हो गया था कि 'मानव-जीवन की मूल सत्ता मे आनन्द है'—'विश्व की कामना का मूल रहस्य आनन्द' है।[3] यही उनके 'बनारसी रग' का कारण था।

इस आनन्दवाद की अभिव्यक्ति प्रसाद-साहित्य की अपनी विशेषता है 'एक घूट' मे स्वास्थ्य, सरलता ओर सौन्दर्य्य के उद्देश्य पर स्थापित अरुणाचलाश्रम, स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक आनन्द तथा चिरपरिचित को पाकर 'एक घूट' पीने और पिलाने वाली वनलता की सृष्टि मे यही प्रवृत्ति मिलती है। 'तितली' में 'महाकाल के ब्रह्मचारी' द्वारा प्रसादजी भारतीयता के इसी आनन्दवादी स्वरूप का पुनरुद्धार चाहते है—

'आर्य धर्म्म का प्रारम्भिक उल्लासमय-स्वरूप यद्यपि अभी एक बार ही नष्ट नहीं हो गया। फिर भी उसे जगाना पडेगा' इसी के 'जागरण' का व्रत लेकर प्रसादजी की साहित्य-साधना एक विशेष दर्शन को विकसित करती हुई कामा-यनी मे 'आनन्द-अम्बुनिधिशोभन' तक पहुँच जाती है, जिसका वर्णन कवि इन शब्दों मे करता है :—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

प्रसाद जी के आनन्दवादी दृष्टिकोण को निश्चित दिशा उनकी शिवभक्ति से मिली प्रतीत होती है। 'वह शिव के उपासक थे. . . . .अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रतिदिन की तरह पूजा करके शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखो और मस्तक पर लगा लेते[4]।" शैव-धर्म उनके

१ वि० प्र०, पृ० ७, २ ए० पृ० १७, ३ ए० पृ० २२-२३; ४ वि० प्र०, पृ० १९

कुल का परम्परागत धर्म्म था; प्रसाद जी ने अध्ययन और अनुभव से उसे अपने जीवन की मूलप्रेरक शक्ति बना लिया था। काश्मीरी शैवागम का उन पर जो विशेष प्रभाव पड़ा उसका समन्वय उन्होंने औपनिषदिक ब्रह्मवाद से सहज ही कर लिया प्रतीत होता है। बहुत संभव है कि श्री दीनबन्धु ब्रह्मचारी (उनके शिक्षक) का भी इसमें बहुत हाथ रहा हो और प्रकृति तथा परम्परा से ऊर्जस्वित हृदय पर जो संस्कार उन्होंने डाले हों वही 'कामायनी' के 'दर्शन', 'रहस्य', तथा 'आनन्द' के रूप में प्रस्फुटित हुए हों। अस्तु, उनके आनन्दवाद तथा शैवागम का सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट है; उदाहरण के लिए 'नटराज' का 'आनन्दपूर्ण पाण्डव' देखिये[1]—

नटराज स्वयं थे नृत्य निरत
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित
*** * ***

लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा-पुञ्ज चितिमय प्रसाद;
आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर;
बनते तारा, हिमकर दिनकर
उड़ रहे धूलिकण से भूधर;
संहार-सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

उनके व्यक्तित्व के निर्माण में कौटुम्बिक प्रेम का बड़ा हाथ था। बचपन में उन्हें अपने माता-पिता का अगाध दुलार मिला और जब दुर्दैव ने उन्हें उस पवित्र निधि से वञ्चित कर दिया तो भी उनके भाई-भौजाई ने उसकी पूर्ति करके प्रसाद जी के कौमार्य्य को कमनीय बनाया। उनके दाम्पत्य-जीवन ने संयोग और वियोग की जो विविध झाँकियाँ उपस्थित कीं वे प्रसाद जी के जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ गयी और उनके चित्रण से साहित्य समृद्ध हुआ। अपने घर पर ही प्रेम की अनुपम समृद्धि पाकर उन्हें स्वभावतः प्रेमियों को ढूँढ़ने की आवश्यकता न थी, यद्यपि उनके व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर आए हुए व्यक्ति निराश नहीं होते थे। इसीलिए 'प्रसाद जी की अन्तरंग मंडली बहुत बड़ी न थी। वह किसी के यहाँ जाने में हिचकते थे।[2] परन्तु इन प्रेम-प्लावित परिस्थितियों ने उनके हृदय में अगाध

---

१ का० २५२-२५३
२ वि० प्र०, पृ० ९

सहानुभूति भर दी थी, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी प्रारम्भिक कविताओं में ही होने लगी थी :—

पतित हो जन्म से या कर्म ही से क्यों न होवे।
पिता सबका वही है एक, उसकी गोद में रोवे॥ (१९१४ ई०)

और आगे यही सहानुभूति 'समरसतावाद' में परिणत होकर मानव को संदेश देती है कि :—

हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमी हैं।

*　　　　*

सब भेद-भाव भुलवाकर,
दुःख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

पारिवारिक प्रेम के सरल, स्वस्थ और सुन्दर प्रभाव को प्रसाद जी सदा स्वीकार करते थे। 'तितली' में इन्द्रदेव से विदेशी शैला कहती है, "तुम्हारे भारतीय हृदय में, जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति और सहायता की बड़ी आशाएँ परम्परागत संस्कृति के कारण, बलवती रहती है" 'सत्यव्रत' तथा 'भरत' आदि प्रारम्भिक कविताओं से लेकर 'ध्रुव-स्वामिनी' नाटक तक भारतीय परिवार के इस अलौकिक आदर्श की गरिमा और पवित्रता निरन्तर व्यक्त होती रही है और प्रसाद जी के प्रायः सभी नायक नायिकाएँ उसके लिए सर्वस्व त्याग करने को उद्यत देखे जाते हैं।

ऐसी अवस्था में, व्यास जी ने अपनी 'दिन-रात' में प्रसाद के जिन प्रेम-प्रसंगों का वर्णन किया है वे हँसी-मसखरी के अतिरंजित रूप ही से प्रतीत होते हैं। कुछ लोगों ने 'आँसू' में कवि के व्यक्तिगत विरह की अभिव्यक्ति को देखा जो संभवतः कुछ हद तक ठीक भी है। परन्तु, 'आँसू' का विरह और 'प्रेम-पथिक' का विरह मुझे एक ही प्रतीत होते हैं। दोनों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए तो यहाँ अवसर[1] नहीं है, परन्तु 'प्रेम-पथिक में प्रेम के जिस आदर्श की स्थापना हो चुकी थी, उसके पश्चात् किसी अन्य प्रेम-प्रसंग के लिए अवकाश कवि के जीवन में नहीं रह सकता था, विशेष कर इतने अध्ययनशील, व्यवसायी तथा साहित्यिक प्रसाद के विवाहित जीवन में। 'आँसू' और 'प्रेम-पथिक' का आधार-भूत प्रसंग संभवतः कोई बचपन की घनिष्ट मैत्री थी जिसका स्रोत वासनामय आकर्षण न होकर साहचर्य-

१ दे० लेखककृत 'प्रसाद का व्यक्तित्व' (प्रेस में) ब्र०

जन्य बालप्रेम रहा प्रतीत होता है। इस घटना ने कवि के हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव किया, क्योंकि इसका प्रभाव 'प्रेम-पथिक' के प्रकाशन से पूर्व भी प्रकट हो चुकता है। इस घटना के आधारभूत 'प्रेम-प्रसंग' के महत्त्व को समझने के लिए, प्रेम-पथिक की संक्षिप्त कथा जान लेनी आवश्यक है :—

"सुख, समृद्धि, स्नेह और शान्ति के वातावरण से युक्त 'आनन्द नगर' किसी नदी के किनारे पर स्थित था। सरिता-कूल पर एक सुन्दर सदन में एक बालक अपने पिता के साथ रहता था। उसका नाम था किशोर। पास ही एक घर में उसके पिता के वृद्ध मित्र अपनी कन्या चमेली के साथ रहते थे। दिन भर दोनों बालक परस्पर मिलजुल कर खेलते रहते और रात को चकवा-चकवी की भाँति अलग-अलग सो रहते थे। किशोर के पिता का अन्त-समय आ गया। मरते समय उन्होंने अपने मित्र को बुलाया और उस बालक को उन्हें सौंप दिया।"

"पिता की मृत्यु के बाद, वह बालक अपने पिता के मित्र के घर पर ही उस बालिका के साथ रहता था। दोनों खेल-कूद में बढ़ते गये और साथ ही बढ़ता गया उन दोनों का एक दूसरे के प्रति प्रेम। वे दोनों भिन्नदेह होते हुए भी एक हो गये थे। एक दिन वे फुलवारी से अच्छे-अच्छे फल तोड़कर घर लाये। लगभग एक पहर दिन चढ़ आया था। उन्होंने देखा कि आँगन में बहुत-से लोग एकत्र हैं और सामने चाँदी के थाल में कुछ सामान रक्खा हुआ है। बालक कुतूहलवश वहाँ दौड़ कर गया। पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि वह सब उस बालिका के 'फलदान' (एक विवाह-संबन्धी रस्म) की तैय्यारी थी।"

"चमेली का विवाह हो गया, किसी परदेशी अपरिचित के साथ। उस बालक का सर्वस्व लुट गया। उसने भग्न-हृदय होकर उस घर को, अपनी जन्मभूमि को सदा के लिए छोड़ दिया। अब वह प्रेम-पथ-पथिक बन गया; सारा जगत् ही उसका घर था। वह विरहाग्नि से जल रहा था; उसके दिल के फफोले आँसू बनकर बह रहे थे। एक दिन किसी गिरि-उपत्यका में सरिता के किनारे वह शरद-रात्रि के चन्द्र में अपनी 'चमेली' के मुख को निर्निमेष देख रहा था। एकाएक चन्द्रबिम्ब से एक उज्ज्वल व्यक्ति निकला और उसने प्रेम के निःस्वार्थ, निश्छल और पवित्र स्वरूप का उपदेश किया, जिसका उपसंहार करते हुए उसने कहा :—

**"प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ ?
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग भर में,
कहाँ रहा तब द्वेश किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है;
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है।
यह संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य तत्त्व रह जाता है।"**

"इसी उपदेश को हृदयंगम करके वह विचरने लगा। घूमते-घूमते वह एक सुन्दर कुटिया पर पहुँचा। वहाँ पर एक तापसी रहती थी। रात हो चली थी। तापसी ने पथिक से उसी कुटी में रात बिताने का अनुरोध किया और साथ ही अपनी आत्मकथा सुनाने का भी। पथिक ने प्रस्ताव मान लिया। उसने अपनी सारी कथा कह सुनाई.........बचपन की प्रणय-लीला से लेकर चमेली के ब्याह तक और घर छोड़ने से लेकर चन्द्रबिम्ब से देव पुरुष के निकलने तक। कथा सुनने पर तापसी ने पहचाना...।...वह पथिक किशोर था; और पथिक ने जाना कि वह तापसी उसी की 'चमेली' थी।

"चमेली के इस तापस-जीवन अपनाने के पूर्व की कथा भी अत्यन्त दुख-भरी और करुण थी। चमेली का पति 'पत्थर' था, जिसमें प्रेम की तो बात क्या, दया, करुणा और सहानुभूति के लिए भी स्थान न था। पर हाय! वह भी एक दिन चल बसा, अपनी अतुल धन-संपत्ति सहित अपनी पत्नी को अनाथा बनाकर। अब उसके मृत पति के मित्रों की कुदृष्टि चमेली पर पड़ने लगी; उनकी वासना-भरी दृष्टि से बचाने वाला उसके लिए भगवान के सिवाय कोई न था। एक दिन एक वृद्ध ने उसे सलाह दी........'यहाँ से दूर, एक मेरी जिमीदारी है। वहीं जीवन भर प्रयत्न करके मैंने शांति संग्रह की है। चलो वहीं, शांति-कुटीर बनाकर छोटे से कानन में, प्रभु-पद में निर्भय होकर रहो।' तब से आकर वह वहीं रहने लगी। यह वही स्थान था जहाँ उसे पथिक मिला।

* "चमेली की कथा सुनकर पथिक पहले तो उसके साथ आँसू बहाता रहा। फिर वह गंभीर स्वर में बोला—यह लीलामय की लीला है। युवक-युवतियों का प्रणयोच्छ्वास और अन्धानुराग मूर्खता है। बीती बातों को भूल जाओ। निष्काम होकर आन्तरिक स्वर्ग में रमण करो। विश्वात्मा को आत्म-समर्पण कर दो... पुलकित होकर विश्वप्रेम में प्रकृति मिला दो; विश्व स्वयं ही ईश्वर है।... विश्वात्मा ही सुन्दरतम है... हम तुम दोनों उस सौन्दर्यसागर के कण हैं... आओ गले नहीं प्रत्युत हम हृदय से मिल जायें, सरिता होकर जीवन-पथ में उस सागर तक दौड़ चलें।

"चमेली ने कहा—चलो, सौन्दर्य्य-प्रेमनिधि में मिलें। जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है।"

*** सबका निचोड़ लेकर तुम**
सुख से सूखे जीवन में;
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

प्रेम-पथिक के इस 'सौन्दर्य्य प्रेमनिधि' और कामायनी के 'आनन्द अंबुनिधि' की तुलना कीजिये ओर फिर 'आंसू' के सारे निचोड़ को उसके अन्तिम छन्द[1] में देखिये, तो आपको स्पष्ट हो जायगा कि विश्व-सदन मे' हिमकन-सा 'आँसू' बरसाने वाले किसी 'करुणानिधि' को भी प्रसाद जी उक्त निधियों की भाँति ही किसी व्यापक 'एक' के पर्यायवाची नाम भर समझते थे। अत: प्रसाद के जीवन मे लांछित प्रेम-प्रसंगों की खोज करना असंगत तथा कुरुचि की 'चिरौरी' मात्र है। कत्थकियों, नर्तकियों और गायिकाओं के संपर्क में आना उस समय की काशी में सम्पन्न घरानों को ही नहीं पंडित-मंडली को भी कला-मर्मज्ञता के लिए आवश्यक समझा जाता था। अत: प्रसाद जी भी उसके संपर्क में आये और उसी से उनका काव्य अत्यधिक संगीत-समृद्ध भी हुआ इस सपर्क का हिन्दी-साहित्य सचमुच ऋणी है।

इस प्रसंग में मुझे एक घटना याद आ गई। मै काशी मे ही एक वैदिक विषय पर शोध-कार्य कर रहा था। एक दिन मेरे कमरे में मेरे एक गुरु एक स्वामी जी के साथ आये। उन्होंने स्वामी जी के पाडित्य आदि की प्रशसा करके परिचय कराया। मै उनसे बहुत प्रभावित हुआ और मन में इच्छा हुई कि इनसे मिलकर कुछ लाभ उठाऊँ। अतः मैंने पूछा, "आप कहाँ विराजते है ?"

"वेश्यालय में," उन्होंने नि:संकोच भाव से उत्तर दिया। मै अवाक् रह गया। आगे बोलने का साहस न हुआ। मुझे चुप देखकर स्वामी जी फिर बोले... आश्चर्य क्या करते हो ? काशी की प्रसिद्ध वेश्या सिद्धेश्वरी बाई के घर पर रहता हूँ। तुम आना चाहो तो वहाँ आ सकते हो।"

जब मैंने अपनी समाज-भीरुता और असमर्थता प्रकट की, तो वे बोले, 'वेद पर शोघ करके फिर क्या करोगे। निगम बिना तात्रिक ज्ञान के अधूरा है और तात्रिक ज्ञान के लिए सिद्धेश्वरी की सेवा करो।"

इस कथन की पुष्टि तत्कालीन पंडितवर्ग करने में असमर्थ रहे, परन्तु यत्र तत्र पूछताछ करने से यह पता चला कि सिद्धेश्वरी बाई संगीत-मर्मज्ञा और विदुषी वेश्या थी। प्रसादजी का भी सम्पर्क विशेषतया इससे ही बतलाया गया है और यह सही है कि प्रसाद जी को संगीत के अतिरिक्त तन्त्रों में भी रुचि थी।

अस्तु, तत्त्व की बात यह है कि सौन्दर्य और प्रेम ने प्रसाद के जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया था, चाहे उसका स्रोत कुछ भी क्यों न हो।

जहाँ प्रेम और सौन्दर्य ने प्रसाद जी के कवि-हृदय का लालन-पालन तथा प्रसाधन किया था वहाँ कटुता एवं कठोरता ने भी उसे तपाने और झुलसाने में कोई कसर न रक्खी थी। "परिवार के सभी लोग चल बसे थे, केवल एक भौजाई बच गई थीं। असार-संसार में उनका कोई अपना न था। ऐसे समय में उनकी पैतृक सम्पत्ति पर कब्जा करने के लिए कुटुम्बियों और उनके सम्बन्धियों का

षड्यन्त्र चल रहा था; उनके जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था।" इसी कटुता से उत्पन्न क्षोभ की अभिव्यक्ति उनके बिम्बिसार में मूर्त्त होती हुई प्रतीत होती है—"संसार भर में विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यन्त्र और प्रतारणा है। यही सब तुम सुनोगे ऐसा मुझे निश्चय हो गया है। जाने दो। अब शीतल निःश्वास लेकर तुम विश्व के वात्याचक्र से अलग हो जाओ और इस पर प्रलय के सूर्य की किरणों से तप कर गलते हुए गीले लोहे की वर्षा होने दो। अविश्वास की आँधियों को सरपट दौड़ने दो ...।" इसी की स्मृति उनकी 'स्कन्दगुप्त' आदि रचनाओं में चित्रित देखी जा सकती है और इसी के कारण मानो वे कभी-कभी मनुष्य की मैत्री और ममता में किसी अज्ञात भय की आशंका करते हुए से लगते हैं। 'आँधी' में वे लिखते हैं "मित्र मान लेने में मेरे मन को एक तरह की अड़चन है। इसीलिए मैं प्रायः अपने कहे जाने वाले मित्रों को भी जब अपने मन में सम्बोधन करता हूँ, तो परिचित ही कहकर ; सो भी जब इतना माने बिना काम नहीं चलता। मित्र मान लेने पर मनुष्य उससे शिवि के समान आत्मत्याग, बोधिसत्व के सदृश सर्वस्व-समर्पण की जो आशा करता है और उसकी शक्ति की सीमा को तो प्रायः अतिरञ्जित देखता है।"

परन्तु 'जीवन-संग्राम में ... अकाण्ड-ताण्डव' की ये कटु स्मृतियाँ उनके उदात्त हृदय की गहराई में सहज ही डूब जाती थीं। वे जानते थे कि "पवित्र हृदय-मंदिर में दो कटु और मधुर भावों का द्वन्द्व चला करता है और उन्हीं में से एक दूसरे पर आतंक जमा लेता है[1]" अतः वे कटु भाव को शीघ्र ही फटकार बतलाकर अपनी प्रकृति के स्वाभाविक माधुर्य एवं औदार्य के अनुकूल शिवि और बोधिसत्व के त्याग को अपनाने के लिए तैयार हो जाते थे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण प्रसाद जी की एक जीवन घटना में मिलता है, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपनी एक साहित्यिक प्रवृत्ति (गद्य-काव्य) को ही मैत्री के लिए सर्वथा त्याग दिया था। इसका उल्लेख स्वयं राय कृष्णदास जी ने भी इस प्रकार किया है—"इन्हीं दिनों जयशंकर ने पहले-पहल 'साधना' को देखा। उन्होंने भी उसे बहुत पसन्द किया; केवल जबानी ही नहीं। एक दिन आए, सुदामा की तरह कुछ छिपाए हुए। उसे बहुत छीना-झपटी और हाँ-नहीं के बाद बड़े हावभाव से उन्होंने दिखाया ... वह एक साफ सुथरी छोटी-सी कापी थी, जिसमें बीस के लगभग गद्य-गीत उनके लिखे हुए थे। ... किन्तु मैं उन दिनों बावला हो रहा था। मुझे अपनी शैली पर इतना ममत्व और आग्रह था कि जरा भी उदार नहीं होना चाहता था। मैंने छूटते ही कहा—"क्यों गुरु मुझी पर हाथ फेरना।" वे मेरी संकीर्णता

१ ए०, पृ० १८

पहचान गये। कई दिन बाद कोई मुनासिब बात कहकर उसे उठा ले गये और उन भावों में से कतिपय को छन्दबद्ध कर डाला। उनके झरना के प्रथम संस्करण का अधिकांश उन्हीं कविताओं का संकलन है[१]।"

प्रसाद जी के 'करुणा-कलित-हृदय' को मोद और आनन्द के उस निलय को 'चिंता-सापिनी' ने भी विषाक्त करने का महाप्रयत्न किया था। उनके चरित-लेखक ने लिखा है—"१९३१ ई० में प्रसाद जी का साहित्यिक कार्यक्रम शिथिल हो रहा था। उन्होंने एक मकान बनवाया था। उसमें खर्च काफी हो गया। उधर आय भी कम हो गई थी। व्यवसाय की ओर ध्यान न देने के कारण दिन-पर-दिन हानि की सम्भावना ही दिखाई पड़ने लगी। मन बहलाव के विचार से ही सपरिवार वह पुरी गये थे।...पुरी में रमणीक दृश्यों ने उनके कवि-हृदय को आश्वासन तो दिया परन्तु अधिक खर्च हो जाने के कारण मानसिक व्यग्रता फिर उपस्थित हुई। क्या होगा? कैसे चलेगा? रहस्यवादी होने पर भी इन प्रश्नों में वह उलझ गये।" सम्भवतः यह उलझन प्रसाद जी की उस लम्बी पहले का ही एक रूप है जिसका प्रारम्भ उनके जीवन-प्रभात में होने वाले 'पारिवारिक प्रलय' से हुआ था और इसी उलझन को सुलझाने के आध्यात्मिक प्रयत्न ने जगत् को 'कामायनी' दी, जिसमें चिन्ता, अनुताप, पश्चाताप, विक्षोभ और विषाद की कठोर, कँटीली और कंकरीली भूमि से उठकर मानव को आनन्द की मृदुल, मसृण तथा मधुर भूमि पर प्रतिष्ठित होने का मार्ग दिखलाया गया है। कहा जाता है कि 'प्रसाद जी का विचार था कि आँसू को ही कामायनी का एक सर्ग रक्खें। परन्तु वे ऐसा न कर सके; कठिनाई यह थी कि 'कामायनी' का कथानक 'करुणा' से 'आनन्द' की ओर जाए अथवा 'चिन्ता' से। विचार करने पर 'चिन्ता की पहली रेखा' में ही उन्हें करुणा आदि सभी भावों का मूल मिला और वे बोल उठे :—

> **बुद्धि, मनीषा, मति, आशा,**
> **चिन्ता तेरे हैं कितने नाम।**

क्या यह निष्कर्ष उनके तत्कालीन चिन्ताकुल मन के पूर्वाभिनिवेश का भी परिणाम न था?

'हंस' के 'आत्मकथांक' में प्रकाशित कविता में (जिसके कुछ उद्धरण ऊपर दिये जा चुके हैं। प्रसाद जी ने अपने जीवन की जो काव्यमयी रूपरेखा दी है उससे हमें उसकी निम्नलिखित अवस्थाओं का ज्ञान होता है :—

(१) विस्मृत—इसमें 'अपनी भूलें और औरों की प्रवञ्चनाएँ रहती हैं; अतः 'सुन्दर-सत्य' विस्मृत रहता है।

(२) स्वप्न—इसमें माधुर्य्य, उल्लास और उत्साह होता है और 'सुन्दर-सत्य' का 'स्वप्न' ही दीख पड़ता है।

---

१ वि० प्र० 'आरम्भिक प्रवेश' पृ० ५ पर 'अतीत' शीर्षक लेख से उद्धृत।

(३) स्मृति—यह साधना पथ है जिसमें 'सुन्दर-सत्य' की 'स्मृति' का सबल लेकर वह बढता चल रहा है।

इन तीन अवस्थाओ की कथा तो 'छोटे से जीवन' की कथा है, उसे वह नहीं सुनाना चाहता। इन तीन अवस्थाओ के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था का सकेत भी उसी कविता की अन्तिम पक्तियो मे किया गया है; यही सम्भवत वह 'महान-जीवन' है जिसकी कथा सुनने को वह भविष्य मे आशा रखता-सा प्रतीत होता है।

छोटे से जीवन की कैसी बड़ी कथाएँ आज कहूँ
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मै मौन रहूँ।
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्म-कथा
अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

यह आशा कामायनी मे पूर्ण हुई प्रतीत होती है, कामायनी ही 'महान-जीवन' या 'सुन्दर-सत्य' के 'साक्षात्कार' को व्यक्त करती है। यही 'साक्षात्कार' कवि की सच्ची आत्मकथा है, जिसमे उसके जीवन की सभी अवस्थाएँ एक-एक करके चित्रित हुई है—सुप्त व्यथा जागती-उठती-मचलती-बदलती हुई 'आनन्द' रूप मे प्रकट हुई है। प्रसाद के व्यक्तित्व और साहित्य का यही समवाय है, यही समन्वय है, जहाँ कवि 'मानव-सामान्य' मे अपने व्यक्तित्व को मिलाकर 'विश्वात्मा' मे परिणत हो जाता है :—

मै की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किए सी,
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी।

लेखक ने जब कामायनीकार को देखा तो सम्भवत उनकी 'चेतनता' उनके जीवन की 'सब भिन्न परिस्थितियो' का मादक-घूँट पी चुकी थी और वे उसी के प्रभाव मे उन्मुक्त-उल्लास की प्रतिमूर्ति बने बैठे थे। गोल-गोल गौर मुखमण्डल पर एक आकर्षक-आभा, मुकुलित दन्त-श्रेणी की ताम्बूलिनी सुरभि और सुन्दरता से मिलकर मादक भ्रू-विभ्रम के नीचे चश्मा-चढे चक्षुओ को भी मुखरित सी कर रही थी। धोती-कुर्ता मण्डित, विहासमयी उस दण्डपाणि मूर्त्ति को देखकर सर्व-प्रथम तो 'एक घूँट' के उस आनन्द की याद आयी जो आलोक उल्लास और आह्लाद का पुजारी था और जिसके विषय मे प्रसाद जी ने लिखा है :—

एक ढीला रेशमी कुरता पहने हुए है, जिसकी बाहे बार-बार चढानी पडती है। बीच-बीच मे चादरा भी सम्भाल लेता है। पान को रूमाल मे पोछते हुए... और फिर इसी चित्र के प्रतिलोम-स्वरूप उस मनस्वी का चित्र सामने आया जो 'ज्वलनशील अन्तर' लेकर 'जगती की ज्वाला' से सुलझता हुआ फिर रहा था :—

"सुनती हूँ एक मनस्वी
था वहाँ एक दिन आया;

वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया ।"

अब मैं समझता हूँ कामायनीकार की तत्कालीन चित्र की पृष्ठ-भूमि में उक्त दोनों चित्र थे—आलोक, उल्लास तथा आह्लाद का और 'ज्वलन-शील अन्तर' का; परन्तु वह चित्र उन दोनों से भिन्न और दोनों से परे था, ठीक उसी तरह जिस तरह उसके साहित्य की वह आत्मा जो 'कामायनी' मे सफल हुई ।

(२) गीतों की विभूति

प्रसाद के व्यक्तिगत जीवन ने उन्हें प्रेम और करुणा तथा सौन्दर्य्य और आनन्द की जो दृष्टि दी वह उनके गीतों में उत्तरोत्तर समृद्ध और स्पष्ट होती हुई विकसित हुई है । कवि के 'आनन्दमय हृदय' की सबसे अधिक सरल, स्वस्थ और सुन्दर अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है, अतएव न केवल प्रसाद के साहित्य या दर्शन के लिए बड़े महत्त्व के है, अपितु वे हिन्दी क्या सारे भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं ।

जैसा कि देख चुके हैं, प्रसाद का कवि-हृदय प्रारंभ से ही सौन्दर्य की ओर अत्यधिक आकृष्ट हुआ । सौन्दर्य प्राकृतिक भी था और मानवीय भी । अतः जहाँ हम उन्हें 'इन्दु' में 'प्रकृति-सौन्दर्य' पर लेख लिखते या 'शारदीय शोभा', 'संध्या-तारा', 'वर्षा मे नदीकूल' आदि कविताओं में उसे चित्रित करते देखते हैं, वहाँ वे 'वनवासिनी-बाला', 'उर्वशी' तथा 'प्रेमराज्य' आदि में मानवी सौन्दर्य का चित्रण करते हुए भी देखे जाते हैं । यदि 'शरत् का सुन्दर नीलाकाश' उनका मन हर लेता है, तो 'प्रवास-प्रभात' की रमणीयता भी उनको रिझाने में कसर नहीं रखती और वे गुनगुनाते हुए एक सुन्दर और सार्थक चित्र की सृष्टि कर देते हैं :—

क्लान्त तारकागण की मद्यप मण्डली,
नेत्र-निमीलन करती है फिर खोलती ।
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुढ़क कर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अन्त है ।
रजनी के रञ्जक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी ।

(झ० पृ० ११)

घूँघट खोल कर झाँकने और हँसने वाली उषा के आगमन पर ये बिखरते हुए रजनी के 'रञ्जक उपकरण' जहाँ प्रातःकाल के संहारात्मक सौन्दर्य्य की ओर

इंगित करते हैं, वहाँ 'अम्बर पनघट में' अपने 'ताराघट' को डुबाती हुई 'ऊषा नागरी' उसके सृजनात्मक सौन्दर्य्य को मूर्तिमान करती हैं :—

> **अम्बर पनघट में डुबो रही—**
> **ताराघट ऊषा नागरी।**
> **खगकुल कल-कल सा बोल रहा,**
> **किसलय का अञ्चल डोल रहा,**
> **लो यह लतिका भी भर लाई—**
> **मधु मुकुल नवल-रस-गागरी।**
>
> **(ल० पृ० १९)**

प्रकृति के अंगों में जो सौन्दर्य्य है उसके साथ ही प्रसाद की दृष्टि मानवीय मांसल रूप पर भी पड़ी और उन्होंने उसका वर्णन अनेक स्थलों पर किया है, 'कामायनी' में नारी-रूप के चित्रों की ओर संकेत किया जा चुका है। उनके गीतों में भी इसका चित्रण उन्होंने बड़ी ही सरस, सीधी और सरल शैली में किया है :—

> **ये बङ्किम भ्रू, युगल कुटिल कुन्तल घने,**
> **नील-नलिन से नेत्र-चपल मद से भरे,**
> **अरुण राग-रञ्जित कोमल हिम खण्ड से—**
> **सुन्दर गोल कपोल, सुढ़र नासा बनी।**
> **धवल स्मित जैसे शारद घन बीच में—**
> **(जो कि कौमुदी से रञ्जित है हो रहा)**
> **चपला-सी है ग्रीवा हँसी से बढ़ी।**
> **रूप-जलधि में लोल-लहरियाँ उठ रहीं।**
> **मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में।**
>
> **(झ० पृ० ८)**

प्रकृति के संसर्ग से इस नारी-सौन्दर्य्य की और भी श्री-वृद्धि हो जाती है; क्योंकि आखिर नारी प्रकृति ही की तो पुतली है। अतः प्रसाद जी ने वन्या शकुन्तला (इ०पृ० १,६) 'नववसन्त' (का० कु०,१८-१९) की 'सुन्दरी' से लेकर कामायनी की श्रद्धा तक नारी की रूप श्री को प्रकृति की गोद में सँवरते देखा है। उनके गीत काव्य में से 'जल-विहारिणी' (का० कु०,पृ० ४२-४३) का ज्योत्सना धवलित नारी-रूप देखने योग्य है :—

> **इन्दु में उस इन्दु के प्रतिबिम्ब के सम है छटा**
> **साथ में कुछ नील मेघों की घिरी-सी है घटा;**
> **नील-नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे**
> **बिन स्वाती बिन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे।**

रूपसागर-मध्य रेखा-वलित कम्बु कमाल है,
कंज एक खिला हुआ है, युगल किन्तु मृणाल है।
चारु-तारा चलित अम्बर बन रहा अम्बर महा।
चाँद उसमें चमकता है, कुछ नहीं जाता कहा।

नारी और प्रकृति के सौन्दर्य्य को एक साथ लाने का कारण है, प्रसाद जी ने अपने यौवन के आरंभ में ही परख लिया था कि ये दोनों सौन्दर्य्य एक हैं, एक ही 'दिव्य शिल्पी के कला कौशल' हैं :—

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी।
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी॥
(का० कु०, पृ० ५१)

वस्तुतः—नारी या प्रकृति में 'प्रिय' या रमणीय लगने वाले उनके स्थूल अवयव आदि नही हैं, ये अवयव तो सौन्दर्य्य के 'एक बिन्दु' मात्र है—रमणीयता तो स्वयं सौन्दर्य्य में ही निवास करती है, जिसको देखते-देखते कभी 'सत्य-सुन्दर' भी प्रकट हो सकता है :—

लोग प्रिय दर्शन बताते इन्दु को,
देखकर सौन्दर्य के इक बिन्दु को।
किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयं सौन्दर्य है,
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।

* *

देख लो जी भर इसे देखा करो।
इस कलम से चित्त पर रेखा रो॥
लिखते-लिखते चित्र बन बन जायगा।
सत्य-सुन्दर तब प्रकट हो जायगा॥

इस प्रकार वाह्य जगत् के मानवीय तथा प्राकृतिक सौन्दर्य्य के एकीकरण के साथ ही कवि का मन एक अन्य सौन्दर्य्य की ओर भी गया। वह था 'हृदय का सौन्दर्य'—आन्तरिक जगत् का सौन्दर्य्य। कवि मानता है कि सरिता के सैकत पुलिन, अरुण-मण्डल की स्वर्णिम आभा, निशा की नीरव ज्योत्सना तथा कुसुम का हास-विहास आदि।

सृष्टि में सब कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास।

परन्तु, यह सारा सौन्दर्य्य आन्तरिक जगत् के उस सौन्दर्य्य की समानता संभवतः नहीं कर सकता जो हृदय को प्रशान्त कर लेने में दिखाई पड़ता है :—

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौन्दर्य्य;
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदुहास। (झ०, पृ० ५२)

प्रसाद जी का यह विश्वास यौवन में ही हो चला था कि यह आन्तरिक सौन्दर्य्य ही वस्तुतः सारे बाह्य-सौन्दर्य्य का मूल है, इसी में विश्व-प्रेम की अरुणिमा अन्तर्हित है, इसी में वह शक्ति छिपी है जो मानव के निर्दय हृदय को भी करुणाप्लावित कर देती है, और इसी से 'मानस' की वह 'मधुलहरी' उठ सकती है जिससे हमारा बाह्य भी मदिर माधुर्य्य से युक्त हो जाय! अतएव वे उक्त पंक्तियों के आगे ही बतलाते हैं कि प्रशान्त-हृदय का सौन्दर्य्य देखते ही क्या होगा :—

अरुण हो सकल विश्व अनुराग,
करुण हो निर्दय मानव चित्त;
उठे मधुलहरी मानस में,
कूल पर मलयज का हो वास। (झ० ५२)

'मानस' की इसी 'मधुलहरी' का चित्र संभवतः पहले पहल प्रसाद ने 'इंदु' (१, ५) में 'कल्पना' के रूप में देखा—वह अनन्तशक्ति वाली, श्रम और विश्राम का स्थान, हृदय की मधुर शान्ति, मनोहर चित्रों की चितेरी, सुखदायिनी आशा, प्रेममय संसार की जननी तथा कवि की अभिव्यक्ति भी सर्वस्व है; इसी में आनन्द का वह स्रोत है जो इस विषम संसार में सुख और शांति का सूत्रपात करती है। अतः इसी को संबोधित करते हुए कवि कहता है :—

तुम दान करि आनन्द,
हृदय को करहु सानन्द;
नहिं यह विषम संसार,
तहँ कहाँ शांति बयार।

मानस की उसी 'मधुलहरी' के दर्शन हमें पुनः 'लहर' की पहली कविता में होते हैं। आनन्दमय अन्तर्जगत् का किनारा दुखमय बाह्य जगत् है—'सरस मानस' का पुलिन सैकत और नीरस है; मानस की सुखमय लहर 'लघु-लघु लोल' रूप में तो आती-जाती रहती है, परन्तु इससे तो लाभ के बदले हानि ही होती है—सिकता (दुख) की रेखाएँ और उभर जाती है, सुख के बाद दुख अधिक दुखदायी हो जाता है। अतः कवि चाहता है कि यह 'लघु-लघु, लोल लहर' अपनी लघुता और लोलता को छोड़कर 'छिटक छहर' और ठहर-ठहर' कर 'प्यार पुलक से भरी' हुई 'सूखे तट' के 'विरस अधर' को चूमे, अपने करुण और शीतल सौन्दर्य से दुःखी दुनिया का दुख हरे :—

उठ उठ री लघु-लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगड़ाई-सी,
मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर !
शीतल कोमल चिर कम्पन सी,
दुर्ललित हठीले बचपन सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर ठहर !
उठ-उठ गिर गिर फिर-फिर जाती,
नर्तित पद-चिन्ह बना जाती,
सिकता की रेखायें उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर !
तू भूल न री, पंकज-बन में,
जीवन के इस सूनेपन में;
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर !

यही लहर 'करुणा की तरंग' बनकर 'अशोक की चिन्ता' शीर्षक कविता में फिर दिखाई पड़ती है। इस कविता में कवि संसार के सुख की क्षणभंगुरता तथा वेदना-क्षेत्र की व्यापकता और विशालता की ओर इंगित करता है और उपसंहार करते हुए मनुष्य को मृदुल, कोमल और करुण बनने की सलाह देता है जिससे 'जलती सिकता का यह मग' अधिक शान्त और शीतल हो सके :—

संसृति के विक्षत पग रे !
यह चलती है डगमग रे !
अनुलेप सदृश तू लग रे !
मृदु दल बिखरे इस मग रे।
कर चुके मधुर मधुपान भृंग ।
भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं अति पग,
जलती सिकता का यह मग,
वह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन पतंग ।

आन्तरिक सौन्दर्य्य से उद्भूत यह 'मधुलहरी' जो यहाँ 'करुणा की तरंग' कहलाई है वस्तुतः उससे भिन्न नहीं है जिसे कवि 'मधुर पीड़ा', 'प्रेममय पीड़ा' आदि नाम देता है (झ० २२-२३) और 'वह मधुर है स्रोत मधुर है लहरी' (झ० पृ० १) कह कर याद करता है। बाह्य सौन्दर्य्य के संनिकर्ष और संश्लेष से ही वह लहरी उत्पन्न होती है और 'किरण' की भाँति ही प्रेम का संदेश देती हुई 'सुमन मन्दिर' में सोये हुए 'वसन्त' को जगा देती है :—

सुदिन मणि-वलय विभूषित उषा-
सुन्दरी के कर का संकेत
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम निकेत ।

* * *

सुमन मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त ।

(झ०, पृ० १५)

लोगों को आश्चर्य होता है कि नील-नीरद में चातक, चन्द्र में चकोर और कमल में भ्रमर क्यों अनुरक्त होता है, परन्तु उन्हें नहीं मालूम कि सौन्दर्य्य का उपयोग ही यह है कि चित्त उसमें रमे और कठोर हृदय भी उसको देखकर मृदुता, करुणा और प्रेम की तरंग से तरंगित हो उठे :—

है यही सौन्दर्य में सुषमा बड़ी,
लौह-हिय को आँच इसकी ही बड़ी।
देखने के साथ ही सुन्दर वदन।
दीख पड़ता है सजा सुखमय सदन ॥
देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ,
प्राण भी आमोद से सुरभित हुआ।
रस हुआ रसना में उसके बोलकर,
स्पर्श करता सुख-हृदय को खोलकर ॥

(का० पृ० ५-५३)

प्रश्न हो सकता है कि—अन्त का बाह्य से सम्पर्क ही कैसे हो जाता है? इन दोनों का परिचय ही क्या है इसके उत्तर में कवि पूछता है—उषा का प्राची से, सरोरुह का सर से, अरविन्द का मलिन्द से और मलय का अनिल से क्या सम्बन्ध और परिचय है? भवभूति ने इसी प्रकार के प्रश्न का उत्तर दिया कि 'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः', प्रसाद जी ने अन्त में कहा है कि प्रेम ही इस सब का मूल है :—

राग से अरुण, घुला मकरन्द ।
मिला परिमल से जो सानन्द ॥
वही परिचय था, वह सम्बन्ध
"प्रेम का, मेरा तेरा छन्द ।"

वाह्य-सौन्दर्य के संसर्ग मे आकर अन्तः-सौन्दर्य करुणा, प्रेम आदि के रूप में प्रकट हो पड़ता है परन्तु यह 'प्रथम प्रभात' किस प्रकार आता है यह बताना कठिन है, केवल यही कहा जा सकता है कि सौन्दर्य (फूल) के सौरभ से युक्त शान्ति (मलयानिल) के स्पर्श करते ही सर्वत्र गुदगुदी तथा आनन्द का वातावरण हो जाता है और हृदय मे एक नया अनुराग उत्पन्न होकर प्रेम-वर्षा में स्नान करा देता है । इसी विषय का सुन्दर वर्णन कवि ने अपनी 'प्रथम प्रभात' शीर्षक कविता मे किया है :—

मनोवृत्तियाँ खग-कुल सी थीं सो रही,
अन्तःकरण नवीन-मनोहर नीड में;
नील गगन-सा शान्त हृदय भी हो रहा,
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही ॥

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था,
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से;
अहा ! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
(फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)

आते ही कर-स्पर्श गुदगुदाया हमे,
खुली आँख, आनन्द-दृश्य दिखला दिया;
मनोवेग मधुकर-सा फिरता गूँज के,
मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा ।

वर्षा होने लगी कुसुम-मकरन्द की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनन्द में ।
कैसी छवि ने बाल-अरुण-सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग-रञ्जित किया ॥

सद्यस्नात हुआ फिर प्रेम-सुतीर्थ में,
मन पवित्र उत्साह-पूर्ण भी हो गया ।
विश्व विमल आनन्द-भवन-सा बन रहा,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था ।

सौन्दर्य्य, प्रेम और करुणा का घनिष्ट संबन्ध है। कवि समझता है कि सारे विश्व में जो सौन्दर्य्य बिखरा पड़ा है, वह सब एक ही है और संभवतः उसको हृदय में एकत्र किया जा सकता है, अतः वह कहता है कि :—

सौन्दर्य्य विश्व-भर में फैला हुआ जो तेरा,
एकत्र करके उसको मन में दिखा दे मोहन।

(झ० का० पृ० ७८)

सौन्दर्य्य से विभावित होकर वह लालसा उत्पन्न होती है जिससे प्रेम कहते हैं; सौन्दर्य्य का सत्य यही है कि 'प्रेम की पवित्र परछाईं में' वह संतप्त जीवन को शीतल कर सकता है :—

कर गई प्लावित तन-मन सारा।
एक दिन तव अपांग की धारा॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय-वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन-मन सारा॥
प्रेम की पवित्र परछाई में।
लालसा हरित विटपि झांई में॥
वह चला झरना,
तापमय जीवन शीतल करना।
सत्य यह तेरी सुघराई में।
प्रेम की पवित्र परछाईं में॥

विचित्रता यह है कि यह सर्वत्र बिखरा हुआ सौन्दर्य्य हमारे संतप्त जीवन को शीतल नहीं कर पा रहा है—प्रत्येक हृदय में प्यास है, 'एक घूंट' की चाह है, जिसके लिए यह जीवन वस्तु-वस्तु को निरखता फिरता है; परन्तु हाय! न मालूम उसके स्रोत को किसने छिपा रक्खा है :—

जीवन-वन में हरियाली है।
यह किरणों की कोमल धारा—
बहती ले अनुराग तुम्हारा—
फिर भी प्यासा हृदय हमरा—
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित दलों के अन्तराल से—
बचता-सा इस सघन जाल से।

यह समीर किस कुसुम-बाल से—
मांग रहा मधु की प्याली है।

एक घूंट का प्यासा जीवन—
निरख रहा सब को भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन—
कहाँ सजल वह हरियाली है।

'एक घूंट' की यह प्यास न बुझ सकने के कारण ही जीवन में अतृप्ति दुःख को जन्म देती है और करुणा के लिए अवकाश उत्पन्न करती है। करुणा प्रेम का ही एक रूपान्तर है, हृदय-सौन्दर्य्य का ही एक स्वरूप है; अतः करुणा का प्रतीक 'आँसू' भी सुन्दर और सरस है तथा उसमें भी रूखे मन को 'हरित' करने की शक्ति निहित है। यही कारण है कि सौन्दर्योपासक प्रसाद को आँसू प्रारंभ ही से प्रिय है और वे उसका सौन्दर्य वर्णन करते हुए कहते हैं :—

आवै इठलात जलजात-पात को सो बिन्दु,
कैधों खुली सीपी माँहि मुकता दरस है।
कढ़ी कंज-कोश ते कलोलिनी के सीकर-सों,
प्रात-हिमकन-सों, न-सीतल परस है॥
देखे दुख दूनों उमगत अति आनन्द सो,
जान्यो नहिं जाय यहि, कौन-सो हरस है।
तातो तातो कढ़ि रूखे-मन को हरित करै,
ऐरे मेरे आँसू! तैं पियूष तै सरस है।

यही 'आँसू' जब प्रतीक्षा करती हुई निराश-प्राय रमणी के 'अलस अकम्पित आँखों में' होते हैं, तब तो वे एक विचित्र वेदना के माध्यम होकर आते हैं और यह वेदना तथा उसके माध्यम आँसू उस समय तो पराकाष्ठा को भी लाँघ जाते हैं, जब उसके प्यार को भुला या ठुकरा दिया जाता है। 'अन्तस्तल के अभिनय' के साथ-साथ इस प्रकार के वेदना-मय आँसुओं का चित्रण निम्नलिखित गीत में बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है :—

निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाये बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारों से ठगे हुए की ठुकराये की लाखे से,
किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखों से—
पलकें झुकीं यवनिका-सी थीं अन्तस्तल के अभिनय में,
फिर भी परिचय पूछ रहे हो, विपुल विश्व में किसको दूँ,

चिनगारी श्वासों में उड़ती, रो लूँ, ठहरो दम लेलूँ।
निर्जन कर दो क्षण भर कोने में, उस शीतल कोने में,
यह विश्राम सँभल जायगा सहज व्यथा के सोने में।
बीती वेला, नील गगन तम, छिन्न विपञ्ची भूला प्यार,
क्षपा-सदृश छिपना है फिर तो परिचय देंगे आँसू हार।

ऐसी ही वेदना हमें उस गीत में चित्रित मिलती है जो प्रसाद जी ने अपने सभी 'भावी सुख, आशा और आकांक्षा' से विदाई लेने वाली 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना के मुख में रखा है, परन्तु अन्तर यह है कि यहाँ टीस के साथ शक्ति है, नैराश्य के साथ त्याग और है विवशता के साथ पुरुषोचित स्थिरता एवं दृढ़ता :—

आह ! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रम-वश जीवन-सञ्चित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे संध्या के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन-विपिन की तरु छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह ! बावली
तूने खो दी सफल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी-होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती !
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गँवाई।

यहाँ वेदना का कारण है प्रेम की पवित्रता का वह आदर्श जिसने चित्तौड़ की पद्मिनी को अमर कर दिया और जिससे "जौहर" को भी गौरव मिला। प्रेम से जीवन में यह शक्ति आती है जो 'प्रलय' से भी लोहा ले सकती है; इसी 'घने प्रेम-तरु-तले' भव-आतप से तापित' जन शान्ति लाभ करके 'जीवन-बेल' को छबिरस माधुरी पीकर सींच सकते हैं। यह प्रेम प्रेमी के लिए त्याग और तपस्या का विधान अवश्य करता है, परन्तु इसमें ही विश्व-कल्याण और सामाजिक शान्ति अन्तर्निहित है :—

घने प्रेम तरु तले,
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले
छाया है विश्वास की श्रद्धा सरिता-कूल,
सिची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले।
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठे सुनते जाव
कहाँ जा रहे चले
पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-वेल,
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले,
घने प्रेम-तरु-तले।

प्रेम की इस पवित्रता के बिना नारी-रूप "एक जीवित अभिशाप" बन जाता है, वैभव एवं ऐश्वर्य की गरिमा वासना की कालिख से छिप जाती है और छल तथा प्रवञ्चना ऐसे प्रलय की सृष्टि करते हैं, जिसमें व्यक्ति अपने कलुषित आँसुओं को पीता हुआ 'जीवित मृत्यु' का आलिगन करता है। ऐसा प्रेम समाज में शक्ति और शान्ति का संचार नहीं कर सकता और न इसमें लोक-कल्याण का मार्ग ही प्रशस्त हो सकता है। यह स्वार्थ और प्रलोभन की सहचरी वासना है जो प्रेम के छद्म में मानवता को ठग रही है। इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति 'प्रलय की छाया' के उन शब्दों में मिलती है जो 'कमलावती' के प्रति कहे गये हैं :—

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।
जितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुये,
अपना अस्तित्व हैं पुकारते।
नश्वर संसार में

ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं चाहते
लूटा था दृप्त अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतन्त्र हो बिखेरते हैं !
एक माया-स्तूप सा
हो रहा है लोप इन आँखों के सामने।
देख कमलावती !
ढुलक रही हैं हिम बिन्दु-सी
सत्ता सौन्दर्य के चपल आवरण की
हँसती है वासना की छलना पिशाची-सी
छिपकर चारों ओर व्रीडा की अँगुलियाँ
करती संकेत हैं, न्याय उपहास में।
ले चली बहाती हुई अंध के अतल में
वेग-भरी वासना।
अन्तक शरभ के
काले-काले पंख ढकते हैं अन्ध तम से।
पुण्य-ज्योति-हीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धरा सा
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया में।

जीवन के सौन्दर्य को भोगने के लिए दो अलग मुख हैं—एक प्रेम का दूसरा वासना का। 'अधीर यौवन' जब वासना का मुख खोलता है, तो एक विचित्र अश्रान्ति एवं उद्भ्रान्ति उत्पन्न होकर 'अखिल किरनों' को ढक लेती है और चुम्बन, दर्शन और आलिंगन की भूख जागकर नई वेदनाओं की सृष्टि कर देती है, जिससे सारे बन्धन शिथिल हो जाते हैं:—

आह रे, वह अधीर यौवन !
अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में आलिंगन-मयी—
वेदना लिये व्यथायें नयी,
टूटते जिससे सब सम्बन्ध,
सरस-सीकर से जीवन-कन,

बिखर भर देते अखिल-भुवन,
वही पागल अधीर यौवन !

परन्तु, जब वासना का मुख बन्द होता है, तब सच्चे प्रेम का मुख खुलता है और जीवन में एक नई 'भूमिका' प्रारम्भ होती है—एक नया 'वातायन' खुलता है, जिससे एक अदृष्ट 'नर्तन' के दर्शन होते हैं:—

आह रे, वह अधीर यौवन !
मधुर-जीवन के पूर्ण विकास,
विश्व-मधु-ऋतु के कुसुम-विलास;
ठहर, भर आँखों देख नयी—
भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल की लघुता आई बन—
समय का सुन्दर वातायन,
देखने को अदृष्ट नर्तन।
अरे अभिलाषा के यौवन !

वासना में अनादि प्यास है, चिर अतृप्ति है ; उसको अपनाने वाला अति वैभव-सम्पन्न होकर भी अकिञ्चन रहता है; उसको यही शिकायत रहती है कि मुझे प्यार नहीं मिला :—

चिर-तृषित कंठ से तृप्ति-विधुर,
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर।
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश
ध्वनि-कम्पित करता बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझ को न मिला रे कभी प्यार।

वासना को कितना ही भोजन मिले उसका पेट नहीं भरता, वासना का शिकार हुआ व्यक्ति 'सीमा-विहीन' आलिंगन रस को पाकर भी एक 'कण' के लिए तरसता रहता है :—

सागर लहरों सा आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता है प्रतिदिन
जल वैभव है सीमा-विहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझ को न मिला रे कभी प्यार।

जहाँ वासना है, वहाँ 'वञ्चकता, पीड़ा, घृणा, मोह' का अन्धकार है और वहाँ जीवन उस 'एक झलक'—एक स्मित को ललकता रहता है जिसके प्रकाश में 'सकल कर्म' 'कोमल, उज्ज्वल, उदार' बनते हैं और करुणा-कण से विश्व का सार 'विषाद-विष' दूर हो जाता है। उस झलक की प्राप्ति होती है प्रेम में; अतः वासना प्रताड़ित विश्व को सदा 'प्रेम' की प्यास रहती है—

अकरुण वसुधा से एक झलक
वह स्मित मिलने को रहा ललक
जिसके प्रकाश में सकल कर्म
बनते कोमल उज्ज्वल उदार,
धीरे से कह उठता पुकार—
मुझ को न मिला रे कभी प्यार।
फैलाती है जब उषा राग
जग जाता है उसका विराग
वञ्चकता, पीड़ा, घृणा, मोह
मिलकर बिखेरते अन्धकार,
धीरे से कह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

दुःख यह है कि वासना-मय जीवन यह भूल जाता है कि प्रेम माँगने की वस्तु नहीं है:—वह पाने की नहीं, देने की वस्तु है, वही तो करुणाश्रुओं के रूप में विश्व को ऋणी बनाये हुए हैं:—

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अतः कवि वासना के संसार से ऊपर उठकर, 'काली आँखों के अन्धकार' को पार करके उस 'चित्र'—उस 'स्मितिमय चाँदनी रात' की ओर संकेत करता है, जिसमें करुणा कणों की सरसता है और शुद्ध प्रेम का 'रंग' है:—

काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार—

वह चित्र ! रंग का ले बहार
जिसमे है केवल प्यार प्यार !
केवल स्मितिमय चॉदनी रात,
तारा किरनो से पुलक गात,
मधुपों मुकुलो के चले घात,
आता है चुपके मलय वात,
सपनों के बादल का दुलार।
तब दे जाता बूँद चार।
तब लहरों सा उठकर अधीर
तू मधुर-व्यथा सा शून्य चीर,
सूखे किसलय-सा भरा पीर
गिर जा पतझड़ का पा समीर
पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार ।

यही 'स्मिति', यही करुणा का 'अरुणलोक' प्रसाद के जीवन का चिर साध्य रहा है। उनकी इस साधना मे स्वार्थ नही जो मनुष्य को 'एकाकी' जीवन के पलायनवाद की ओर प्रेरित करता है , उनकी साधना विश्व के लिए है, वे प्रेम-वेणु की स्वर-लहरी मे 'जीवन गीत' सुनना चाहत है 'इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने के लिए' । अत. वह अपनी कविता मे उसका बार-बार आवाहन करते है :—

मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्रान समा जा रे !
जिससे कन कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो—
वह जीवन-गीत सुना जा रे !
खिच जाय अधर पर वह रेखा—
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मिति का चित्र बना जा रे !

विश्व रूपी 'सरसिजदल' पर मानव-जीवन 'कन-कन-सा' बिखरा पडा है, उसमें लालसा और निराशा आँख-मिचौनी खेल रही है, वेदना और सुख की लुका-

छिपी चल रही है ; इसमें प्रेम-व्यापार का अपना उपयोग है—वह 'आकर्षण-मय चुम्बन' ही जीवन में सौन्दर्य की 'लघु-लघु धारा' प्रवाहित कर जाता है, उसी से जीवन को सरसता प्राप्त होती है :—

वसुधा के अञ्चल पर
यह क्या कन कन सा गया बिखर ?
जल-शिशु की चञ्चलता क्रीड़ा-सा-
जैसा सरसिज दल पर ।
लालसा-निराशा में ढलमल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे ! मानव जीवन ?
कितना है रहा निखर ।
मिलते चलते जब दो कन,
आकर्षणमय चुम्बन बन,
दल के नस-नस में वह जाती—
लघु-लघु धारा सुन्दर ।

परन्तु, विश्व में प्रेम, सहयोग और शान्ति कहाँ ? वहाँ तो घृणा द्वेष और द्रोह का भूचाल मचा हुआ है जिसकी हलचल से संसार में संहार की 'निष्ठुर' लीला ही चलती है । अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे नेत्रों में क्रोध की करालता के स्थान पर करुणा की अरुणिमा हो, 'रोष-भरी लाली' के स्थान पर 'आँसू' के 'कन मनहर' हों :—

हिलता डुलता चञ्चल दल,
ये सब कितने हैं रहे मचल ?
कन-बन अनन्त अम्बुधि बनते
कब रुकती लीला निष्ठुर !
तब क्यों रे फिर यह सब क्यों ?
यह रोष भरी लाली क्यों ?
गिरने दे नयनों से उज्ज्वल
वसुधा के अंचल पर ।

प्रसाद के प्रेम, सौन्दर्य और सुख का धरातल वास्तविकता से परे नहीं है और जो उसे 'वादों' के चक्कर में डाल अतीन्द्रिय धुँधलेपन में या रसातलीय गर्त में ले जाने का प्रयत्न करते हैं वे भूल करते हैं । प्रसाद जी जगत की अपूर्ण-ताओं से परिचित थे और सामयिक समस्याओं के प्रति भी सजग थे, परन्तु

इन सब की चिकित्सा का जो विधान उन्होंने किया वह अस्थायी 'वादों' और विप्लवों में मूर्तिमान नहीं किया जा सकता। उन्होंने भारतीयता के चिरंतन प्रकाश में स्वानुभूति के चश्मे से देखकर मालूम किया कि विश्व की सारी समस्याओं का स्रोत सारे दुःख-सुख का बीज 'मानस की गहराई' में छिपा है—वह गहराई जो शायद अभी तक फ्रायडपंथी आलोचकों को भी नहीं मिली—

ओ री मानस की गहराई
तू सप्त, शान्त, कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल—

नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर चंचल—
यह विश्व बना है परछाईं ।

अतः उन समस्याओं का हल भी इसी 'मानस की गहराई' में उपयुक्त 'सुन्दर-सुन्दर' लहरें लगातार उठाकर एक मानसिक और दार्शनिक आन्दोलन द्वारा ही संभव है—व्यष्टि और समष्टि दोनों की व्यवथाओं और बाधाओं की एक ही चिकित्सा है :—

तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
सुख-लहर उठ री सरल-सरल
लघु लघु सुन्दर सुन्दर अविरल
तू हँस जीवन की सुघराई !

हँस, झिलमिल, हो लें तारागन,
हँस, खिले, कुञ्ज में सफल सुमन,
हँस, बिखरें मधु मरन्द के कन,
बन कर संसृति के नव श्रम कन,
—सब कह दें 'वह राका आई'

हँस लें भय शोक प्रेम या रण,
हँसलें काला पट ओढ़ मरण,
हँसलें जीवन के लघु लघु क्षण,
देकर निज चुम्बन के मधुकण,
नाविक अतीत की उतराई ।

इसी वास्तविकता के धरातल से प्रसाद के काव्य का वह तत्त्व उठता है जिसे 'रहस्य' कहा गया है। 'मानस की गहराई' से आकर जो आँखों में आँसू

बनता है वही तो शून्य आकाश में आग जलाकर 'यह सुवर्ण सा हृदय गलाकर' और 'जीवन-संध्या को नहला कर' 'रिक्त जलधि' भरता है। रजनी के अंधकार में और जगती के ऊष्ण और शीत में, दुःख और सुख में व्यक्त होने वाला वही एक तो है। उसी को लक्ष्य करके कवि पूछता है :—

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को ?

सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण-सा हृदय गला कर
जीवन-सन्ध्या को नहला कर
रिक्त-जलधि भरने वाले को ?

रजनी के लघु-लघु कन-कन में
जगती की ऊष्मा के बन में
उस पर पड़ते तुहिन सघन में
छिप, मुझ से डरने वाले को ?

परन्तु, कवि इस 'रहस्य' की दार्शनिक ऊहापोह में फँसना नहीं चाहता; कवि को इसके झंझट के लिए फुरसत कहाँ। वह तो व्यक्ष्टि और समष्टि के इस रहस्य को अपने काव्य का विषय इसीलिए बनाना चाहता है कि व्यष्टि की परिधि को विस्तार और औदार्य मिले और उसका 'मानस जलधि' समष्टि-गत 'रहस्य' से चिर-चुम्बित रहे :—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।

इसलिए वह 'संसार' को एक ओर रख कर 'अनन्त' की एकान्तिक टोह में दिन-रात एक करने वाला कवि नहीं; यदि वह 'कोलाहल की अवनी' को छोड़कर 'निर्जन' में जाना चाहता है जो 'निश्छल प्रेम-कथा' के चिराभीप्सित लक्ष्य के लिए और वह भी 'विश्व चित्र-पट' को भुलाकर नहीं :—

जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्रपट चल माया में—

विभुता विभुसी पड़े दिखाई,
दुःख-सुख वाली सत्य बनी रे।

उसे व्यष्टि के दो दिन के 'मधु-ऋतु' (यौवन-पूर्ण जीवन) पर गर्व है और इसलिए उसे समष्टि से पृथक अपने व्यक्तित्व का भी ध्यान है; वह अपने इस 'वैयक्तिक जीवन में कुछ नयी सरस और सुन्दर सृष्टि तथा नयी देन देने के लिए कृतसंकल्प है और उसे विश्वास है कि वह किसी को न खलेगा। वह चाहता है कि उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करें और उसे निर्विघ्न रूप से अपनी सुन्दर-सुन्दर देने दें, लेने दें :—

अरे पा गई है भूली-सी
यह मधु-ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया में रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को!
वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड़ अलग सब से हो,
झाड़खंड के चिर पतझड़ में
भागो सूखे तिनको!
आशा से अंकुर झूलेंगे
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किनको?
सिहर भरी कँपती आवेंगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जागकर—
मानस नयन नलिन को।
जवा-कुसुम सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रंगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँघकर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कनकन
निशि में मधुर तुहिन को।

इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं,
दे देने दो इनको।

(३) शैवागम का प्रभाव

(क) 'लहर' से त्रिपुर-सुन्दरी

उपर्युक्त विवेचन से प्रसाद के गीतों में एक विचित्र 'लहरी' या 'लहर' के दर्शन होते हैं जिसका उल्लेख सौन्दर्य्य, आनन्द, प्रेम और करुणा आदि के प्रसंग में होता है। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, यही 'लहरी' कभी 'कल्पना' के रूप में याद की जाती है और उसे मानस की अनेक अनुभूतियों आदि का स्रोत बतलाया जाता है। इसी को 'आँसू'[1] में अनेक बार 'धारा', 'आलोकमयी धारा', 'सुन्दर कठोर कोमलता', 'अनामिका संगिनी', वेदना, करुणा आदि नाम दिया गया और अंत में उसे 'वेदने ! अश्रुमयि रंगिनि!' कह कर संबोधित किया गया है :—

तुम ! अरे, वही हाँ तुम हो
मेरी चिर-जीवन-संगिनि ।
दुख वाले दग्ध हृदय की
वेदने ! अश्रुमयि रंगिनि !

कहना न होगा कि यही 'रंगिनि' कामायनी में 'चिता की पहली रेखा' के रूप में मनु के सामने उपस्थित होती है, यद्यपि है यह वही बहुरूपिनि या रंगिनी ही :—

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता,
तेरे हैं कितने नाम !
अरी पाप है, तू, जा चल जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम ।

प्रसाद जी की इस बहुरूपिनि संगिनि की तुलना शैवागम के 'स्पन्द' नामक तत्त्व से की जा सकती है। एक[2] दृष्टि से स्पन्द वह चेतना शक्ति है जो 'स्थूल

---

१ विस्तार के लिये देखिये 'आँसू और निःश्वास'।

२ यतः करणवर्गोऽयंविमूढोऽमूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृतिः ।
तु. क. क्षे. टी. स्पं. नि. १,६

जड़ इंद्रियों को अनुप्राणित करती है और जो प्रत्येक प्राणी के जीवनेतिहास में सुख, दुःख, प्रेम आदि अवस्थाओं, सारी क्रियाओं तथा भावनाओं आदि का स्रोत है ।[१] दूसरी दृष्टि से, वह चेतना की ऐसी अवस्था है जिसमें सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का सर्वथा अभाव रहता है[२]। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" के अनुसार, यह स्पन्द न केवल 'पिण्डाण्ड' में होने वाली सृष्टि का स्रोत है, अपितु 'ब्रह्माण्ड' में होने वाली सृष्टि का भी। अतः षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह[३] के शब्दों में यह सृष्टि का प्रथम तत्त्व है और अखिल सचराचर जगत् का बीज है ।[४] 'यह विश्वात्मक है तथा विश्व से परे भी और इसको विमर्श, चित्, चैतन्य, स्वरसोदितापरावाक, स्वातन्त्र्य, परमात्मा का प्रमुख ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता, सार, हृदय तथा स्पन्द आदि विविध नामों से संबोधित किया जाता है—"एष एव च विमर्शः चित्, चैतन्यं, स्वरसोदितापरावाक्, स्वातंत्र्यं, परमात्मनो मुख्य-मैश्वर्य, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, सारो, हृदयं, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते ।

कामकला

इसी शक्ति का नाम चिति भी है जो विश्व-सृष्टि का मूल हेतु बतलाई गई है[५] । इस भाव को कामायनी में बड़े मौलिक और सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है :—

अपने सुख दुख से पुलकित
वह मूर्त्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
वह सत्य सतत चिर सुन्दर ।

---

१ अहं सुखी च दुःखी च, रक्तश्चेत्यादिसंविदः ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम ॥
स्पं. नि. ४, तु, क. क्षे. टी.

२ न दुःखं न सुखं यत्र न प्राह्यं ग्राहकं न च
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः (दे० वही ।)

३ षं. तं. सं. १-२

४ विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णाम् हृदयं परमेशितुः ।
परादिशक्तिरूपेण स्फूरन्ती संविदं नुमः ॥ (प. श्रा० १ का०)

५ चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः (प्र० हृ० १)

इस मूल शक्ति से सृष्टि होने का जो सुन्दर चित्र कामायनी में मिलता है उसका उल्लेख ऊपर[1] हो चुका है। इस मूल शक्ति को एक स्थान पर प्रसाद जी ने 'प्रेमकला' भी कहा है[2]। प्रेम-कला की कल्पना भी प्रसाद जी को शैवागम से ही मिली है। 'कामकलाविलास' नामक पुस्तक में उक्त चिति या मूल शक्ति को ही 'कामकला' कहा गया है[3]। प्रेमकला इसी 'कामकला' का ही रूपान्तर प्रतीत होता है। इस विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि 'कामायनी' में उक्त मूलशक्ति प्रेमकला का संदेश सुनाने वाली 'श्रद्धा' है[4] जो सचमुच न केवल इस मिशन में सफल होती है; अपितु अंत में वह स्वयं उसी मूलशक्ति के रूप में हमारे सामने आ जाती है :—

> वह कामायनी जगत की
> मंगल कामना अकेली;
> थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित
> मानस तट की बन बेली।
> वह विश्व चेतना पुलकित
> थी पूर्ण काम की प्रतिमा :
> जैसे गंभीर महाह्रद
> हो भरा विमल जल महिमा।
> जिस मुरली के निःस्वन से
> वह शून्य रागमय होता;
> वह कामायनी विहँसती
> अगजग था मुखरित होता।

इस वर्णन में 'जगत् की मंगल कामना अकेली' तथा 'विश्व चेतना' के साथ-साथ 'पूर्ण काम की प्रतिमा' कहने से स्पष्ट है कि यहाँ पर श्रद्धा का उस मूलशक्ति से तादात्म्य अभिप्रेत है जिसको ऊपर कामकला या प्रेमकला कहा गया है। यहाँ स्मरणीय बात यह है कि श्रद्धा का यह परिचय स्वयं काम द्वारा दिया गया है—निस्संदेह वही काम जिसकी वह कामायनी में 'प्रतिमा' या पुत्री

---

१ दे० पृ० २४१

२ यह लीला जिसको विकस चली
  वह मूल शक्ति थी प्रेमकला,

३ का० वि० ७.

४ 'उसका सन्देश सुनाने को,
  संसृति में आई यह अमला।

बतलाई गई है और आगमों में 'कला' बतलाई गई है। यह काम और कुछ नहीं केवल आत्मा का ही एक स्वरूप है जिसे 'अहंकार' कहते है और वह शक्ति उसी की कला है:—

बिन्दुरहंकारात्मा
रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
कामः कमनीयतया
कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दु ॥

यहाँ पर अहंकार को अभिमान, गर्व या दर्प का पर्यायवाची समझना भूल होगी। अहंकार का शब्दार्थ है 'अहम्' का स्वरूप और अहम् आत्मा का व्यक्त रूप है—वह आत्मा जो अद्वैत दृष्टि से न केवल पिण्डदाण्ड में अपितु ब्रह्माण्ड में भी रम रहा है। इसी दृष्टि से संस्कृत का 'अहम्' परमेश्वर का नाम छोड़कर एक सामी उपसर्ग 'इल' या 'अल' से संयुक्त होकर ईरान में 'इलोहीम' और अरब में 'अल्लाह' हो गया। अहम् शब्द उत्तम पुरुष का सर्वनाम होने से, ऋग्वेद, भगवद्गीता आदि ग्रंथों मे यत्र तत्र उक्त दार्शनिक अर्थ में आने पर प्रायः गलत समझा जाता है ।

अस्तु, अहंकाररूप आत्मा ही काम है जिसकी शक्ति को कामकला कहा गया है :—

"काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थ-महद्भिर्योगिभिरिति कामः तत्र हेतुः—कमनीयतया इति । कमनीयत्व स्पृहणीयत्व तेन। कला विमर्शशवित... विमर्शशक्तिः कामेश्वराविनाभूता । महात्रिपुरसुन्दरी बिन्दुसमष्टिरूपा कामकला इति उच्यते ।"

संभवतः कामायनी का जो स्वरूप दिया गया है, वह साधारण दृष्टि से काम के उस स्वरूप से भिन्न प्रतीत हो जो यहाँ शैवागम के अनुसार रक्खा गया है। परन्तु, ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि अहंकार स्वरूप आत्मा ही वस्तुतः इंद्रियरूपी देवों के जगत् में तृष्णा एवं तृप्ति का खेल खेलने वाला काम है और यह तत्त्वतः उससे भिन्न नहीं है जिसे 'चैतन्यमात्मा[१]' या 'आत्मा चित्तम्'[२] कहा गया है और जिसकी 'इच्छा' को ही उक्त 'स्पंद' आदि कहा गया है ।

इच्छा सैव स्वच्छा,
संतत समवायिनी सती शक्तिः ।
सचराचरो जगतो,
बीजं निखिलस्य निजलीनस्य ।
(ष० त्रि० सं० १-२)

---

१ शि० सू० १–१ । २ वही–३–४१

इसी काम की दुहिता होने से श्रद्धा कामायनी है और स्वयं श्रद्धा शब्द भी लैटिन 'स्रिदो' स० श्रत् या हृद् तथा अ० हार्ट का सजातीय होने से इच्छा या काम में निहित कल्पना को प्रकट करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त शब्द था। इसीलिए प्रसाद ने जानबूझ कर कामायनी की नायिका में एक कोरी नारी की कल्पना न करके आत्मा की उस शक्ति को भी चित्रित किया है जिसे ऊपर 'हृदय' आदि कहा गया है और जिसमें चराचर विश्व उसी प्रकार स्थित बतलाया गया है जिस प्रकार न्यग्रोधबीज में एक महाद्रुम :—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ।

महात्रिपुरसुन्दरी

इस मूल शक्ति के भी असंख्य स्वरूप या पक्ष होते हैं,[१] जिसमें से मुख्य पाँच ये हैं[२] :—

(१) चित् शक्ति या प्रकाशरूपता[३] ।—
(२) आनन्द शक्ति[४] या स्वातन्त्र्य ।
(३) इच्छाशक्ति[५]
(४) ज्ञानशक्ति[६] ।
(५) क्रिया-शक्ति[७]

कामायनी में श्रद्धा को इन सभी रूपों में देखा जा सकता है :—

---

१ शक्तयश्च असंख्येयाः (तं० सा०, आ० ४)
२ मुख्याभिः (पञ्चभिः) शक्तिभिर्युक्तः (वही, आ० १)
परमेश्वर पञ्चभि शक्तिर्भिनिभरः (वही आ० २)
३ प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः (वही, आ० १) ; प्रकाशश्च अनन्योन्मुख-विमर्शः अहमिति (प्र० वि० ३, १,४)
४ स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः (तं० सा०, आ० १); आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्ति स्वभावाह्लादप्राधान्यात् (तं० सा०) स्वतंत्रश्च पुनः यो हि तथाबुभूषुः न प्रतिहन्यते स० (प्र० वि० वि० १५८)
५ तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः (तं० सा०, आ० १); तथाबुभूषालक्षणा (इच्छा) (प्र० वि० वि०, २५८ अनु); तु० क० तं० सा० आ० २ इत्यादि ।
६ आमर्षात्मकता ज्ञानशक्तिः (तं० सा०, आ० १); आमर्ष को 'ईषत्तया वेद्योन्मुखता' कहा गया है ।
७ सर्वाकारयोगित्वं कार्यशक्ति ।

(१) उसको 'विश्व चेतना' तो कहा ही गया है; साथ ही उसकी प्रकाश-रूपता के भी बड़े सुन्दर संकेत मिलते है :—

(क) श्रद्धा के मधु अधरों की
छोटी छोटी रेखायें;
रागारुण किरण कला सी
बिकसीं वन स्मित लेखाएँ।

(ख) प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला से;
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।

(२) (क) थी ज्योतिश्मती प्रफुल्लित।

(ख) वह कामायनी विहँसती
अग जग था मुखरित होता।

(ग) जड़ चेतनता की गाँठ वही
सुलझन है भूल-सुधारों की।
वह शीतलता है शांतिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की

(३-५) इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का श्रद्धा मे समावेश 'रहस्य' सर्ग में किया गया है, जहाँ कि उक्त तीनों को एक त्रिकोण में सम्वद्ध और लीन करने वाली श्रद्धा की स्मिति वतलाई गई है :—

महाज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।
शक्ति तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा सा;
शृंग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा सा।
स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

त्रिपुर

इच्छा, ज्ञान, क्रिया तथा स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि त्रितय अवयवो को त्रिपुर कहा जाता है और इस त्रितयपुरीया शक्ति को त्रिपुरा कहा जाता है— "माता अवकाशगत ईश्वर, मान तदवगतिसाधनभूता विद्या, मेय ज्ञायमाना महात्रिपुरसुन्दरी, एव मातमान-मेयभावम् अनुभूय विहरति । धामत्रय वाग्भवादिकम्, पीठत्रय कामगिर्यादि, शक्तित्रयम् इच्छादि, एवमादिभेदेन भावितानि ....एवविधसमस्तवस्तुपूरणात् तत्समष्टिरूपा त्रिपुरा नाम पराशक्तिराविर्भूता—इत्थ त्रितयपुरीया इति—इत्थ पूर्वोक्तप्रकारेण त्रितयानि अवयवानि पुराणि शरीराणि यस्या सा ।*" यही त्रिपुरा त्रिपुरसुन्दरी कही जाती है। यह शक्ति वस्तुत इस त्रिपुरी मे ही समाप्त न होकर इनसे परे भी है, अतएव इसको आगमो मे 'तुरीयपीठा' तथा महात्रिपुरसुन्दरी नाम भी दिये गये है । इस महात्रिपुरसुन्दरी के 'त्रिपुर' का विस्तृत वर्णन भी 'रहस्य' सर्ग के अन्तर्गत आधुनिक शब्दावली मे कवि-सुलभ कल्पना के साथ किया गया हे, इसी का उपसहार करते हुए, श्रद्धा मनु से कहती है—

> "यही त्रिपुर है देखा तुमने
> तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने;
> अपने केन्द्र बने दुख-सुख मे
> भिन्न हुए है ये सब कितने ?
>
> ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
> एक दूसरे से न मिल सके
> यह विडम्बना है जीवन की ।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी श्रद्धा मूलतः शैवागम की चित् शक्ति है । परन्तु इसका समन्वय वेदान्त की 'माया' साख्य की 'प्रकृति' वैष्णव आगमों और वेदो की वाक् वृहती आदि से भी हो चुका था, जैसा कि ललितासहस्रनाम देवीसहस्रनाम तथा देवीनामविलास आदि ग्रथों मे स्पष्ट है । प्रसाद जी ने भी अपने काव्य के लिए प्रथमतः शक्ति की इस समन्वित कल्पना को ही अपनाया और सभवतः 'सौन्दर्य्यलहरी' तथा 'आनन्द लहरी' जैसे समन्वयवादी ग्रथो मे ही प्रभावित होकर आनन्द, प्रेम, करुणा तथा सौन्दर्य आदि के प्रसग मे एक धारा, लहर या लहरी की कल्पना प्रसाद के काव्य मे भी आयी । यह होते हुए

---

* का० क० वि० १३–१४ तथा टीका ।

भी, कामायनी में इस शक्ति के चित्रण में शैवागम—और वह भी काश्मीरी शैवागम का प्रभाव स्पष्ट है ।

शक्ति–शक्तिमान्

(ख) काश्मीरी शैवागम प्रधानतया अद्वैतवादी है परम अद्वैत सत्ता आत्मा[१] है, जिसको परा सवित्, शिव, परमेश्वर, या परमशिव भी कहा जाता है[२] । आत्मा चैतन्य है, विश्व का मूल है, व्यष्टि और समष्टि तथा 'इदम् और 'अहम्' सब की मूल अविकारी सत्ता है[३]। सभी व्यक्तियों और वस्तुओं, जीवों और अजीवों की मूल सत्ता होने से वह उन सब भिन्नों में अभिन्न तथा अनेकों में एक मात्र है । अत वह देश, काल एव रूप से परे है ; शाश्वत और अनन्त है, यद्यपि सब का मूल होने से सर्वव्यापक भी है .—

(१) श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मकपरमानन्दमय-प्रकाशैक-घनस्य अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुत अन्यत किंचित् ग्राह्य ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति[४] ।

(२) यत्र स्थितमिदं सर्व कार्यं यस्माच्च निर्गतम[५] ।

(३) तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम्[६] ।

अतएव परमार्थसारकार[७] ने उसे एक होते हुए भी अनेक मे प्रविष्ट, सब का आलय, चर तथा अचर मे स्थित एव सब से परे बतलाया है :—

परं परस्थं गहनाद् अनादिं
एकं निविष्टं बहुधा गुहासु ।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं
त्वामेव शंभुं शरणं प्रपद्ये ।

---

१ शि० सू० १, शि० वृ० २; म० म० ३

२ शि० दृ०, २ प्र० हृ० पृ० ८; प्र० वि० १, १

३ चैतन्यं आत्मा, शि० सू० १; अंणा खु बीसमूलं, म० म० ३; आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभु; शि० दृ०

४ प्रत्य० १ तु० क० देशकालाकारभेदः संविदो नहि युज्यते ।
तस्मादेकैव पूर्णाहं विमर्शात्मा चिदुच्यते ॥

५ स्पं० का० २०

६ वि० भै० १६

७ प० सा० १

अतः एक दृष्टि से नामरूपात्मक जगत उसी आत्मा या शिव की अभिव्यक्ति मात्र[1] है। उसके इस पक्ष को शक्ति कहते हैं, जिसके आगमों में उमा, कुमारी, देवी, स्पन्द, परा आदि अनेक नाम आये[2] हैं। इसी शक्ति को चिति तथा सारी सृष्टि का मूल हेतु कहा गया है[3]। अतएव सर्वमंगलाशास्त्र [4] के शब्दों में वस्तुतः दो ही तत्त्व है—(१) शक्ति, जो सारे जगत रूप में व्यक्त है और (२) शक्तिमान् (आत्मा या शिव) जिसकी इच्छा या स्पन्द[5] मात्र ही शक्ति है :—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥

यद्यपि व्यवहार में शक्ति और शक्तिमान् को दो तत्त्व माना जाता है, परन्तु वस्तुतः वे दोनों एक परम शिव या आत्मा के ही दो पक्ष हैं, अतः एक दूसरे से अभिन्न[6] एवं अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले हैं—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्
व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं,
वह्निदाहकयोरिव (वा० पं० ३)

शक्ति और शक्तिमान् के इस अविनाभाव और अभिन्न संबंध को कामायनी में भी बतलाया गया है :—

(१) उस शक्ति-शरीरी का प्रकाश,
(दर्शन)
(२) चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;

---

१ दे० प० सा० ५-८, तं० सा० ३; वि० भै० १६-१७ इत्यादि।

२ इच्छा शक्तिरुमा कुमारी शि० सू० १३। दे० षं० त्रि० सं० १-२; शि० दृ० ८-११; प्र० हृ० १; वि० भै० १६ इत्यादि।

३ चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः प्र० हृ० १

४ प० सा० वि० ४

५ पं० त्रि० सं० १-२

६ पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती.....शिवभट्टारकाभिन्ना, प्र० हृ० पृ० २

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिव्यतिरेकिणी। (शि० दृ० ३, २)

निज शक्ति-तरंगायित था
आनन्द-अम्बुनिधि-शोभन ।
(आनन्द)

शक्ति को कभी-कभी प्रकाशात्मा शिव की विमर्शशक्ति भी कहा जाता है[1] जो शिव के साथ अनन्य रूप होते हुए भी नानारूपात्मक जगत् में महा नाट्य-रसिक के महानाट्य का कारण बनती है[2] :—

अकृतिमाहमर्शप्रकाशैकघनः शिवः ।
शक्त्या विमर्शवपुषा स्वात्मनोऽनन्यरूपया ।
शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरुदञ्चयन् ।
पञ्चकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीड़ति प्रभुः ।

यह नाट्यरसिक ही कामायनी में नटराज नाम से आते है, जो कामायनी में 'आलोक-पुरुष ! मंगल चेतन !' बतलाये गये हैं और जिनके नृत्य का एक सुन्दर चित्र दिया गया है :—

वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष ! मंगल चेतन !
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणों की थी लहर लोल ।
बन गया तमस था अलक-जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;
अर्न्तनिनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्यभेदिनी सत्ता चित;
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित;
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशा काल ।
लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा-पुञ्ज चितिमय प्रसाद;
आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर;
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण से भूधर;

---

१ का० क० वि० १ । २ अ० प्र० पं० १–२

संहार-सृजन से युगल पाद--
गतिशील अनाहत हुआ नाद ।
बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल;

विद्युत-कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर;
चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते विलीन होते क्षण भर
यह विश्व झूलता महा दोल,
परिवर्त्तन का पट रहा खोल ।

नटराज के नृत्य का यह सुन्दर चित्र संभवतः प्रसाद जी ने देवीनामविलास' में दिये हुये 'नटपतेर्नाट्यम्' * के वर्णन से प्रेरित होकर दिया हो, यद्यपि प्रसाद जी का वर्णन अधिक समृद्ध और सजीव है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कामायनी के उक्त चित्र के लिए निम्नलिखित वर्णन से पर्याप्त प्रेरर्णा मिल सकती थी :—

ब्रह्माण्डादृढ़खण्डखण्डघटनासंघट्टनोदण्डितं,
दोर्दण्डोद्घटितप्रचण्डविकटाटोपाभ्रकूटच्छटम ।
स्रष्ट्राखण्डलमुण्डमण्डलकलाकाण्डोल्लसल्लुण्ठना—
शंक्यं खण्डकुठारकोटचभिनयं दत्ताण्डवं मण्डति ।

उद्दामभ्रमसम्भ्रमोन्नमनमत्पादाहतानामित-
दिग्दन्त्यद्भटहस्तखण्डचकमठोत्पृष्ठाभि भृष्टं स्फुटम् ।
उद्धूताम्बरघट्टितोडुपभवन् मार्तण्डसन्मण्डलम् ।
भ्रष्टांगारकणं कृपीटभवतो यत्ताण्डवाडम्बरम् ।

प्रसाद जी ने कामायनी में उक्त ताण्डव नृत्य के बाद ही एक दूसरे सर्ग में 'लास रास' का उल्लेख किया है :—

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी ।

इस 'लास' द्वारा कैलाश में जो संगीत-समृद्ध वातावरण उत्पन्न हो गया था उसका बड़ा ही मनोहर चित्र कामायनी में उपस्थित किया गया है, जिसका कुछ अंश यह है :—

---

*क्रीड़ाखेटकनाटकं नटपतेर्नाटचं न यस्योद्भटम् (दे० ना० वि० १, ८८)

वल्लरियाँ नृत्य-निरत थीं,
बिखरीं सुगन्ध की लहरें;
फिर वेणु रंध्र से उठकर
मूर्छना कहाँ अब ठहरें।
गूँजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर;
वाणी की वीणा ध्वनि सी
भर उठी शून्य में मिलकर

* *

संगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की;
संकेत कामना बनकर
बतलाती दिशा मिलन की।
रश्मियाँ बनीं अप्सरियाँ
अंतरिक्ष में नचती थीं;
परिमल का कन-कन लेकर
निज रंग-मंच रचती थीं।

कैलास के इस लास जनित वातावरण के मधुर चित्रण की तुलना निम्न-लिखित लास्य-वर्णन से कीजिये जो 'देवीनामविलास' में उक्त ताण्डव-वर्णन के साथ ही दिया गया है :—

वीणावेणुमृदंगताललिलितध्वानोसन्मूर्छना—
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षनिभृतध्यातं समाधे पदे।
नानारागतरंगरंगमुखरैर्गन्धर्वकिंपुंबरै—
गीतेनोज्ज्वलितं गतिप्रचतुरं यन्नर्तनावर्तनम्।
संशिक्ष्याभिनयोन्नयं गतिविधिख्याताप्सरोभिर्ध्वनड्
ढक्काडिण्डिमकाहलीडमरुजैः कोलाहलैराकुलम्।
लौल्योपोद्वलितं कलिप्रियमुनीशानादिभिर्वादितै—
र्नानावाद्यपदैरनूदितगतं यल्लास्यमाभासते।

यद्यपि कामायनी के वर्णन में इसके बहुत-से उपकरणों को बिलकुल छोड़ दिया गया है और जिन वीणा, वेणु, मूर्च्छना, अप्सरा आदि को ग्रहण भी किया गया है उनको भी पूर्णतया बदल कर लिया गया है, फिर भी दोनों की सामान्य तुलना से भी स्पष्ट हो जायेगा कि उक्त पंक्तियाँ लिखते समय प्रसाद जी के मन में यह वर्णन अवश्य रहा होगा।

नटराज के नृत्य की कल्पना शिव सूत्रों से प्रारम्भ हो चुकी थी, जिसमें आत्मा को नर्तक कहा गया है।[1] वरदराजविरचित वार्तिक के अनुसार आत्मा 'चित्' की भित्ति पर उठने वाले स्पन्दों की लीला द्वारा जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अपनी-अपनी भित्ति को आभासित करता हुआ नाचता है, इसलिए उसे नर्तक कहा जाता है। नर्तक आत्मा की रंग भूमि अन्तरात्मा या जीव देह है और नृत्य को देखने वाले प्रेक्षक इन्द्रियाँ हैं। इस नृत्य का वर्णन वार्तिककार ने इस प्रकार किया है :—

नृत्यत्यन्तः परिच्छन्नस्वस्वरूपावलम्बनाः ।
स्वेच्छया स्वात्मचिद्भित्तौ स्वपरिस्पंदलीलया ।
जागरास्वप्नसौषुप्तरूपास्ताः स्वभूमिकाः ।
आभासयति यत्तस्मादात्मा नर्तक उच्यते ।
रज्यतेऽस्मिन् जगन्नाटचक्रीडाकौतुकिनात्मना ।
इति रंगोऽन्तरात्मेति जीवः पुर्यष्टकात्मकः ।
योगी कृतपदस्तत्र स्वेन्द्रियस्पन्दलीलया ।
सदाशिवादिक्षित्यन्तजगन्नाटचं प्रकाशयेत् ।
सदाशिवादिक्षित्यन्तजगन्नाटचं स्वान्तरात्मनि ।
प्रेक्षकाणीति संसारनाटचप्राकटचकृद्वपुः ।
चक्षुरादीन्द्रियाण्यन्तश्चमत्कुर्वन्ति योगिनः ।

वस्तुतः यह ताण्डव-लास नृत्य आध्यात्मिक वस्तु है, जिसका चित्रण बाह्य उपकरणों द्वारा किया जाता है और फलतः काव्यमयी भाषा में विचित्र रूपक खड़ा हो जाता है। रूपक-रहित व्यावहारिक दृष्टि से ताण्डव नृत्य का एक सरल और साधारण वर्णन चक्रपाणि ने अपने "भावोपहार" में किया है। उनका कहना है कि हमें बाह्यार्थ से क्या प्रयोजन है, क्योंकि गीत, वाद्य आदि के सहित ताण्डव हमारे भीतर ही हो रहा है जो कर्ण-शष्कुलियों को बन्द करने से सुना जा सकता है :—

शष्कुलीकर्णयोर्बद्धा यो रावोऽत्र विजृम्भते ।
तद्गीतमयं ते वाद्यमाद्यसंपुटघट्टनात् ॥
भवद्भावरसावेशा-ताण्डवाडम्बरोद्धतः ।
मन्त्राध्वनि नदाभ्यन्तः किमुबाह्यार्थभावनैः ॥

---

१ शि० सू० वा० ३, ९ नर्तक आत्मा।

२ वही १०, रंगोऽन्तरात्मा

३ वही ११, प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ।

शिवरात्रिविचार वार्तिक में इसी प्रकार शक्ति के लास नृत्य को भी निष्क्रिय और ध्यानस्थ व्यक्ति के भीतर ही होता हुआ देखा गया है :—

नित्यमात्तकरणक्रमोन्मिष च्चित्रभावशतसंनिवेशिनीः ।
निष्क्रियो निजमरीचिनर्तकीः नर्तयामि परनृत्तदैशिकः ।।

कामायनी में भी ताण्डव नृत्य के दर्शन अन्तर्जगत् में ही होने का संकेत है । मनु अनुभव करता है कि 'मैं शून्य बना सत्ता खोकर'; फिर उसके नेत्र निर्निमेष हो जाते हैं और वह 'बाहर-भीतर उन्मुक्त सघन' महानीलाञ्जन में से एक 'रजत गौर उज्ज्वल जीवन' प्रकट होता हुआ देखता है जिसके परिणामस्वरूप 'अन्तर्निनाद-ध्वनि से पूरित' चित्सत्ता नटराज के नृत्य का दृश्य उपस्थित कर देती है :—

वह शून्य असत या अंधकार,
अवकाश पटल का वार-पार;
बाहर भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अंजन;
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन,
थे निर्निमेष मनु के लोचन;

इतना अनन्त था शून्य सार,
दीखता न जिसके आर पार ।
सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल;
तम जलनिधि का बन मधु मथन;
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष ! मंगल चेतन !

केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरणों की थी लहर लोल ।
बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित ।

स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल ।
लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुञ्ज चितिमय प्रसाद;

* * *

संहार सृजन के युगल पाद—
गतिशील अनाहत हुआ नाद ।

यहाँ पर 'गतिशील अनाहत नाद'[१] स्वयं आभ्यन्तरिक सत्ता की ओर संकेत कर रहा है और 'कामायनी' के लास-नृत्य में तो स्पष्ट ही 'मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्त्तन' होता है :—

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति कल्याणी;
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी ।
वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन;
देखता मानसी गौरी
लहरों का कोमल नर्तन ।

ताण्डव और लास की भूमि कैलास पर्वत है । पर्वत के स्थायी आध्यात्मिक रूपक की चर्चा ऊपर[२] हो चुकी है जिसमें हिम और जल शक्ति के क्रमशः अचल और चल पक्षों के प्रतीक होकर आते हैं । उक्त उद्धरण में मांसल सी 'हिमवती प्रकृति' तथा 'पुरुषपुरातन' सा स्पन्दित 'वह चन्द्र-किरीट रजत नग' का भेद भी उक्त कल्पना पर ही आश्रित है । इस 'नग' को चित् या शक्ति के प्रतीक के रूप में, प्रसाद जी ने संभवतः चक्रपाणि के काव्य[३] से प्रभावित होकर लिया, जहाँ केवल इस नग के आध्यात्मिक अर्थ ही नहीं, अपितु चन्द्रिका[४], चन्द्र किरी[५], अनाहत

१ देखिये पृ० १७७-१७८

२ पृ० २२०-२२१

३ दे० भा० श्लोक १८ तथा उसी टीका "उभयोरपि (ज्ञानज्ञेययोः) सापेक्षत्वेन अनुद्यमानस्वरूपत्वात् जडाजडयोः त्रिष्वपि कालेषु चित् अतिरेकेणाभाव एव अगमेनात् अवचि लत्वात्नगः ।"

४ वही, श्लो० २८

५ वही, श्लो० २५

घण्टा[१] आदि का भी विवेचन है, जिसका उल्लेख कामायनी के कैलास वर्णन में भी आता है[२] परन्तु, फिर भी ताण्डव तथा लास के वर्णन की भाँति ही कैलास-वर्णन की प्रत्यक्ष प्रेरणा कामायनीकार को साहिब कौल के 'देवीनामविलास' से ही मिली प्रतीत होती है, जिसके कि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रसाद जी अवश्य ऋणी है, यद्यपि प्रसाद जी ने कहीं भी कौल की 'चोरी' नहीं की है।

ताण्डव और लास से युक्त इस कैलास का रहस्य यही है कि यह पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड रूपी पर्वत वस्तुतः "कैलस्य लासः" है, जिसमें हिम और जल, रात्रि और दिन, सुख और दुख, जड और चेतन, विष और अमत, असुरत्व और देवत्व आदि सभी द्वंदों की द्वयता में सामरस्य है :—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।

इसी भाव को शिवदृष्टिकार[३] ने निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया है :—

भिन्नोऽप्यभिन्न एवास्मि शिव इत्थं विचेष्टनम्
शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधनः
यद्दृश्यं यच्च संस्पृश्यं यद्घ्येयं रस्यमेव यत्
यच्छ्राव्यं तच्छिवव्यक्तेस्तच्छिवत्वेन संश्रितः
गम्ये ग्राह्ये तथा वाच्ये सुखादावपि सर्वदा
स्थिते शिवत्वे बद्धास्थो भवेत् सर्वगतः शिवः
मन्तव्ये चाभिमातव्ये बोद्धव्ये धृति संगमात्
सुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः
प्रतिपादितमेतत् सर्वमेव शिवात्मकम्।

यह समरसता केवल व्यष्टिगत साधना की ही वस्तु नहीं है, जैसा कि प्रायः समझ लिया गया है। इस को समष्टि में, विशेषकर समाज में भी प्रतिफलित किया जा सकता है। इसी बात पर जोर देते हुए प्रसाद जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में संक्षेपतः इसको सारे-सामाजिक वैषम्य एवं वैमनस्य का उपचार बतलाया है :—

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है;

---

१ वही श्लो० २३। २ दे० कामायनी, पृ० २९४, २८८
३ आ० ७, श्लो० ९९-१०५ तथा पूर्व

अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।
मैं की मेरी चेतनता
सब को ही स्पर्श किये सी;
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूंट पिये सी;
जग ले ऊषा के दृग में
सो ले निशि की पलकों में,
हाँ स्वप्न देख ले सुन्दर
उलझन वाली अलकों में—
चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता सा;
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धँसता सा।
सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! "यह मैं हूँ"
यह विश्व नीड़ बन जाता।

(४) समाज–समीक्षण की समृद्धि

'कामायनी' में हमें जो दर्शन मिलता है, वह आध्यात्मिक होते हुये भी समाज की भौतिक भूमि पर खड़ा है। वस्तुतः प्रसाद जी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कोरे तत्त्वज्ञान के पंखों पर आकाशीय उड़ान भरने वाले रहस्यवादी दार्शनिक नहीं हैं; वें अपने समाज को साथ लेकर चलते हैं। उनकी कहानियाँ, उपन्यास और नाटक इसके प्रमाण हैं कि उन्होंने समाज के भूत और वर्तमान का अध्ययन करके उसके रोगों का निदान कर लिया था और उसके उपयुक्त उपचार के लिए भी वे निरंतर चिंतित थे।

इस समाज-समीक्षण से प्रसाद जी का दर्शन समृद्ध हुआ और उसकी जो अभिव्यक्ति कामायनी में हुई वह हम किसी हद तक 'कामायनी के पात्रों' पर

विवेचन करते हुए देख चुके हैं। यहाँ पर मुख्यतः हमें कामायनी के सामाजिक दर्शन की पृष्ठभूमि देखनी है। यों तो इसकी सामग्री हमें प्रसाद जी के सभी नाटकों, कहानियों एवं उपन्यासों में प्रचुरता से मिलती है, परन्तु यहाँ इतना विस्तृत विवेचन संभव नहीं।

कंकाल

'कामायनी' के सामाजिक दर्शन की आधारशिला जिस विश्लेषण पर स्थित है उसका सबसे अच्छा स्वरूप हमें कंकाल में मिल सकता है। 'कंकाल' और कामायनी के इस संबन्ध को दिखलाने के लिए ही संभवतः 'कामायनी' में मनु के शब्दों में यह संकेत किया गया है :—

शापित सा मैं जीवन का यह
ले कंकाल भटकता हूँ।
उसी खोखलेपन में जैसे
कुछ खोजता अटकता हूँ।

अतः सर्वप्रथम 'कंकाल' का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है।

'कंकाल' अपने ढंग का संभवतः अकेला उपन्यास है। पश्चिमी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि से इस उपन्यास के समझने में प्रायः भूल की गई। उपन्यासों का जो आदर्श हमारे सामने है, उसमें चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक संघर्ष, मनोभावों का घात-प्रतिघात, चारित्रिक द्वंद्व, व्यक्तित्व का विकास, नायक-प्राधान्य तथा प्रतिनायक-प्रतिरोध आदि की विशेषताओं को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है और एक रूढ़िगत योजना-क्रम को ही उपन्यास की श्रेष्ठता समझा जाता है। अतः अधिकांश आलोचक इसे 'गौण श्रेणी' का उपन्यास मानते हैं। आधुनिक प्रगतिशील आलोचक को यदि 'कंकाल' में कुछ भी अच्छाई दिखाई पड़ती है तो वह 'एक विशेष सिद्धांत' जिससे 'परिचालित' होकर प्रसाद जी 'अपने प्रत्येक पात्र को अवैध, हीन-मानव और कुल-भ्रष्ट सिद्ध करना चाहते हैं।' इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम की छूत से हमारे देश में भी एक ऐसा 'वर्ग' बन गया है जो, 'चरित्र-हीनता' को गौरवमय बताकर अपने व्यसनों और वासनाओं के लिए नैतिक औचित्य ढूँढने का प्रयत्न करता है, परन्तु प्रसाद जी पर ऐसे किसी 'सिद्धान्त' को थोपना उनके समूचे साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति और स्थापना से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

'कंकाल' का महत्त्व उसके नाम में ही निहित है। उपन्यास के अन्त में आता है........"मंगल ने देखा—एक स्त्री पास ही मलिन वस्त्र में बैठी है उसका घूंघट आँसुओं से भीग गया है और निराश्रय पड़ा है एक कंकाल।" बहुधा लोग

समझते हैं कि अन्तिम शब्द पर ही उपन्यास का नामकरण हुआ है। परन्तु इसमें यदि सत्य है तो यह कि यह अन्तिम शब्द उस 'कंकाल' की ओर संकेत कर रहा है जिसका चित्रण सारे उपन्यास में हुआ है। यह कंकाल है नर-नारी के उस संयुक्त व्यक्तित्व का जो भारतीय समाजशास्त्र के अनुसार समाज की[1] इकाई रहा है और जो स्वयं अपने 'प्राण' गँवाकर आज सारे भारतीय समाज को 'कंकाल' मात्र बना रहा है। उपन्यास के अन्त में, मलिनवसना सजल नयना नारी के पास पड़ा 'कंकाल' एक साथ ही दोनों का प्रतीक है—

समाज और उसकी इकाई (नर-नारी) को सजीव बनाने वाला है चतुर्वर्ग-समन्वय। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सुन्दर समन्वय ही व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य्य का समुचित विधान करता हुआ समाज को सुगठित, सुव्यवस्थित एवं सुशान्त बनाता है। इस समन्वय में मनुष्य की किसी भी स्वाभाविक मनोवृत्ति या आकांक्षा को 'पाप' की श्रेणी में पटकने की आवश्यकता नहीं; इसमें सभी की सत्ता मानी गयी है और सभी की पूर्ति के लिए स्थान है। इसी समन्वय की स्थापना के लिए, प्राचीन भारतीय समाज[2] शास्त्र ने व्यक्तिगत जीवन को 'आश्रम-व्यवस्था' द्वारा तथा सामाजिक जीवन को वर्ण-व्यवस्था' द्वारा संगठित करने का प्रयत्न किया था। अतः यही समन्वय व्यष्टि एवं समष्टि का जीवन-प्राण है और उसके विना दोनों ही निर्जीव 'कंकाल' मात्र रह जाते हैं। आज भारतीय समाज इस समन्वय को खो चुका है—उसने अपने लम्बे इतिहास में कभी धर्म को, कभी मोक्ष को और कभी केवल दोनों को लेकर दौड़ना चाहा; कभी ऐसे अवसर भी आये जब वह काम या अर्थ में से किसी एक को अथवा दोनों को संयुक्त रूप आदर्श मानकर भाग पड़ा; परन्तु आज विचित्र दशा है। उसी को सुधारने के लिए प्रसाद जी ने 'भारतसंघ' में सारी प्रगतिशील शक्तियों को एकत्र किया है। इसी संघ के अंगभूत मंगलदेव से प्रसाद जी ने उक्त समन्वय की आवश्यकता इस प्रकार व्यक्त करवाई है—"समाज को सुरक्षित रखने के लिए उसके संगठन में स्वाभाविक मनोवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करनी होगी; सब के लिए एक पथ देना होगा। समस्त प्राकृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति आपके आदर्श में होनी चाहिए।" इसमें फ्रायडवादी स्वच्छंदतावाद को देखना भूल होगी, क्योंकि इसके आसन्न पूर्व ही ये शब्द भी हैं—"सुधार सौन्दर्य्य का साधन है। सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है। शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक हैं, चरम सौन्दर्य्य मानसिक सुधार का है।"

---

१ दे० लेखककृत 'भारतीय समाजशास्त्र'।

२ दे० वही।

इस उपन्यास का समाज-जो कि आज का भारती समाज है—अर्थ प्रधान समाज है जो धर्म के ढोंग को भी लादे हुए है। वस्तुतः अर्थ के अन्तर्गत वे 'सामग्रियाँ और सेवायें' आती है जिनके द्वारा मनुष्य की कामनाएँ पूरी होती हैं और जिनका प्रतीक 'रुपया' बना हुआ है। अतः अर्थ काम क साधन मात्र है, यद्यपि कामनाओं की पूर्ति स्वयं साधन है आनन्द-प्राप्ति का, जो दुःख से मुक्ति या मोक्ष पाये विना वस्तुतः संभव नही। इसलिए अर्थ द्वारा काम की पूर्ति इस प्रकार होनी चाहिये कि दुःखो से मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करते हुए आनन्द की प्राप्ति हो। इस काम-पूर्ति के लिए एक नियमन-कला की आवश्यकता होती है जिसे धर्म कहा जाता है। जो धर्म नियमन-कला नही है वह केवल ढोंग मात्र है। इसी प्रकार के ढोंग को लिये हुए देवनिरंजन तथा बाथम जैसे लोग अर्थकामपरायण जीवन बिताते है और दुःखों के जाल में फँसते फँसाते है। समाज ऐसे धर्म को चाहता है जो उसे कामना-पूर्ति की सामग्री दे—काम का साधन अर्थ (पुत्र, रुपया आदि) दे। रंजन के पिता, श्रीचन्द्र और किशोरी धर्म (ढोंग) की शरण इसी अर्थोपासना के लिये लेते है। घंटी और विजय, लतिका और सरला जैसे व्यक्तियों को भी अर्थ (केवल रुपया नही) का प्रलोभन ही गिरिजाघर में खींच ले जाता है। आज का मनुष्य अपने पास अर्थ का अपूर्व अंबार—सामग्रियों और सेवाओं का अक्षय भंडार देखना चाहता है और वह तथाकथित धर्म से भी इसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में योग चाहता है।

स्वयं काम भी तो आज अर्थ को ही साध्य सा मान बैठा है। व्यवसाय-वाणिज्य को सँभालने अमृतसर चला जाना और अपनी पत्नी किशोरी को देवनिरंजन के हवाले कर देना; चन्द्रा से प्रणय करना और उसकी पुत्री से किशोरी के जारज पुत्र विजय से विवाह करने की मन में ठानंना, अंत में अपने संचित द्रव्य को उसके मरणोपरान्त भी किसी 'अपने' के पास रखने की इच्छा से मोहन को गोद लेना आदि श्रीचन्द्र के ऐसे काम है जिनमें काम के ऊपर अर्थ का आधिपत्य स्पष्ट है। यहाँ अर्थ का उपार्जन या सरक्षण किन्हीं स्वाभाविक कामनाओं की उपेक्षा करके भी उचित समझा गया है। यह सब है केवल अहंकार की पूर्ति के लिए जो अपने (अथवा मरणोपरान्त अपने प्रतिनिधि को) पास अपने सचित अर्थ को देखकर सन्तुष्ट होता है। इस समाज की इसी प्रवृत्ति के कारण अनेक ताराओं को वेश्यालयो मे जाना पड़ता है और अनेक यमुनाओं को जूठी पत्तलों तक के लिए कुत्तों से छीना-झपटी करनी पड़ती है। इसी अर्थ अथवा 'स्व-अर्थ' की प्रवृति के कारण ही तो स्वच्छंदवादिनी और कामना की पुतली घंटी को भी रोने और रुलाने वाली बनना पड़ा-'मैं भीख माँग कर खाती थी, तब मेरा कोई अपना नही था। लोग दिल्लगी करते और मैं हँसती, हँसा कर हँसती। मुझे विश्वास हो गया कि

हम लोग इस विचित्र भूतल पर केवल हँसी की लहरों में हिलने-डोलने के लिये आये.........अरे-अरे मैं हँसाने वाली सबको रुलाने वाली होकर सब को रुलाने लगी। मैं उसी दिन अपने धर्म से च्युत हो गई।"

समाज की इस घोर अर्थ-परायणता का दुष्परिणाम स्यात सबसे अधिक भोगना पड़ता है स्त्री को, क्योंकि गाला के शब्दों में, "स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म-वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।" संभवत: इसी भाव को प्रकट करने के लिये 'कंकाल' के प्रमुख स्त्री-पात्र का नाम 'किशोरी' रक्खा गया है और उसे श्रीचन्द्र एवं देवनिरंजन का 'शिकार' बनाया गया है—श्रीचन्द्र और देवनिरंजन जो 'श्री' और 'देव' शब्दों से क्रमश: अर्थपरायण तथा धर्माडंवर के प्रतीक प्रतीत होते है। नारी शिशु-सी कोमल किशोरी है, अत: उसका आनन्दयुग तो वैसे ही सरल बालक 'रंजन' (रंजन शब्द यहाँ सार्थक है) के साथ ही हो सकता है। दस-बारह वर्ष के कृष्ण का ब्रज-वनिताओं का मनोरंजन करना भी तो यही बतलाता है। परन्तु, श्रीचन्द्रों और देवनिरंजनों की दुरभिसंधि उसको 'अर्थ' या भोग-सामग्री बना डालती है। इसका परिणाम होता है नारी-पतन और नारी-क्रंदन। 'कंकाल' के नारी-पात्र—किशोरी, रामा, चंद्रा, तारा, नंदो, घंटी, लतिका आदि—इसके प्रमाण है। इन स्त्रियों के दग्ध हृदय से निकले हुये निम्नलिखित वाक्य प्रसाद जी के मन्तव्य की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं:—

(१) "कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन ! सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं, फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना।"

(२) "मैं सब झेल चुकी हूँ.........मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ—है किसी के पास इतनी नि:ष्ठ-स्वार्थ स्नेह-संपत्ति जो मुझे दे सके।"

(३) "विजय बाबू। क्या दासी होकर रहना किसी भी भद्र महिला के लिए अपमान का पर्याप्त कारण हो सकता है।"

(४) "जब मैं स्त्रियों के अपार दया दिखाने का उत्साह देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कोलाहल, स्त्री-जाति की लज्जा की मेघमाला है। उसकी असहाय स्थिति का व्यंग उपहास है।"

(५) "पुरुष नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नही चाहती, वह हृदय चाहती है। पर मन इतना भिन्न उपकरणों से बना हुआ है कि समझौते पर ही संसार के स्त्री-पुरुषों का व्यवहार चलता हुआ दिखाई देता है........."

(६) "हम स्त्रियों के भाग्य में लिखा है कि उड़कर भागते हुए पक्षी के पीछे, चारा और पानी से भरा हुआ पिंजरा लिये घूमती रहें।"

(७) नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।

(८) "जाओ तपस्या करो, तुम फिर महात्मा बन जाओगे! सुना है, पुरुषों के तप करने से घोर कुकर्मों को भी भगवान् क्षमा करके उन्हें दर्शन देते हैं। पर मैं हूँ स्त्री जाति, मेरा वह भाग्य नहीं; मैंने जो पाप बटोरा है, उसे मेरी ही गोद मे फेंकते जाओ।"

(९) "हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है; उसमे कुछ अधिकार हो, तब तो उसके लिए कुछ सोचना-विचारना चाहिए, और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित, प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यो छोड़ दूँ!

(१०) "तुम ब्याह करके यदि उसका प्रतिदान किया चाहते हो, तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी सताता ही नही। मुझे जो करना है, वही करती हूँ, करूँगी भी। घूमोगे, घूमूँगी; पिलाओगे, पीऊँगी; दुलार करोगे, हँस लूँगी; ठुकरा दोगे, रो दूँगी। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मै इन सबो को समभाव से ग्रहण करती हूँ और करूँगी।"

कंकाल में मर्माहत नारियों और उनके उद्गारों का यह बाहुल्य उच्चस्वर मे उद्घोषित कर रहा है कि समाज मे अर्थपरायणता और धर्माडम्बर की दुरभि-संधि स्त्रियों को किस प्रकार पशुत्व की श्रेणी मे पटक रही है। परन्तु, नारी नर की शक्ति है, उसका तिरस्कार करके वह सुखी नहीं रह सकता, उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। नारी पर अत्याचार करने वाले सभी पुरुष पात्र अपने किये पर पछ-ताते है और श्रीचन्द्र, देवरंजन, विजय, मंगल, अंधा साधु तथा बाथम सबके सब अपने जीवन को दुःखमय बना डालते है। कुल-स्त्रियो को जब भोग की सामग्री मात्र मानकर समाज को वेश्यालय मे परिवर्तित कर दिया जाता है, तो विजय, मोहन तारा आदि जैसी जारज संतानों की वृद्धि हो जाती है, जो अपने, गौरवहीन और निराशमय जीवन को भारस्वरूप वहन करते हुए अधर्म, अनीति के दुखद अत और उसके शव पर उसकी जारज बहिन के अश्रुपात द्वारा कंकाल की समाप्ति करना निष्प्रयोजन कदापि नही हो सकता। नर-नारी की घोर अर्थपरायणता के कारण दाम्पत्य-जीवन नाम की कोई वस्तु नही रह गयी; चाहे विवाह श्रीचन्द्र-किशोरी का हिन्दू धर्म-संबन्ध हो, या लतिका-बाथम का ईसाई समय-संबन्ध अथवा मंगल-यमुना का अधुनिक गांधर्व संबन्ध, सभी में खोखलापन है जिसमें नर-नारी के अन्योन्याश्रयत्व तथा एकत्व की पवित्रता का सर्वथा तिरस्कार है। भारतीय आदर्श में नर और नारी मिलकर एक इकाई है—दोनों ही एक के भोग्य और

भोगी, उपकार्य और उपकारी न होकर द्विदलीय चणकाकारवत 'एक' सामाजिक सत्ता है; इसके विकृत होने से ही हमारे धर्म-संघ, साधु-संघ, सेवा-संस्थायें तथा तीर्थस्थान आदि समाज के सभी अंग प्राणहीन 'कंकाल' की ही सृष्टि कर रहे है।

(ख)

समाज की इकाई (नर-नारी) तथा समाज के 'कंकाल' को चित्रित करते हुए, इस उपन्यास में एक विस्तृत और विशद चित्र-पटी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें गृहस्थों, साधुओं, पंडों और पुजारियों का चित्र है; गुंडों, डाकुओं, वेश्याओं और कुटनियों के कुचक्र हैं; आर्य-समाज, सनातन धर्म, ईसाई मिशन आदि धार्मिक संस्थाओं की कार्यवाहियाँ हैं; सधवाओं, विधवाओं, परित्यक्ताओं तथा पीड़िताओं का चीत्कार है और हैं भिखारियों की भूख, गरीबों की आह तथा अमीरों की विलासिता, समाज की सड़ायँद, उसका गलित कोढ़ और उसके फोड़े-फुन्सी, 'कंकाल' ने, नग्नरूप में नहीं तो अत्यन्त स्पष्ट रूप में तो दिखला ही दिये हैं।

परन्तु, उपन्यास का उद्देश्य अश्लीलता का प्रदर्शन करना कदापि नहीं। प्रसाद का यथार्थवाद असुन्दर, अभद्र और अश्लील को गौरव प्रदान नहीं करता; वह हीनता, पथभ्रष्टता और पतन का प्रचारक नहीं है। कंकाल के प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है कि "अब तक के उपन्यासों का उद्देश्य रहा है या तो मनोरंजन या उन आदर्श-चरित्रों को चित्रित करना जो समाज-द्वारा मनोनीत हुए हैं। किन्तु कंकाल दिखलाता है कि समाज जिन्हें अपने दुर्बल पैरों से ठुकरा देने की चेष्टा करता है, उनमें कितनी महत्ता छिपी रहने की संभावना है और आदर्श मानकर जिनका गुणगान करता है उनमें पतन भी हो सकता है।" इसी बात को इस प्रकार कहना संभवतः अधिक ठीक होगा कि 'कंकाल' का लक्ष्य उस मानवता का दिग्दर्शन कराना है, जिसमें देवत्व और असुरत्व दोनों का ही उदय संभव है, और किसी के भी उदय के लिए उत्तरदायी है नियति, प्राकृतिक और सामाजिक नियति—दैव और समाज के द्वारा निर्मित परिस्थितियाँ। असहाय और अबोध तारा के वेश्यालय में पहुँचने, अपनी रक्षा करने वाले को आत्म-समर्पण कर देने, आत्महत्या के प्रयत्न करके भिखारिन और दासी का जीवन अपनाने आदि में क्या वह स्वयं दोषी ठहराई जा सकती है। वह स्वयं कहती है कि 'मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा किया था और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया था। वस्तुतः यह सब भी तो हो ही रहा था परन्तु मंगल भाग निकला। मंगल भी क्या स्वयं दोषी है ? "समाज क्या कहेगा ? तारा दुराचारिणी की संतान है। वह वेश्या के

यहाँ रही फिर मेरे साथ भाग आयी। मुझसे अनुचित संबन्ध हुआ और अब वह गर्भवती है। मैं आज व्याह करके कई कुकर्मों से कलुषित संतान का पिता कहलाऊँगा।" समाज की इस लांछना से उसका भय 'कल्पित' नहीं था।

इसी प्रकार नियति के हाथों में कंकाल के सारे पात्र खेल रहे हैं। वैवाहिक जीवन के एक मात्र लक्ष्य संतान-प्राप्ति की सामाजिक मान्यता, देवनिरंजन तथा किशोरी के बाल-प्रेम में दैव का हाथ तथा श्रीचन्द्र का ईर्ष्याभिव और समाज-भय किशोरी के स्खलन, अनुताप तथा संताप के लिए परिस्थितियाँ उपस्थित करते हैं; जिनमें पड़कर वह अपने जीवन को जर्जर कर डालती है। जिस पुत्र का लालन-पालन ऐसी माता के पास हुआ है जो अपने पति से सदा दूर रहकर, एक अन्य व्यक्ति के साथ राधा-कृष्ण का अभिनय किया करती हुई एक व्यभिचारिणी का जीवन बिताती हो और तिस पर भी धर्म की झूठी दुहाई तथा थोथे आडंबर को स्वीकार करती हुई परंपरागत सदाचार के आदर्श का ढोंग भरती हो वह यदि 'विजय' की भाँति आचरण करे तो उसमें भला उसका क्या दोष ? क्या बालक उन संस्कारों से अपने को बचा सकता है जो ऐसी परिस्थितियाँ उसके मन पर डालता है। जब घंटी के प्रसंग को लेकर माँ ने कहा—"विजय, तुम कितने निर्लज्ज हो ? अपने अपराधों को समझ कर लज्जित क्यों नहीं होते ?" तो विजय ने किशोरी को देखा और कहा—"मैं अपने कामों पर हँसता हूँ, लज्जित नहीं होता। जिन्हें लज्जा बड़ी प्रिय हो वे उसे अपने कामों में खोजें।" इस कथन की तुलना विजय के इन शब्दों से कीजिए जो उसने देवनिरंजन से कहे—"धर्म के सेनापति विभीषिका उत्पन्न करके साधारण जनता से अपनी वृत्ति कमाते हैं और उन्हीं को गालियाँ भी सुनाते हैं। यह गुरडम कितने दिनों चलेगा ?" क्या इन उद्‌गारों में विजय की यह मानसिक ग्रंथि नहीं अभिव्यक्त हो रही है जिसकी जननी उक्त परिस्थितियाँ हैं ? इस बात की पुष्टि गाला के चरित्र से और भी होती है जो विजय की भाँति वर्णसंकर संतान होते हुए भी अपने माता-पिता को स्वाभाविक एवं स्वस्थ ताम्पत्य प्रेम में बँधा हुआ निरंतर देखती है तथा उसके फलस्वरूप एक सरल और सुन्दर चरित्र को अपने में विकसित करती है।

'कंकाल' के पात्र इस प्रकार अदृष्ट एवं अज्ञात नियति के हाथों में खेलते हुए भी कभी-कभी विचित्र स्वातंत्र्य को प्रकट करते देखे जाते हैं। संभवतः इसी बात को लेकर प्रेमचन्द जी ने घंटी के विषय में लिखा था—"घंटी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है, पर यथार्थ में सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है।" परन्तु वस्तुतः यह 'विरोधों का मेल' उन

परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है जो नारीत्व के आकर्षण, यौवन की उमंग तथा एक भरे-पेट भिखारी को मस्ती से उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार मंगल की सामाजिक कुरीतियों को लेकर सुधारवादिता और चारित्रिक विषयों में समाज-भीरुता आर्यसमाज के उस वातावरण से स्वतः ही प्रसूत हुई है जिसमें रह कर उसने अपना बचपन बिताया है। इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है।

प्रसाद जी की कृतियों में जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण और व्यापक अध्ययन का परिचय मिलता है। इसी कारण उनका यह उपन्यास विशेषरूप से यथार्थोन्मुख ही नहीं यथार्थवादी हुआ है। इसीलिए 'कंकाल' के प्रकाशन पर प्रेमचन्द ने संतोष प्रकट करते हुए लिखा था 'कंकाल' प्रसाद जी का पहला ही उपन्यास है, पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास हैं जो इसके सामने रखे जा सकें। मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीजें क्यों नहीं लिखते जिनमें वर्तमान समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझायी गई हों। ....शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है कि प्रसाद जी ने इस उपन्यास में समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है और खूब की है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था, पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं, अगर ऐसी भी दस-पाँच लताड़ों के बाद ऐसी सुन्दर वस्तु निकल आये, तो मैं आज भी उनको सहन करने को तैय्यार हूँ"

बहुत-से आलोचक 'कंकाल' को यथार्थवादी नहीं मानते। उनका कहना है कि —"जिस शैली का चित्रण 'कंकाल' में है उसे हम यथार्थोन्मुख कह सकते हैं, परन्तु वह सम्पूर्णतः यथार्थ है नहीं। .... 'रंगभूमि' की चित्रपटी और इस चित्रपटी में महान् अंतर है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द तटस्थ-चित्रण द्वारा चरित्र-निर्माण और आदर्शवाद को लेकर चलते हैं। उन्होंने समाज के गले-सड़े अंगों की ओर दृष्टिपात नहीं किया। उनकी कला यथार्थवादिनी है, परन्तु अपनी सीमाओं में 'प्रसाद' का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है। होना भी चाहिए। वह तटस्थ चित्रण में विश्वास नहीं करते।" कंकाल में 'तटस्थ-चित्रण' का अभाव देखन की भूल तो इस कथन में है ही, बड़ी भूल यह है कि प्रसाद जी की निम्न-लिखित व्याख्या की पूर्णतया अवहेलना की गयी है:—"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। ...इस यथार्थ-

वादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं" और यह मत प्रायः सर्वसम्मत है ।

अस्तु, यहाँ पर 'कंकाल' उपन्यास की आलोचना अभिप्रेत न होकर प्रसाद जी द्वारा की हुई समाज के 'कंकाल' की आलोचना तथा उस पर आश्रित उनके सामाजिक दर्शन की ओर संकेत ही अभीष्ट है ।

प्रसाद जी के सामाजिक दर्शन की प्रथम विशेषता उनके दृष्टिकोण में है जिससे वे सामाजिक समस्याओं को देखना चाहते है । 'कंकाल' उपन्यास में उनका सुझाव यह था कि भारतीय मानव की समस्याएँ हिन्दू, मुसलमान और ईसाई की भेदबुद्धि से नहीं, अपितु एक भारतीयता के दृष्टिकोण से ही सुलझ सकती है । इसी दृष्टि को उन्होंने उस उपन्यास में 'भारत-संघ' मूर्तिमान किया है । 'कामायनी' का सामाजिक दर्शन केवल भारतीय समाज के ही लिए नहीं, सारे विश्व-समाज के लिए है; अतः उसमें प्रसाद जी और आगे बढ़े और उन्होंने सुझाव रक्खा कि मानव की समस्याओं पर विचार करने के लिए न केवल हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि के तथाकथित धार्मिक दृष्टिभेद को छोड़ने की आवश्यकता है अपितु भारतीय, ईरानी, अरबी, इंगलिश, अमेरिकन आदि देश भेद पर आश्रित दृष्टि भेद को भी छोड़ने की आवश्यकता है; इसीलिए उन्होंने ऐसे नायक को चुना जो देश, धर्म आदि के भेद से रहित आदिमानव ही नहीं अपितु मानव-सामान्य भी है ।

इसलिए 'कामायनी' में जिस 'कंकाल' का अध्ययन है वह मानव-सामान्य के समाज का 'कंकाल' है। सर्वप्रथम हम उस समाज की इकाई नर-नारी (दम्पति) को लेते हैं । 'कामायनी' में यह अध्ययन श्रद्धा-मिलन से लेकर इडा-त्याग तक मिलता है । मानव-सामान्य (मनु) आज अर्थकामपरायण है और जहाँ तक स्त्री का संबंध है वह उसको एकाधिकार के साथ भोगना चाहता है; आज वह दानव उसके शरीर के लिए वासना का मुख फैलाये आँख मूँद कर तुला हुआ है । स्त्री, जिसको वह भोग्य बनाये हुए है आज दो प्रकार की है—एक[1] आत्मसमर्पणवादी जो 'दया, माया, ममता, . . मधुरिमा, अगाध विश्वास' सहित निज हृदय को सहज ही पुरुष को सौंप देती है, और दूसरी बुद्धिवादी जो पुरुष को हाथ की कठपुतली बनाकर नचाना चाहती है तथा दाम्पत्य जीवन को अवाञ्छित समझती है । पहली प्रकार की नारी का प्रतीक श्रद्धा है और दूसरी की इडा । प्रसाद जी की दृष्टि में आधुनिक विज्ञान एवं भौतिकता की उपज दूसरे प्रकार की नारी दाम्पत्य जीवन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है । अतएव उसका दाम्पत्य जीवन मनु के साथ तो नहीं ही हुआ, उसके पुत्र मानव के साथ भी उसका विवाह

१ दे० ऊपर पृ० ८६-८८

होना कामायनी में नहीं बतलाया गया। नारी का यह प्रकार सारा नारीत्व खो चुकने के कारण, केवल राजनीति या समाज-सेवा के भले ही काम का हो, परन्तु मातृत्व और पत्नीत्व के वह सर्वथा अयोग्य है। इसीलिए इडा केवल 'जनपदकल्याणी' है; नारी है, राजा की पत्नी नहीं।

नारी का आत्मसमर्पणवादी प्रकार दाम्पत्य जीवन (मातृत्व और पत्नीत्व) के उपयुक्त हो सकता है, परन्तु उसकी सफलता पुरुष के दृष्टिकोण पर अवलंबित है। श्रद्धा और मनु का दाम्पत्य जीवन असफल होता है तो केवल मनु की भूल से, जिसका अनुभव अंत में वह स्वयं करता है और कहता है :—

किन्तु अधम मैं समझ न पाया
उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ,
हर्ष शोक की छाया को।

* * *

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे,
जो तुम देना चाह रही;
क्षुद्र पात्र! तुम उसमें कितनी,
मधु धारा हो डाल रही।

यह भूल वही दूषित दृष्टिकोण है जिसका चित्रण उन फटकार-भरे शब्दों में देखा जा सकता है जो काम ने मनु से श्रद्धा-त्याग के बाद कहे :—

मनु! तुम श्रद्धा को गये भूल।
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने तो समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल;
जो क्षण बीते सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान
वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान;
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की;
समरसता है संबन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की;

* * *

मनु! उसने तो कर दिया दान।
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान
जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान।
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके
"कुछ मेरा हो" यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान।
मानस जल-निधि का क्षुद्र यान।

इसी दूषित दृष्टिकोण के फलस्वरूप न केवल किशोरी, यमुना, घंटी, राजो, बंजो आदि नारियों, विजय, मंगल, देवनिरंजन आदि नरों तथा श्रीचन्द्र-किशोरी जैसी समाज की इकाइयों (नर-नारी) का 'कंकाल' बन जाता है, अपितु सारे समाज का भी। परन्तु प्रश्न यह है कि, क्या जैसा कि आज नवमतवाद मानता है, यह दृष्टिकोण अपरिहार्य नहीं है ? क्या यह नर और नारी के पारस्परिक संबंध में स्वाभाविकता नहीं है ? प्रसाद जी इसका उत्तर 'नहीं' में देते हैं।

वस्तुतः नारी-रूप के, जैसा कि 'गीतों की विभूति' में देख चुके है, साधारणतया दो पक्ष कहे जा सकते हैं—एक रमणीत्व और दूसरा मातृत्व । रमणी रूप में नारी षोडश शृंगार, आकर्षणमय वस्त्राभूषण तथा मादक सौरभ की अपेक्षा रखती है और संगीत, नृत्य एवं अभिनय से अपने रमणीत्व की वृद्धि करती है। रमणीरूप का चित्रण करते हुए, कामायनी में इन सभी उपकरणों को जुटाया गया है:—

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार;
मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वरलय का होता अभिसार ।
सौरभ से दिगंत पूरित था
अंतरिक्ष आलोक-अधीर;
सब में एक अचेतन गति थी,
जिससे पिछड़ा रहे समीर !
वह अनंग पीड़ा अनुभव सा
अंग-भंगियों का नर्त्तन;
मधुकर के मरंद-उत्सव सा
मदिर-भाव से आवर्तन ।
सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग ।

रमणी-रूप के उपयोग का अवसान होता है चुंबन, आलिंगन, वासना और विलास में, जो कल्याण की ओर न जाकर प्रलय की ओर अग्रसर होता है :—

भरी वासना-सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय-जलधि में संगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह ।

इस रूप के उपासकों को कामायनी में 'वासना के प्रतिनिधि' कहा गया है, जो 'अपनी ज्वाला से' जल कर विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। प्रसाद जी के अनुसार जलप्लावन से होने वाला महाविध्वंस इसी वासनोपासना का परिणाम था, रमणी को भोग्ययंत्र मान लेने का फल था।

अतः रमणी-रूप के स्थान पर नारी का मातृ-रूप अधिक श्लाघ्य और स्तुत्य माना गया है। मातृ-रूप में त्याग है, सेवा है और है निश्छल प्रेम। उसमें रमणी की चाह या प्रतिदान की लिप्सा नहीं होती और न होती है स्वार्थ की गंध। मातृ-रूप में नारी का सिर हिमालय से भी ऊँचा है ; उसका चित्रण करते हुए प्रसाद जी कहते हैं :—

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर;

* *

मनु ने देखा कितना विचित्र
वह मातृ-मूर्त्ति थी विश्व-मित्र।
बोले "रमणी तुम नहीं आह !
जिसके मन में हो भरी चाह;
तुमने अपना सब कुछ खोकर,
वंचिते ! जिसे पाया रोकर;
मैं भगा प्राण जिनसे लेकर
उसको भी, उन सब को देकर;

नर की नारीत्वोपासना का चरम लक्ष्य है इसी मातृत्व की खोज, और यह मातृत्व नारी-मात्र में देखा जा सकता है। इसीलिये भारतीय संस्कृति 'स्त्रियः समस्यताः तव देवि ! भेदाः !' कहकर कन्या पूजन का विधान करके रमणीत्व पर मातृत्व की विजय स्थापित करने का प्रयत्न करती है। गांधी जी तो 'ब्रह्मचर्य' पर लिखते हुये, स्वभार्या में भी मातृत्व की उपासना करने का उपदेश करते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने तो अपनी नवोढ़ा पत्नी की भी 'मातृ-रूप' में पूजा की थी। कामायनी के मनु की भी जब आँखें खुलती हैं, तो वह श्रद्धा के मातृरूप के सामने नतमस्तक हो जाता है :—

"तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार;
हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;

कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में हो रहती;
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी सा ही वह लघु विचार।

मानव-सामान्य (मनु) जब नारी के इस रूप को पहचानता है, तभी वह नारीत्व को वस्तुतः समझ पाता है और उसको पथप्रदर्शिका बनाकर जीवन के चिरसाध्य आनन्द को प्राप्त कर पाता है। दाम्पत्य-जीवन में भी, जब पति अपनी पत्नी में केवल रमणीरूप ही न देख कर इस दूसरे रूप की खोज भी करे तो नर-नारी की समरसता स्थापित हो सकती है और गृहस्थ जीवन स्वर्ग बन सकता है, नर-नारी तथा नर और नारी का 'कंकाल' सप्राण हो सकता है और समाज की सजीवता का सूत्रपात कर सकता है।

समाज की इकाई (नर-नारी) के 'कंकाल' की परीक्षा के पश्चात्, समाज के कंकाल की परीक्षा की जा सकती है। आज मानव-समाज में ईर्ष्या-द्वेष, युद्ध, रक्तपात, अशान्ति तथा जनसंख्या-वृद्धि सबसे बड़े शत्रु हैं; इन्हीं के कारण समाज 'कंकाल' मात्र रह गया है। शत्रुओं में से जनसंख्या का संबंध नर-नारी संबंध से है। कामायनीकार के अनुसार, नर-नारी सम्बन्ध में रमणी-रूप तथा मातृ-रूप दोनों की उपासना के समन्वय से, जनसंख्या के प्रश्न को भी हल किया जा सकता है। गांधी जी भी गृहस्थ नर-नारियों के लिये यही रास्ता बतलाते थे। उन्होंने न केवल इस को 'कथनी' रूप में ही प्रकट किया, अपितु अपने जीवन में ही 'करनी' में भी। अतः जनसंख्या-वृद्धि क एकमात्र स्वस्थ और सुन्दर उपाय है कि नारी के सौन्दर्य का उपयोग वासना के मुख से न करके प्रेम के सुख से करें। वासना का मुख फैलने से संकुचित स्वार्थबुद्धि आती है और 'कुछ मेरा हो' की तृष्णा बढ़कर न केवल दाम्पत्य जीवन को नरक बना देती है, अपितु जनसंख्या वृद्धि करके समाज में भुखमरी एवं बेकारी के बढ़ाने में योग देती है।

वासना के मुख का विस्तार होने से ही कामायनी के अनुसार, *समाज में स्वार्थनिष्ठ अर्थपरायणता बढ़ कर ईर्ष्या-द्वेष, युद्ध-रक्तपात और अशान्ति को जन्म नये-नये धर्मभेद वर्गभेद, और वर्ण (रंग) भेद द्वारा देती है। अतः इन तीनों भेदों की चिकित्सा यही है कि स्वार्थनिष्ठ अर्थपरायणता का अंत हो। इसीलिये प्रसाद जी कहते हैं कि मानव-सामान्य (मनु) की समस्याओं का विचार करो, न कि काले, पीले और गोरों की या पूंजीपति, मजदूर और किसान की या हिन्दू, मुसलमान और ईसाई की। इसके लिये प्रसाद जी के अनुसार, वर्ग-

* दे० कामायनी १७१; २; १७२, १, १७३, १-३; १७४; १-२

भेद को सबसे अधिक उत्तेजना देने वाला है विज्ञान और यंत्र (Machine) जिसकी निन्दा सारस्वत की प्रजा के शब्दों में बहुत कुछ की जा सकती है:—

तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला।
लोभ सिखाकर इस विचार संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख
प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी :
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

इसलिये आवश्यकता है छोटे-छोटे घरेलू उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने की और कृषि को अपनाने की। इसी का संकेत श्रद्धा के तकली कातने तथा बीज बीनने आदि में मिलता है।

सामाजिक जीवन से, लिप्सा और स्वार्थ के स्थान पर त्याग और आवश्यकताओं की कमी आती है ; ईर्ष्या द्वेष तथा रंग, वर्ग, लिग तथा धर्म के भेद-भाव के स्थान पर समरसता आती है—यही तो सच्चा धर्म है। प्रसाद चाहते हैं कि हम भोग भोगें, सामग्रियों और सेवाओं का उत्पादन करें, परन्तु उन सबका आधार यही धर्म हो—यंत्र प्रधान नही, कृषि प्रधान धर्म। इसी लिये 'आनन्द' सर्ग में कृषि के प्रतीक वृषभ को धर्म का प्रतिनिधि बनाकर उसके ऊपर सोमलता को रक्खा है जो भोग और सुख की प्रतीक है। प्रसाद जी इस धर्म को संभवतः मानवसामान्य का धर्म समझते थे—धर्म जो कि ईसाई, हिन्दु, मुस्लिम आदि विशेषणों से मुक्त हो ; इस प्रकार मुक्त होने पर ही वह सुख-स्रोत बन सकता है। इसी अभिप्राय से उन्होंने कामायनी में लिखा है कि :—

सारस्वत नगर निवासी
हम आये यात्रा करने,
यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
पीयूष सलिल से भरने।
इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
उत्सर्ग करेंगे जाकर;
चिर मुक्त रहे यह निर्भय
स्वच्छन्द सदा सुख पाकर।

यह है, संक्षेप मे, एक रूपरेखा उस क्राति की जो प्रसाद जी समाज में लाना चाहते है। यह एक दार्शनिक क्रांति है, जिसको उन्होंने अपने गीतों में सुन्दर-मधुर मानस-लहरियों द्वारा संपन्न करने का सुझाव रक्खा है। यह लहरियाँ

वस्तुत: प्रेम, करुणा, और उल्लास की धारायें हैं; मन वचन और कर्म के सौन्दर्य की धारायें है ; आनन्द-लहरी की शाखायें है ।

कामायनी के अनुसार, इस क्रांति का नेतृत्व स्त्री ही कर सकती है; क्योंकि इस काम के लिये आवश्यक सहानुभूति, सरसता, सहृदयता, उदारता त्याग और तितीक्षा आदि के गुण आज स्त्री ही में अधिक विद्यमान हैं; प्रसाद के आदर्श स्त्री पात्र इसके प्रमाण है । 'कंकाल' में नर (विजय) के 'कंकाल' की अंतिम सहायता नारियों के द्वारा करवाने में भी यही संकेत है । अतएव 'इरावती' उपन्यास मे संगीत एवं कला के द्वारा आनन्दवादी आदर्श को स्थापित करने का नेतृत्व एक नारी के हाथ में है—एक नर्तकी के हाथ में है । 'तितली' में मानों 'गाँव की ओर' आंदोलन का नेतृत्व एक विदेशी महिला शैला कर रही है। 'कंकाल' के भारत संघ मे भी कार्य करने वाली प्राय: स्त्रियाँ हैं । नाटको में देवसेना, मल्लिका आदि नारियाँ करुणा, ममता तथा वासना-विहीन प्रेम एवं त्याग का संदेश दे रही हैं । कहानियों में, यही काम ममता, सालवती, चूड़ीवाली, चम्पा आदि अनेक स्त्रियों द्वारा हो रहा है । कामायनी में इन सब प्रकार के नेतृत्वों का समावेश श्रद्धा मे हो रहा है । वह न केवल भौतिकवादी सुखवाद एवं बुद्धिवाद में फँसे हुये मनु को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करती है, अपितु कोरे निवृतिमार्ग मे लगे मनु को 'तप नही जीवन केवल 'सत्य' कहकर कर्मयोग का, तकली आदि द्वारा कुटीर-उद्योगों का, यज्ञ में पशु-हिसा के स्थान पर अहिसा और प्रेम का तथा इडा के पथ-भ्रष्ट बुद्धिवाद को मानव के रूप में श्रद्धामय सहयोग देकर राजनीति में समरसतावाद का संदेश देती है ।

विश्व-साहित्य में कामायनी

(१) आदि मानव या मानव–सामान्य

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि मनु आदि मानव या मानव-सामान्य है जिसके परिवर्तन का 'सनातन इतिहास' कामायनी में है। मनु के इसी परिवर्तन को 'मन्वन्तर' संज्ञा दी गई है । आदि मनुष्य की समस्या को समझने के लिये मन्वन्तर का रहस्य जानना आवश्यक है ।

(क) मन्वन्तर

लोकों और युगों के समान भारतीय विकासवाद में मन्वन्तरों की कल्पना भी है । प्रत्येक मन्वन्तर का स्वामी एक मनु होता है; जिसके नाम पर ही

मन्वन्तर का नामकरण होता है[1] प्रत्येक मन्वन्तर मे देवगण[2], सप्तर्षि और मनुपुत्र पृथक होते है और प्रत्येक मन्वन्तर मे विष्णु अवतार भी भिन्न होता है[3]। हर मन्वन्तर का इन्द्र बदलता रहता है । कुल मन्वन्तरो की संख्या १४ है; मन्वन्तरो की कल्पना को समझने के लिये सभी मन्वन्तरो का सक्षिप्त परिचय कर लेना आवश्यक है । अतः प्रत्येक का विवरण अलग-अलग दिया जाता है :—

(१)

मनु:—स्वायंभु मनु (ब्रह्मा के पुत्र)
पुत्र.—प्रियव्रत और उत्तानपाद ।
पुत्रियाँ:—आकूति देवहूति, तथा प्रसूति ।
देवगण :—रुद्रादि (?)
सप्तेर्षि :—नारदादि (?)
इन्द्र :—(१)
अवतार :—कर्दम की पत्नी देवहूति से 'कपिल'
कर्म :—सृष्टि-विस्तार तथा वर्णाश्रम धर्म

(२)

मनु :—स्वारोचिष मनु (अग्नि के पुत्र)
पुत्र :—द्युमान्, सुषेण, रोचिष्मान् ।
देवगण :—तुषित
सप्तर्षि :—ऊर्ज, स्तम्भ, आदि वेदवादी गण
इन्द्र :—रोचन
अवतार :—विभु (वेदशिरा ऋषि की पत्नी तुषिता के गर्भ से)
कर्म :—विभु भगवान् आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे ।

(३)

मनु :उत्तर (प्रियव्रत के पुत्र)
पुत्र :—पवन, सृन्जय, यज्ञहोत्र आदि ।
देवगण :—सत्य, वेदश्रुत तथा भद्र ।
सप्तर्षि :—वसिष्ठपुत्र प्रमदादि ।
इन्द्र :—सत्यजित ।

---

१ प० पु० २६, ३०; ६३, ९-१२
२ वा० पु० ६६, ६४-५
३ वा० पु० १००, १० अनु०
४ वा० पु० ६६, १२८, १३५,

अवतार :—धर्म की पत्नी सूनृता के गर्भ से सत्यसेन ।

कर्म :—सत्यजित इन्द्र के सखा बनकर भगवान् ने यक्षों, राक्षसों और भूतो का सहार किया ।

(४)

मनु :—तामस (उत्तम के भाई)

पुत्र :—ख्याति, नर, केत, आदि ।

देवगण :—सत्यक हरि वीर आदि ।

इन्द्र :—त्रिशिख ।

सप्तर्षि :—वैधृति जिन्होने नष्टप्राय वेदों को बचाया ।

अवतार :—हरिमेध ऋषि-पत्नी हरिणी के गर्भ से 'हरि' ।

कर्म :—गजेन्द्र-मोक्ष ।

(५)

मनु :—रेवत (तामस के सहोदर)

पुत्र :—अर्जुन, बलि, विन्ध्य ।

देवगण :—भूतिरय आदि ।

सप्तर्षि :—हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु आदि ।

इन्द्र :—विभु

अवतार :—शुभ्रपत्नी विकुण्ठा से बैकुण्ठ भगवान्

कर्म :—बैकुण्ठ लोक की सृष्टि ।

(६)

मनु :—चाक्षुष (चक्षु के पुत्र)

पुत्र :—पुरु पुरुष सुषुम्न आदि ।

देवगण :—आप्य आदि ।

सप्तर्षि :—हविष्यमान, वीरक आदि ।

इन्द्र :—मन्त्रद्रुम

अवतार :—वैराज्य पत्नी सम्भूति से 'अजित' भगवान्

कर्म :—समुद्र-मन्थन, कच्छपरूप मे मन्दराचल-धारण ।

(७)

मनु :—विवस्वत पुत्र श्राद्धदेव मनु

पुत्र :—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूष, पृषध्र, वसुमान् ।

देवगण :—आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेवा, मरुद्गण, अश्विनौ, ऋभवः ।

सप्तर्षि :—कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज ।

इन्द्र :—पुरंदर

अवतार :—कश्यप-पत्नी अदिति के गर्भ से वामन भगवान् ।

कर्म :—बलि-बन्धन

(८)

मनु :—सावर्णि (विवस्वान् और छाया के पुत्र)

पुत्र :—निर्मोक, विरजस्क

देवगण :—सुतपा, विरज, अमृतप्रभ ।

सप्तर्षि :—गालब, दीप्तिमान, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्य-शृंग और व्यास ।

इन्द्र :—विरोचन पुत्र बलि ।

अवतार :—देवगुप्त की पत्नी सरस्वती के गर्भ से सार्वभौम भगवान् ।

कर्म :—पुरंदर इन्द्र से स्वर्ग का राज्य छीनकर राजा बलि को देना

(९)

मनु :—दक्ष सावर्णि (वरुण के पुत्र)

पुत्र :—भूतकेतु, दीप्तकेतु ।

देवगण:—पार, मरीचि गर्भ आदि ।

इन्द्र :—अद्भुत ।

आवतार :—आयुष्मान् की पत्नी अम्बुधारा के गर्भ से ऋषभ का कलावतार ।

कर्म :—इन्द्र को त्रिलोकीदान ।

(१०)

मनु :—उपश्लोक के पुत्र ब्रह्म सावर्णि ।

पुत्र :—भूरिषेण आदि :

देवगण :—सुवासन, विरुद्ध आदि

सप्तर्षि :—हविष्मान् सुकृति, सत्य, नय, मूर्ति आदि ।

इन्द्र :—शम्भु ।

अवतार :—विश्वसृज की पत्नी विषूची के गर्भ से विष्वक्सेन का अंशावतार

कर्म :—शम्भु नामक इन्द्र से मैत्री ।

(११)

मनु :—धर्म सावर्णि (अति सयमी)

पुत्र :—सत्य, धर्म आदि ।

देवगण :—विहगम कामगम निर्वाणरुचि आदि ।
सप्तर्षि :—अरुण आदि ।
इन्द्र :—वैधृत ।
अवतार :—आर्यक की पत्नी वैधृता के गर्भ से धर्मसेतु का अंशावतार।
कर्म :—त्रिलोकी की रक्षा

(१२)

मनु :—रुद्र सावर्णि ।
पुत्र :—देववान्, उपदेव, देवश्रेष्ठ आदि
देवगण :—हरित आदि ।
सप्तर्षि :—तपोमूर्ति, तपस्वी, आग्नीध्रक आदि ।
इन्द्र :—ऋतधामा ।
अवतार :—सत्यसहा की पत्नी से स्वधामा का अंशावतार ।
कर्म :—मन्वन्तर का पालन ।

(१३)

मनु :—देव सावर्णि ।
पुत्र :—चित्रसेन, विचित्र आदि ।
देवगण :—सुकर्म, सुत्राम आदि ।
सप्तर्षि :—निर्मोक, तत्त्वदशा अदि ।
इन्द्र :—दिवस्पति ।
अवतार :—देवहोत्र की पत्नी बृहती से योगेश्वर का अंशावतार
कर्म :—दिवस्पति को इन्द्रपद देना ।

(१४)

मनु :—इन्द्र सावर्णि
पुत्र :—उरु, गम्भीरबुद्धि आदि ।
देवगण :—पवित्र, चाक्षुप आदि ।
सप्तर्षि :—अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध और मागध ।
इन्द्र :—शुचि ।
अवतार :—सत्रायण की विताना के गर्भ से बृहद्भानु ।
कर्म :—कर्मकाण्ड का विस्तार ।

मन्वन्तरों का रहस्य

मन्वन्तरों के उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से उनके रहस्य का कोई विशेष पता नहीं चलता । परन्तु यत्र-तत्र पुराण और वैदिक साहित्य में ऐसे उल्लेख आते

हैं जिसकी सहायता से इन संक्षिप्त वर्णनों का भी कुछ स्पष्टीकरण होता है। भागवतपुराण में शुकदेवजी परीक्षित से कहते हैं—"परीक्षित ! मनु, मनुपुत्र सप्तर्षि, और देवता—सब को नियुक्त करने वाले स्वयं भगवान् ही हैं। राजन् ! भगवान् के जिन यज्ञ-पुरुष आदि अवतार-शरीरों का वर्णन मैंने किया है, उन्हीं की प्रेरणा से मनु आदि विश्व-व्यवस्था का संचालन करते हैं। चतुर्युगी के अन्त में समय के उलट-फेर से जब श्रुतियाँ नष्टप्राय हो जाती हैं, तब सप्तर्षिगण अपनी तपस्या से पुनः उनका साक्षात्कार करते हैं, जिनसे सनातन धर्म चलता है। भगवान की प्रेरणा से अपने-अपने मन्वन्तरों में बड़ी सावधानी से सब के सब मनु पृथ्वी पर चारों चरण से परिपूर्ण धर्म का अनुष्ठान कराते हैं। मनु पुत्र मन्वन्तर भर काल और देश का विभाग करके प्रजापालन तथा धर्मपालन का कार्य करते हैं। पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मों में जिन ऋषि पितर, भूत और मनुष्य आदि का सम्बन्ध है उनके साथ देवता उस मन्वन्तर में यज्ञ का भाग स्वीकार करते हैं। इन्द्र भगवान् द्वारा दी हुई त्रिलोकी की अतुल सम्पत्ति भगवान् युग-युग में सनक आदि सिद्धों का रूप धारण करके ज्ञान का, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों का रूप धारण करके कर्म का और दत्तात्रेय आदि योगेश्वरों के रूप में योग का उपदेश करते हैं। वे मरीचि आदि प्रजापतियों के रूप में सृष्टि का विस्तार करते हैं, स्वराट् के रूप में लुटेरों का वध करते हैं और विभिन्न गुणों का धारण करके काल रूप से सब का संहार करते हैं।" (भा० पु० ८, १४, १-१०)।

इस वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि मन्वन्तरों द्वारा परिवर्तनशील विश्व-व्यवस्था अथवा समाज-व्यवस्था की कल्पना गई है, जिसमें मनु प्रमुख संचालक हैं, मनुपुत्र सह-व्यवस्थापक हैं; ऋषिगण श्रुति-साक्षात्कारक हैं, देवता यज्ञ-भाग लेने वाले हैं, इन्द्र ऐश्वर्य का भोक्ता, त्रिलोकी का पालक तथा कामनाओं की वृष्टि करने वाला है ; और भगवान् के अवतार ज्ञान, कर्म या योग का उपदेश करने वाले हैं। यद्यपि यहाँ ये सब प्रभू (ब्रह्मा) की प्रेरणा से कर्म करने वाले कहे गये हैं, परन्तु अन्यन्त्र मनु के विषय में कहा गया है :—

नूनं चंक्रमणे देव सता संरक्षणाय ते ।
बधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥
योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्म प्रचेतसाम् ।
रूपाणियान् आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥

"देव आप भगवान् विष्णु की पालनशक्ति हैं ; इसलिये आपका घूमना-फिरना निःसन्देह सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिये ही होता है। आप स्थान-स्थान पर सूर्य, चन्द्र-अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि

रूप धारण करने वाले शुक्ल हैं, आपको नमस्कार है।" इससे प्रतीत होता है कि मनु स्वयं विष्णु (शुक्ल) हैं अथवा उनकी वह पालिनी-शक्ति हैं, जिसमें पिंडाण्ड और ब्रह्माण्ड की, व्यष्टि और समष्टि की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों का समवेत एवं संयुक्त रूप विद्यमान है और जो स्वयं चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि उक्त शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। अतएव प्रत्येक मन्वन्तर में मनु को समष्टिगत नारायण की पालिनी मनीषा का प्रतीक माना जा सकता है; यही समाज की क्षत्र* शक्ति है जो सारे समाज में विभक्त होकर विद्या, दान, तथा सत्य रूपों में धर्म के चारों पदों का पालन करने वाले मनुपुत्र कहे गये हैं। यही मनीषा समाज के ज्ञान के रूप में चिरनवीन होकर अभिव्यक्त होती रहती है; इसी से समाज-धर्म की स्थापना और रक्षा होती है इस अभिव्यक्ति के प्रतीक ही सप्तर्षि है, जो प्रत्येक मन्वन्तरों में नष्टप्राय श्रुतियों का उद्धार करने वाले कहे गये हैं। समाज की नाना क्रियाओं के रूप में जो महान् श्रमयज्ञ चल रहा है उसका प्रमुख करता यही मनु हैं, समाज की मनीषा है जिसके प्रमुख सहायक सप्त-विध ज्ञानशक्ति के प्रतीक सप्तर्षि हैं। देवगण समाज के भोक्तारूप के द्योतक हैं; समाज के सारे क्रिया--यज्ञ में भाग लेने वाली सामाजिक शक्तियाँ ही देवता हैं। दूसरे रूप में यही शक्तियाँ समाज का बल हैं जिनका प्रतीक देवपति इन्द्र है जो रक्षा-भार ग्रहण करता है। ये सब शक्तियाँ समाज की परंपरागत व्यवस्था की ही रक्षा कर सकती हैं, परन्तु प्रत्येक मन्वन्तर को विशेषता देने वाला विष्णु-अवतार है जो ज्ञान, कर्म, योग आदि का प्रचार करते हुये समय के अनुकूल इन्द्र आदि की नियुक्ति करता है। अतः 'अवतार' सामाजिक क्रांति का प्रतीक है। परन्तु, वस्तुतः ये सब देव, मनु, सप्तर्षि मनुपुत्र और इन्द्र, सब-के-सब विष्णु भगवान् की ही विभूतियाँ हैं :—

सर्वे च देवा मनवस्समस्ता—
स्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च

---

*तु क० मनु का कथन कर्दम के प्रतिः—

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मदरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पात् ॥
तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोः सहस्रत्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमंगं प्रचक्षते ॥
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥

इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥
(वि० पु० ३, ७, ४६)

क्योंकि सारे मन्वन्तरों में देवरूप से स्थित विष्णु की अनुपम और सत्त्व-प्रधाना शक्ति ही संसार की स्थिति का कारण है*। पुराणों में कहा गया है कि संसार में नित्य-प्रलय, नित्य-सृष्टि और नित्य-स्थिति क्रमशः रुद्रों, प्रजापतियों तथा मनु आदि विष्णु रूपों द्वारा होती है (वि० पु० १,७,३६-३८) अहर्निशि निरन्तर रूप से होने वाले प्रलय, सृष्टि और स्थिति (पालन) के व्यापारों को ही नित्य कहा जाता है (वि० पु० १, ७, ३९-४७) और यह क्रिया समाजशास्त्रीय दृष्टि से समष्टिगत नारायण की शक्ति (जो मनीषा, चेतना, दक्षता आदि अनेक नामों से पुकारी जाती है) के द्वारा ही संपादित होना हुआ कहा जा सकता है। इसीलिये मनु-पुत्री आकूति तथा प्रसूति और उन दोनों की संतानें यही आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियाँ हैं जिन पर समाज का सारा व्यापार अवलंबित है—प्रसूति की पुत्रियों के नाम श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि हैं, जिनके पति धर्म हैं। इनके अतिरिक्त ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, सन्तति, अनसूया ऊर्जा ; स्वाहा और भी प्रसूति की कन्याएँ हैं। श्रद्धा का पुत्र काम, लक्ष्मी का दर्प ; धृति का नियम; तुष्टि का सन्तोष ; पुष्टि का लोभ, मेधा का श्रुत; क्रिया के दण्ड, नय और विनय और व्यवसाय; शान्ति का क्षेम, सिद्धि का सुख ; कीर्ति का यश और रति का हर्ष है। आकूति के यज्ञ और दक्षिणा हैं जिनसे उत्पन्न होने वाले याम देव सम्भवतः समाज की संयमन और नियमन शक्तियों के प्रतीक हैं।
(वि० पु० १, ७, २०-३१)

इस वर्णन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि मन्वन्तरों के मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि और इन्द्र आदि वस्तुतः समाज में निरन्तर होने वाले व्यपारों की आधारभूत शक्तियाँ है। अतएव जिस प्रकार एक मत के अनुसार सत्त्व, रज, तम गुणों के प्राधान्य से चतुर्युगों की स्थिति निरंतर मानी गई है, उसी प्रकार मन्वन्तरों की स्थिति के विषय में भी कोई मत प्रतिपादित हुआ प्रतीत होता है। अतएव मन्वन्तरों तथा युगों के प्रचलित काल-परिमाण संभवतः इन शब्दों के ज्योतिषशास्त्र के सम्पर्क में कल्पित कर लिए गये। वस्तुतः समाज-शास्त्रीय

---

*विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता।
मनवन्तरेष्वशेषु देवत्वेनाधितिष्ठति
(वि० पु० ३, १, ३५)

मन्वन्तरों और युगों के किसी निश्चित काल परिमाण की कल्पना रही प्रतीत होती है ।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि मन्वन्तर मूलतः कालपरिमाण के बोधक नहीं हैं, तो मन्वन्तर-भेद का क्या अभिप्राय है । इस विषय में ध्यान देने की एक बात है कि प्रथम सात मन्वन्तरों के मनु स्वयंभु (ब्रह्मा) के पुत्र स्वांभुव के वंशधर[1] है और द्वितीय सात मन्वन्तरों के मनुओं के नाम में सदैव 'सावर्णि' लगा रहता है[2] 'शिव पुराण के अनुसार सूर्य की पत्नी संज्ञा तथा उसकी 'छाया' से क्रमशः यम, यमी, और अश्विनौ के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न दो मनुओं का जन्म हुआ, जिनमें स दूसरे मनु का नाम 'सावर्णि' हुआ[3] । अन्यत्र पुराणों में संज्ञा- और छाया को ब्रह्मा या विवस्वान की पत्नियाँ भी कहा गया है ; और वृहद्दे वता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में विवस्वान अपनी दो पत्नियों सरण्यू तथा सवर्णा (जो पहली की 'छाया' कही गई) से यम-यमी, मनु तथा अश्विनौ उत्पन्न करते है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'छाया' का ही दूसरा नाम सवर्णा भी था, जिसके कारण ही दूसरा मनु सावर्णि[4] हुआ । अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचने के पर्याप्त कारण हैं कि चौदह मन्वन्तरों में वस्तुतः चौदह मनु न होकर केवल दो ही मनु थे जिनमे पहला विवस्वान स्वयंभू या सूर्य की असली स्त्री का पुत्र था और दूसरा उनकी 'छाया' का । इसी बात को सम्भवतः आधुनिक भाषा में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सूर्य के प्रकाश और छाया की भाँति 'मनु' जिस 'मनीपा' का प्रतीक है उसके भी धनात्मक तथा ऋणात्मक दो रूप हैं । इन्हीं दो रूपों को भारतीय संस्कृति में देवत्व तथा असुरत्व द्वारा भी व्यक्त किया गया है । और आश्चर्य की बात यह है कि 'सावर्णि' मनु को मन्वन्तर में असुरराज 'बलि' को इन्द्र बनाया जाता है ।

इसी कल्पना को पुराणों में दल (अयवा कहीं-कहीं ब्रह्मा) के पुत्रद्वय धर्म तथा अधर्म एवं उनकी सन्तानों द्वारा दुहराया गया है । धर्म ने अपनी श्रद्धा आदि पत्नियों से काम आदि पुत्र उत्पन्न किये उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है । अधर्म अपनी स्त्री हिंसा से अनृत तथा निकृति को जन्म देता है जिनके सयोग से भय और नरक उत्पन्न अपनी बहनों माया तथा वेदना से मृत्यु, रौरव, दुःख, व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा क्रोध आदि को उत्पन्न करते हैं । इससे स्पष्ट

---

१ शि० पु० ३, १, २४-३४ ।

२ शि० पु० ३, २, १-४० ।

३ शि० पु० ३, २, ३-१३ ।

४ तु० क० Pauranic Chronology पृष्ठ २३—२४

है कि देव और असुर की भाँति धर्म और अधर्म क्रमशः सामाजिक व्यवहार के प्रिय तथा अप्रिय, धारक तथा घातक, सुगतिमय तथा कुगतिमय पक्षों के द्योतक हैं। इसलिए भागवत पुराण में लिखा है कि सृष्टि के लिए धर्म, यज्ञ, मनु तथा देवों के रूप में और प्रलय के लिये अधर्म रुद्र, मन्युवश, असुर आदि के रूप में माया विभूतियाँ प्रकट होती हैं :—

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः ।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या,
माया विभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः ।।
(२, ७, ३९)

यहाँ विचारणीय बात है कि धर्म का सम्बन्ध मनु से है जो निसन्देह प्रथम सात मन्वन्तरों में सर्वोपरि है ; अधर्म का सम्बन्ध रुद्र और असुरों से है जो द्वितीय सात मन्वन्तरों में रुद्र सावर्णि तथा बलि के नामों में विद्यमान है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मन्वन्तरों के दो सप्तक क्रमशः धर्म और अधर्म या सुगति और कुगति की प्रगति के द्योतक हैं। जैन साहित्य में प्रथम सात मनुओं (जिन्हे वहाँ कुलकर कहा गया है) को उत्सर्पिणी तथा दूसरे सात को अवसर्पिणी के अन्तर्गत रखकर संभवतः इसी कल्पना की पुनरुक्ति की गई है। यहाँ याद• रखने की बात यह है कि ज्योतिष ग्रंथों में चौदह मन्वन्तरों को भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त किया गया है।

परन्तु प्रकाश और छाया, उष्ण और शीत, देव और असुर, प्रिय और अप्रिय, की भाँति धर्म और अधर्म सापेक्षिक है और वस्तुतः दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। इन दोनों सापेक्षिक कल्पनाओं के द्वन्द्व-निरपेक्ष रूप की कल्पना पुराणों में 'सद्धर्म' के रूप में की है।

वस्तुतः 'सद्धर्म' के दो सापेक्षिक रूप, धनात्मक तथा ऋणात्मक, धर्म और अधर्म की प्रगति ही चौदह मन्वन्तरों मे दिखाई गई है ; इसीलिये भावतपुराण मन्वन्तरों को 'सद्धर्म' (मन्वन्तराणि सद्धर्म २,१०,१४) कहा गया है। अतः एक दृष्टि से मन्वन्तर को 'एक' ही कहा जा सकता है, क्योंकि सभी मन्वन्तरों का विषय एक सद्धर्म ही तो है परन्तु दूसरी दृष्टि से मन्वन्तर की द्विविध कल्पना की जा सकती है, क्योंकि सद्धर्म के दो रूप है, धर्म और अधर्म। संभवतः प्रथम दृष्टि से ही वेद में मनु 'एक' है और दूसरी दृष्टि से पुराणों की भाँति ही दो भी, यद्यपि वहाँ उनके नाम 'आप्सव' तथा 'सावर्ण हैं (ऋ० वे० ९, १०१, १०–१३, १०९,७९), जिनका अर्थ अवर्ण (आप की भाँति) और सवर्ण (रंगा

हुआ) किया जा सकता है। इस दो मनुओं को दो सप्तकों में विभाजित करने वाली पौराणिक दृष्टि भी संभवतः वेदों के उन द्विविध 'मनवः' में मिल सकती है जिनमें से एक तो 'धी' द्वारा पवित्र करने वाले कहे गये हैं और दूसरे 'हिरण्य सुवर्ण' से सम्बन्ध रखते है (अ० व० ६, १९, १; १९, २६,२) यही भेद संभवतः ईषोपनिपद की उस कल्पना के मूल में है—जिसके अनुसार 'सत्य' और सत्य के ढकने वाले 'हिरण्यमय पात्र' की कल्पना की गई है।

अतएव 'मन्वन्तर' का अर्थ समाजशास्त्रीय दृष्टि से संभवतः 'मनु का परिवर्तन' ही है —एक ही मनु अपने को विभिन्न रंगों में बदलता रहता है। इस मत की पुष्टि सबसे अधिक इस बात से होती है कि किसी किसी पुराण में मनुओं के प्रचलित नामों के अतिरिक्त उनके रंग-भेद पर आश्रित नाम भी 'वर्णतः मनवः' के अन्तर्गत दिये गये है। ये नाम क्रमशः ये हैं—(१) श्वेत (२) पाण्डु (३) रक्त (४) ताम्र (५) पीत (६) कपिल (७) कृष्ण (८)श्याम (९) धूम्र (१०) सुधूम्र (११) अपिशंग (१२) पिशंग (१३) शवल और (१४) कालधुर। इन नामों का जो क्रम है उससे स्पष्ट है कि १४ मनुओं (अथवा मनु रूपों) में दो अत्यन्त (extremes) माने गये हैं—(१) श्वेत जो शुभ्रतम है, और (२) कालंधुर जो घोरतम काला है। अतः मनु का भेद (विकास या परिवर्तन) श्वेत और काले, प्रकाश और अन्धकार या देवत्व और असुरत्व के बीच होता हुआ माना गया है, सभी मनु (या मनुरूप) इन्हीं दोनों अत्यन्तों के बीच आ जाते हैं। इसी प्रकार की कल्पना महाभारत में युग-भेद के साथ भी जुड़ी हुई है; वहाँ पर 'नारायण' को रंग बदलने वाला दिखाया गया है :—

आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा।

* * *

कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः।

* * *

त्रेतामपि निबोध त्वं तस्मिन् सत्रं प्रवर्तते।
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाऽच्युतः॥

* * *

द्वापरेच युगे धर्मो द्विभागेन प्रवर्तते।
विष्णोऽपि पीततां याति * * *।

पादेनैकेन कौन्तेय ! धर्म कलियुगे स्थितः ।
तापस युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ॥
(व० प० १४९,१७, २७, ३३)

इससे स्पष्ट है कि कृत, त्रेता, द्वापर, तथा कलियुगों में जिस प्रकार धर्म का ह्रास होता जाता है उसी प्रकार 'सर्वभूतानाँ आत्मा' नारायण भी क्रमशः शुक्ल, पीत, रक्त तथा कृष्ण होते जाते हैं, इसी प्रकार मन्वन्तर की कल्पना में भी मनु को 'आप्सव' से सावर्ण शुभ्र से श्याम मनुत्व की ओर जाते हुये विभिन्न रंगों को धारण करने वाला कहा जा सकता था ।

अव प्रश्न रह जाता कि मनु के इन दो रूपों—धन और ऋण—को १४ रूपों मे क्यों विभक्त किया गया है । इसका उत्तर साधारणतया तो यह है कि भारतीय परंपरा में विकास-ह्रास, उत्सर्पण-अवसर्पण या चढ़ाव-उतार की प्रक्रिया को १४ अवस्थाओं मे विभक्त करने की एक व्यापक प्रथा है; इसका सबसे अच्छा उदाहरण १४ लोकों का है, जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है । वहाँ हमने देखा कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से १४ लोकों मे 'मानवात्मा' के विकास-ह्रास के ही १४ स्तर हैं । जैन-दर्शन मे ४ गुणस्थानों की कल्पना एक दूसरा उदाहरण है । इन* गुणस्थानों के नाम निम्नलिखित है—(१) मिथ्यात्व (२) सास्वादन (३) मिश्र (४) अविरत (असंयत) सम्यक्दृष्टि (५) देश-विरति संयतासंयत (६) प्रमत्तसंयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण) (९) अनिवृत्तिबादर (१०) सूक्ष्मसंपराय (११) उपशांत मोह (१२) क्षीणमोह ('उपशांत कषाय) (१३) सयोगिकेवली । (१४) अयोगि-केवली । जीव प्रथम गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान की ओर आरोहण करता है—बहिरात्मा से परमात्मा के स्वरूप की ओर बढ़ता है । अतः ये १४ स्थान भी मानवात्मा के विकास ह्रास के ही स्तर हैं । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के आधार पर जैनदर्शन में लोकाकाश (ब्रह्माण्ड) की पुरुषाकार कल्पना की गई है और उसके भी १४ भाग माने गये हैं† जीवों के चतुर्दश मार्गणास्थान गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व समिति और आहार भी इसी प्रकार का एक उदाहरण है ।

उक्त चौदह रूपों, गुणस्थानों आदि का रहस्य विशेष रूप से जैन-दर्शन के द्वादशार कालचक्र के विवरण मे मिल सकता है । इस चक्र के १२ आरों को

---

*गुणस्थानक्रमारोहः २, पं० चैनसुखदास कृत जैनदर्शनसार, भूमिका पृष्ठ ५ ।

† देखिये—लोकनाद्वात्रिंशिका ।

उत्सर्पिणी में विभक्त करके छः छः के दो भाग कर दिये है, जिनमें से प्रत्येक का संबन्ध 'कुलकरों' (मनुओं) से रहता है। इस संबन्ध मे विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ काल को पहिये के समान घूमता हुआ माना है, जिसमें जो आरे नीचे हैं वे ऊपर भी जाते है और जो ऊपर है वे नीचे भी जाते है। इसलिये जिस क्रम से अवसर्पिणी में अवनति होती है उसके विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी मे उन्नति होती है* । उन्नति-अवनति का यही क्रम हमे मन्वन्तरों में भी दिखाई पड़ता है। यहाँ भी एक मन्वन्तर सप्तक मे जिस क्रम मे अवनति होती है ,उसके विपरीत क्रम से दूसरे सप्तक में उन्नति प्रारंभ होती है। उदाहरणार्थ प्रथम सप्तक के अंतिम मन्वन्तर में इन्द्रत्व इतना पतित हो जाता है कि वह महान् तपस्वी असुरराज बलि के धर्मोत्कर्ष को भी सहन नही करता और उसे पाताल भिजवाता है ; इसके विपरीत द्वितीय सप्तक के प्रारभिक मन्वन्तर में उक्त देवराज इंद्र को उतारकर उसी असुरराज बलि को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि दो षडरों (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी) में विभक्त द्वादशार कालचक्र का जो सम्बन्ध दो कुलकर-सप्तकों से है वे दो मनु-सप्तकों या मन्वन्तर सप्तकों से भी है। सौभाग्यवश वैदिक परंपरा में भी द्वादशार ऋत चक्र की कल्पना मिलती है, जिसको भी दो षडरों में विभक्त किया गया† है। परन्तु विचित्र बात यह है कि वहाँ पर प्रत्येक षडर का सम्बन्ध सात मनुष्यों या कुलकरों से न होकर एक 'सप्तचक्र' से है, जिसमें षडर 'अर्पित' कहा जाता है। इस 'सप्तचक्र' का सम्बन्ध संभवत: उन सात 'साकंजना‡' से है जिनमें से एक को 'एकज' तथा अन्यों को 'बहुज' माना गया है जो 'विक्रतानि' कहे गये हैं। यह 'एकज' सांख्य का अहंकार है जो केवल एक मन को जन्म देता है और शेष छः के अंतर्गत मन तथा दो इन्द्रिय पंचक है, जो अपने को एक से अधिक रूपों में व्यक्त करते हैं। अत: प्रत्येक इन्द्रिय-पंचक के साथ मन और अहंकार को मिलाकर संभवत: 'सप्तचक्र' की कल्पना की गई, जिसमें सेन्द्रिय-पंचक मन का 'षडर' अर्पित रह सकता है, यदि यह ठीक है तो समष्टिगत 'द्वादशार' काल चक्र के साथ ही व्यष्टिगत द्वादशार चक्र की कल्पना भी रही प्रतीत होती है; इन दोनों कल्पनाओं को एक ही 'चक्र' की कल्पना के अन्तर्गत रख देना बिल्कुल स्वाभाविक ही था। इसलिये जहाँ १४ गुणस्थान आदि व्यष्टि की ओर संकेत करते हैं वहाँ १४ राजलोक समष्टि की ओर भी संकेत करते हैं ; १४ कुलकरों

---

* देखिये काललोक प्रकाश ५९२-६४८ पृष्ठ।

† देखिये ऋ० वे० १, १६४, ११-१२।

‡ देखिये वही, १६४, १५।

और मन्वन्तरों में सम्भवतः मानव-समाज की समष्टि को ध्यान में रखा गया है, जिस में व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रहती हैं।

(ख) विश्व-साहित्य में मन्वन्तर

जैसा कि मन्वन्तर के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, आदि मानव या मानव-सामान्य के परिवर्त्तन (अथवा सनातन परिवर्तन) की कल्पना भारतीय वाङमय में बहुत प्राचीन और व्यापक है। वस्तुतः इस कल्पना का प्रभाव इस देश तक ही सीमित नहीं। आदि मानव की कल्पना प्रत्येक देश में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं; परन्तु यह कल्पना जितनी विविध और समृद्ध देश में है, उतनी संभवतः अन्यत्र कहीं नहीं। विश्व का प्राचीनतम वाङमय संस्कृत में होने के कारण, इस कल्पना का उद्‌भव और विकास भी यहीं से देखा जा सकता है।

आदिमानव

सर्वप्रथम हम आदम या ऐडम की कथा को ले सकते हैं। यह कथा हमें इस्लाम, यहूदी तथा ईसाई परंपरा में मिलती है, परन्तु यह कौन मानेगा कि यही कथा वैदिक वाङमय में उस समय उपलब्ध थी जब उक्त परम्पराओं का जन्म भी न हुआ था। आदम कोई और नहीं वैदिक 'आत्मन्' ही है, जो उपनिषदों में प्रायः 'पुरुषविधः', सृष्टि के आदि में स्थित बतलाया जाता है। अतः निरुक्त में सुरक्षित एक परम्परा के अनुसार 'आत्मन्' का अर्थ ही मनुष्य हैं। इस विषय में स्मरणीय बात यह है कि वैदिक वाङमय में जहाँ यह आदि पुरुष पिण्डाण्ड या ब्रह्माण्ड के किसी सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्य की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ अन्यत्र वह भौतिकता का स्थूल कलेवर पूर्णतया मानवीय रूप में सामने आता है। परन्तु; आत्मन् के निम्नलिखित वर्णन पर विचार करने से स्पष्ट हो जायेगा कि आदम-ऐडम की कथा का स्रोत वैदिक वाङमय में ही है :—

"पहले यह (दृश्यमान जगत्) आत्मन् ही था, पुरुषरूप में। उसने अनुवीक्षण करके देखा तो अपने से अतिरिक्त किसी को भी न पाया। उसने पहले कहा—'अहमस्मि' (मैं हूँ)। अतः वह 'अहंनाम' हो गया... वह डरा, अतएव एकाकी व्यक्ति डरता है.. वह अकेला नहीं रम सका, इसीलिए एकाकी मनुष्य नहीं रमता। उसने 'दूसरे' की इच्छा की। वह इतना हो गया जैसे आलिंगन-बद्ध स्त्री-पुरुष। उसने इसको (अपने इस रूप को) द्विविध गिराया—उसमे पति और पत्नी हो गये... उससे मनुष्य... गौ... बड़वा.. गर्दभ...एकशफा ...अजा....और पिपीलिका से लेकर सब कुछ उत्पन्न हुआ" (बृह० उ० ४,१-५)

आत्मन् के इस वर्णन में और आदम (ऐडम) की कथा में कुछ अन्तर प्रतीत होगा ; इसका प्रमुख कारण यह है कि आदमकथा के विपरीत यहाँ पर अद्वैतवाद क प्रतिपादन किया गया है, जिसके अनुसार आत्मन् आधुनिक परब्रह्म या परमात्मा का समानार्थक है, जब कि सामी परम्परा में आत्मन् (आदम-ऐडम) का प्रयोग परवर्ती भारतीय परम्परा की भाँति व्यष्टि देह के देही के लिए ही हुआ है। परन्तु वेद में भी जब द्वैतवादी दृष्टिकोण से वर्णन किया जाता है तो वह बाइबिल आदि के समान ही हो जाता है—वेद के अनुसार व्यष्टि-देह का देही आत्मा (उक्त परब्रह्म के अर्थ में) के समान (आत्मन्वत्) यक्ष है; बाइबिल कहती है कि "God created man in his own image: परमात्मा ने मनुष्य को अपनी प्रतिकृति के रूप बनाया" यों उक्त अद्वैतवादी वैदिक परम्परा की बहुत सी बातें भी बाइबिल की द्वैतवादी आदमकथा में देखी जा सकती है–(१) वह अकेला नहीं रम सका... उसने दूसरे की इच्छा की (वेद), "And the Lord God said, it is not good that the man should be alone. I will make him an help meet for him (Bible) ईश्वर ने कहा, मनुष्य का एकाकी रहना अच्छा नहीं, मै उसके लिये एक साथी उसमें ही बनाऊँगा ? (बाइबिल)।

(२) आत्मा में से ही उसकी पत्नी उत्पन्न हुई (वेद); Adam said, "This is now a bone of my bones, and flesh of my flesh; she shall be called woman, because she was taken out of man (बाइबिल) ऐडम ने कहा—वह मेरी ही अस्थि मांस है ; अत: उसका नाम मानवी होगा, क्योंकि मानव में से निकली है।"

(३) उससे पिपीलिका से लेकर सारे प्राणी उत्पन्न हुए (वेद) 'And Adam called his wife's name Eve because she was the mother of all living ऐडम ने अपनी पत्नी का नाम 'ईव' रक्खा क्योंकि वह सब प्राणियों की माता है" ('बाइबिल)

बाइबिल के प्रथम अध्याय में ईश्वर का नाम इलोऽहीम है, अत: इस अध्याय की आदम-कथा इलोऽहीमवादी (Ilo'himsitic) है। इलोऽहीमवाद के मूल में जाने का प्रयत्न किया जाय तो हम फिर उक्त 'आत्मन्' के नाम पर पहुँच जाते हैं—इलोऽहीम वस्तुतः इल, अल, इलु, (जो वैदिक इला की धातु से निकले हैं) आदि के सामी निपात के साथ 'अहम्' के मिलने से बना है और इसी इलोऽहीम से इस्लाम का 'अल्लाह' भी निकला है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अवेस्ता का ईश्वर (अहुरमज्द) भी अपने बीस नामों

में से पहला नाम 'अहमि' वतलाता है और अन्तिम नाम को अहि्मयद् अह्मि (अस्मि यद् अस्मि) कहता है। मूसा का ईश्वर भी अपने को 'एह्मेह अशेर एह्मेह' कहता है, जो विशेषज्ञों के अनुसार 'अस्मि यद् अस्मि' का ही अक्षरशः अनुवाद है। इस इलोऽहीमवादी वर्णन में स्त्री-पुरुष (male and female) की सृष्टि वैसी ही है, जैसी आत्मन् के वर्णन में पति-पत्नी का द्विधाकरण, और बाइबिल का 'Be fruitfull and multiply" (फलो फूलो और अनेक बनो) वैदिक साहित्य के अत्यन्त प्रचलित वाक्य, 'एकोऽहं बहुस्याम्' का रूपान्तर मालूम पड़ता है। इसी प्रकार बाइबिल का इलोऽहीमवादी सृष्टि-वर्णन* ऋग्वेद में वर्णित सृष्टि की पूर्णावस्था के अनुकूल ही प्रतीत होता है:—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।
तम आसीत् तमसागूढ़हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।।

उस सम न मृत्यु था, न अमृत ; न रात्रि से दिन पृथक था (वह) उस समय अपनी शक्ति से (स्वधया) एकाकी था ; उसके अतिरिक्त और कुछ न था। अंधकार अंधकार से आवृत था, यह सब (दृश्यमान जगत) सलिल रूप में था।

आदम के पतन का आधार भी वैदिक 'आत्मन्' के वर्णन में विद्यमान है। उक्त वर्णन में आत्मन् अपना द्विधापतन (द्विधा अपातयत्) करता है और फलतः पति और पत्नी हो जाता है। आश्चर्य नहीं कि इस रूपक के पति-पत्नी में 'पत' (गिरना) धातु से निष्पन्न होने का संकेत करके पतन का रूपक खड़ा किया गया हो। दार्शनिक दृष्टि से जैसा कि सांख्य में है, अहं नाम आत्मा के द्विधा पतन का अभिप्राय यही है कि अहंकार से एक ओर तो दश इंद्रियां सहित मन की चेतन सृष्टि होती है और दूसरी ओर पञ्चतन्मात्रा तथा पञ्चभूतों के रूप प्रकृति (जिसको माया, वाक्, शक्ति आदि भी कहा जाता है) की जड़ सृष्टि होती है। सेन्द्रिय मन ही बाइबिल के रूपक में 'बुद्धि-वृक्ष' है, जिसके फल खाकर आत्मन् (आदम) का पतन अवश्यंभावी है। सांख्यदर्शन में उक्त द्विधा पतन का मूल कारण है 'महत्' और वेद में इसी महत् को देवों का 'असुरत्व' कहा

---

* And the Earth was without form and void: and darkness was upon the face of the deep; and the Spirit of God moved upon the face of the waters......And the God divided the light from the darkness. And God called light day the darkness he called Night. (Bible.)

गया है ; असुरत्व तो देवो के पतन का कारण होता ही है । वैदिक साहित्य के रूपको मे इस असुरत्व को प्राय 'अहि' (सर्प) से व्यक्त किया गया है ; जो अवेस्ता मे 'अज्हि' तथा बाइबिल मे 'बुद्धि-वृक्ष' के मूल मे लिपटा हुआ सर्प होकर आदम (आत्मन्) के पतन का कारण बनता है । असुरत्वरूप इस महत् का मूल स्रोत हे प्रकृति या माया जिसकी प्राय स्त्री रूप मे कल्पना की जाती हे । इसी स्त्री से पृथक और असक्त रहने से निर्गुणब्रह्म को तथा उससे सयुक्त और ससक्त होने से सगुणब्रह्म को अथर्ववेद मे क्रमश ब्रह्मचारी तथा व्रात्य (पतित) कहा गया है । माया भेद सूक्त मे इसी माया या प्रकृति के ससर्ग से पतनोन्मुख 'आत्मन्' को पतग कहा गया है । इस प्रकार आत्मा के पतन का रूपक वैदिक साहित्य मे बहुत व्यापक प्रतीत होता है ।

ऐडम के पतन की कथा बाइबिल की उस परम्परा के अनुसार है जिसे यहोबा वादी कहा जाता है, क्योकि इस परम्परा मे ईश्वर का नाम 'यहोबा' दिया गया है । लोकमान्य तिलक के अनुसार यहोबा (या जेहोबा) शब्द वेद से ही आया है। उनका कहना है कि–" Jehovah is undoubtedly the same ward as the Chaldean yahva........The ward yahu (Z. Yazu) Yahva, Yahvat and tbe feminine form Yahvi, Yahvati occur several times in the Rigveda, and Grassman deries them from the root yah = to hasten, or to drive quickly. The Nighantu also tells us that the word yaha means water (Nigh, 1 12) or strength (Nig. II. 9) while the adjective Yahva (Nigh III. 3. Nir; VIII. 8.) means 'great'. Yahve in this sense is applied in the Rigveda to Soma (RV. IX.75, 1) to agni (RV. III 1-12) and to Indra (RV. VIII, 13-24) It is needless to give further quotations. I may only mention that Yahvain one sentence (RV.X. 110,3) is used in the Vocative case and Agni is there addressed as O Yahva ?" टाइम टाइलर भी अपनी पुस्तक Religious Systems of the World मे 'यहोबा' की उत्पत्ति भारत से ही मानते है, यद्यपि उनके अनुसार वह शब्द वैदिक द्यौः का रूपान्तर है ।

अस्तु, आत्मन् के समान ही वेद मे आदि पुरुष को ब्रह्म, प्राण, क, यम आदि नामो से भी पुकारा गया है । इनमे से क आज भी कोल जाति का उपास्य-

देव होकर उसका नामकरण कर रहा है ; ब्रह्म अब्रह्म या इब्राहीम होकर सामी परम्परा में विद्यमान है, प्राण एवं क एक समस्त पद होकर एक चीनी आदि पुरुष 'प' अन कु का तथा केवल प्राण तिब्बत के 'पान' धर्म का नामकरण कर रहे हैं। यम वेद में आदि पुरुष, आदि मार्ग-दर्शक तथा पितरों का राजा है। अवेस्ता मे यह प्रथम राजा है जो अहुरमज्द की सारी प्रजा की रक्षा करता है। जापान में जिम्मो या यम्मो आदि पुरुष और आदि राजा है, जिसके नाम पर ही जापान के मूलद्वीप का नाम 'यमतो' पड़ा बताया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि यही यम पुराणों में मृत्यु का भयंकर देवता है और नार्वे में एक आदि दानव है जिसके विभिन्न अंगो से उसी प्रकार सृष्टिरचना होती है, जिस प्रकार ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे पुरुष से। इसी प्रकार का विचित्र परिवर्तन रामायण मे उल्लिखित लंका से पाताल आने वाले दानव सालकटंकट में मिलता है जो मैक्सिको मे श्वेत साल कटल के नाम से विख्यात, श्वेतरंग, लम्बी दाढ़ी तथा काले बालों को धारण किये हुये विदेशी पुरुष हैं और उस देश मे सर्वप्रथम कृषि-कर्म, धातु-प्रयोग तथा शासन-प्रणाली सिखाने वाला 'यिम पुरिस' (यम पुरुष) है।

आदम-कथा का विश्लेषण करते हुये हम देख चुके है कि आदि-पुरुष की इस कथा मे एक आध्यात्मिक रूपक है। इसी प्रकार के रूपक, खोज करने पर आदि-पुरुष के अन्य नामों के पीछे भी मिल सकते हैं। ब्रह्म, प्राण और क तो उस 'सत' के सर्वमान्य नाम हैं ही, जो व्यष्टि अथवा समष्टि का आत्मन् है ; यम शब्द का प्रयोग भी उसी 'सत्' के लिये होता हे (श० ब्रा० १४, ६, ९, २२, ऋ० १, १६४, ४६) इस सत् या आत्मन् के, व्यावहारिक दृष्टि से दो रूप हैं— पर और अपर, जिनको क्रमशः निर्गुण और सगुण भी कहा जाता है। इनमें से पहला सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल होने से एक को अश्वित (जो फूला हुआ न हो) तथा दूसरे को श्वित (फूला हुआ) कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार इनमें प्रथम का रूप नहीं देखा जा सकता, उसका तो केवल शब्द या स्वर ही सुनाई पड़ता है। जेन्द-मत मे आत्मा के श्वित रूप पर जोर देते हुये भी अश्वित के स्वर सुनने को नहीं भुलाया गया। संभवतः इसीलिये पारसी धर्म-संस्थापक जहाँ 'श्वित' आत्मा की व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर अपने को 'श्वितात्मा' कहता है, वहाँ वह 'अश्वित' के स्वर सुनने को ध्यान में रखकर अपने को स्वर-श्रोतृ भी कहता है। यही 'श्वितात्मा स्वरश्रोतृ' कालान्तर में 'स्पीतमाजरथुष्ट्र' हो जाता है। आत्मा का 'श्वित' रूप एक दृष्टि से उसी से उत्पन्न है ; अतः बाइबिल में आदम (आत्मन् का पुत्र सेथ) (श्वित) कहा गया है (And

Adam lived an hundred and thirty and begot a son in his own likeness· after his image and called his name Seth) वेद में 'श्वित' को एक रूपक में श्येन भी कहा गया, जो 'अश्वित' (निर्गुण आत्मा) के तेज रूप अग्नि को स्थूल जगत् में लाता है, यही वैदिक रूपक चीन में एक विशाल कथा का रूप धारण कर लेता है जिसमें श्विएन (श्येन) एक राजा तथा सर्व-प्रथम 'अग्नि-स्रष्टा' है जो एक पक्षी के अग्नि-सृजन का अनुकरण करके अग्नि उत्पन्न करता है। यही श्विएन उस देश को सीन या चीन नाम प्रदान करता है।

आत्मन् का विभाजन दूसरी एक दृष्टि से भी किया गया है। इसके अनुसार आत्मन् के दो रूप हैं—(१) आत अथवा आ, (२) मन् अथवा मन्। इनमें से 'आत्' को आ उपसर्ग तथा 'अत' धातु से निष्पन्न कर उसके द्वारा आत्मन् के हृदय-पक्ष का ग्रहण किया गया, तो 'मन' के द्वारा मनन या बुद्धि-पक्ष का ग्रहण किया गया। आगम की भाँति ही वेद में भी हृदय-पक्ष का प्रतीक चन्द्र, आकाश, जल, श्रद्धा आदि थे और बुद्धि पक्ष के प्रतीक सूर्य, पृथ्वी, इडा इत्यादि। इसी आत या आ से ही आयु शब्द निकला जो वेद में एक आदि-पुरुष है और आगे चल कर चन्द्र-वंशी आयवों का पूर्वज बन जाता है। यही आयु संभवतः सामी परंपरा में 'यूह' या 'ज्यू' बन जाता है। जिसके अनुसार यहूदी-जाति का नाम पड़ता है। सामी परंपरा में आयु-संबंधी चन्द्र की महत्ता इस प्रकार सहज ही में समझी जा सकती है। आत् या आ से जिस प्रकार आयु बना उसी प्रकार 'मन्' से मनु शब्द बन गया जो आयु की भाँति ही आदि 'पुरुष' तथा आदि राजा है और जिसका संबंध भारतीय परंपरा में एक जलप्लावन से है। सामी परंपरा में यही मनुः नुः या नुह हो जाते हैं जो मनु की भाँति मिश्र में भी मेनस या मनु आदि राजा हैं। इसी मनु शब्द को हम अंग्रेजी "manजर्मनmann,तथा लेटिन man" में देख सकते हैं। भारत में एक मनु ऋषि भी हैं, जो संभवतः चीनी तथा सामी परंपरा में आओशेस तथा मोसेस या मूसा हो गये हैं। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि मानव धर्मशास्त्र के प्रणेता तथा वैदिक ऋषि मनु की भाँति माओशिअस तथा मोसेस भी नैतिकता, आस्तिकता तथा व्यवस्था के संदेश देने वाले एक नियामक हैं।

एक अन्य दृष्टि से आत्मन् में दो तत्त्व हैं—एक सत् और दूसरा असत्। वेदों में इनके नाम क्रमशः वसु तथा आगः भी हैं; अवेस्ता में इन दोनों के साथ 'मनो' शब्द और जुड़ जाता है जिसके फलस्वरूप वे क्रमशः वसो-मनो तथा अकम-मनो हो जाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से आवश्यक है कि असत् का नियमन

या संयमन हो इसीलिये आत्मा के संयमन करने वाले पक्ष को 'यम' कहा गया जो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विभिन्न देशों में आदि राजा या आदि पुरुष का नाम है। वेद में असु: शब्द का अर्थ प्राण है, परन्तु नार्वे में उसका अर्थ देवता है। इसी असु: शब्द में 'र' प्रत्यय के लगने से नार्वे शब्द का बहुवचन हो जाता है और भारत में उसी प्रत्यय के लगने से वह 'महानदेव' बन जाता है। यही असुर शब्द महत् के साथ मिलकर अवेस्ता में अहुरमज्द होकर परमात्मा का नाम बन जाता है और असीरिया में 'अस्सुर' होकर देश, जाति तथा देव का नाम करण करता है। यही असुर प्राचीन इटली की ओस्कन जाति का आदि-पुरुष 'ओस' है। इस प्रकार विभिन्न आदि-पुरुष की कथा के मूल में कोई-न-कोई आध्यात्मिक तत्त्व है और खोज करने पर उसका शुद्ध तथा मूलरूप वैदिक साहित्य में मिल जाने की संभावना है।

आदि-पुरुष की भाँति ही उसकी पत्नी के नामों का अध्यन भी उनका संस्कृत होना सिद्ध करता है। संस्कृत साहित्य में आदि-पुरुष की पत्नी का नाम ई, इडा, स्वा, सरस्वती आदि है। इनमें से ई या इडा संभवत: बाइबिल की ईव है, इडा विश्वसृज की पत्नी और सभी जीवों की माता है (तै० ब्रा० ३, १२, ९, ५) तो ईव भी "mother of all living" है। वैदिक स्वा का ही रूपान्तर संभवत: हव्वा या हौआ है जो इस्लामी परंपरा में आदम की पत्नी का नाम है। सरस्वती भारत में ब्रह्मा की पत्नी है, तो बाइबिल में आब्रह्म की पत्नी का नाम 'सरई' या सारा है। पुराणों में वाणी भी ब्रह्मा या प्रजापति की पत्नी का नाम है और यही शब्द प्राचीन असीरिया में इया-बीना (इडा-बाणी) आदमू (आत्मन्) की पत्नी का नाम है।

वैदिक वाङमय की आत्मन्-कथा इस प्रकार विश्व मे विभिन्न रूपों में फैली। इस कथा का आधार, जैसा ऊपर कहा गया है, व्यष्टि और समष्टि के चैतन्य पर अवलम्बित है। वेद के अनुसार इसके पाँच स्तर हैं जिनको क्रमश: अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द कोश कहा जाता है इन्हीं पाँच अवस्थाओं में आत्मा अद्वैत से द्वैत तथा द्वैत से नानात्व रूप ग्रहण करता है। ऊपर उद्धृत आत्मा के वर्णन में, इन पाँचों अवस्थाओं को निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया गया है:—

(१) आत्मा —अकेला ही।
(२) अहं नाम—द्वैत ज्ञान।
(३) आलिंगन-बद्ध स्त्री-पुरुष सा।
(४) पति-पत्नी रूप द्वैत।

(५) नानारूप—प्रजा ।

इन्हीं में से प्रथम को वेद में कवि भी कहा गया है । यही 'कवि' कभी जावा में आदि पुरुष माना गया जिस पर वहाँ की भाषा तथा लिपि का नाम भी 'कवि' रक्खा गया, जिस प्रकार भारतवर्ष की लिपि का नाम ब्राह्मी हुआ । वहाँ पर बौद्ध-परंपरा पहुँचने पर इसी आदि-पुरुष को 'श्रद्धय' कहा गया और उसकी संतति के निम्नलिखित ढंग से दिखलाया गया जो आत्मा की उक्त पाँच अवस्थाओं से पूर्णतया सादृश्य रखता है:—

(१) अद्वय
(२) अद्वय-ज्ञान
(३) द्विरूप
(४) भर्तार बुद्ध
(५) शाक्यमुनि

ऐसा ही परिवर्तन अरब में भी हुआ दिखाई पड़ता है । यहाँ भी अद्वयसत्ता का वैदिक प्रतीक 'कवि' है , जो आज भी 'कावा' के रूप में पूजित है । परन्तु ईश्वर के नानात्व का इस्लाम में कुछ भी स्थान न होने से शाक्यमुनि बुद्ध अरबी में 'बुत' (मूर्ति) होकर मुसलमानों के लिये असह्य एवं गर्ह्य वस्तु हो गया है ।

भारतीय दर्शन ने, इस प्रकार, तथाकथित आदि पुरुष की कथा पर तो प्रभाव डाला ही, परन्तु कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनसे स्पष्टतया भारतीय सैद्धांतिक प्रभाव भी प्रकट हो रहा है। एक वैदिक परम्परा के अनुसार आत्मा का स्थूलतम रूप मनुष्य के श्रम में व्यक्त होता है, इसी श्रम का सूक्ष्मतररूप शची तथा सूक्ष्मतम रूप शम है । इसी श्रम शब्द को लेकर जब वैदिक श्रमवाद ने आश्रम-व्यवस्था बनाई और जैन तथा बौद्ध-शासन ने श्रमणवाद को जन्म दिया, तो श्रम,तप तथा पूजा का पर्यायवाची हो गया । अतः जब बौद्ध-धर्म ने अरब में जाकर बुद्ध (अ० बुत) की पूजा का प्रचलन किया, तो श्रम शब्द भी अपनी समस्त पवित्रता एवं धार्मिकता को लेकर पहुँचा । कालान्तर में नये धर्म ने बुद्ध-मूर्तियों (बुतों) को तो तोड़ डाला परन्तु, श्रम शब्द फिर भी स्लम होकर सलाम तथा इस्लाम का जन्मदाता बना और श्रम का सूक्ष्मतम (मानसिक) रूप 'शम' नाम से फिर एक आदि-पुरुष बन बैठा, जिससे 'शामी' संस्कृति की नींव पड़ी । आज शामी परम्परा में इस कथा के अर्थ को भलीभाँति नहीं समझा जा रहा है । परन्तु वैदिक परम्परा बतलाती है कि श्रम की सार्थकता इसी में है कि वह शम रूप में बदल जाय । श्रम को शम बनाकर कर्म करने वाला ही, धम्मपद के अनुसार, श्रमण है और इस्लाम में भी यही बात है । श्रम की महत्ता को लेकर वीर

शैव मत भी चला जो संभवतः अरब भी पहुंचा; बहुत संभव है कि बाइबिल आदि में उल्लिखित 'वीर शैव' नामक स्थान को इसी से नाम मिला हो। कुछ लोगों का कहना है कि मक्का की मस्जिद में रक्खा पवित्र पत्थर इसी मत का प्रतीक शिवलिंग है जो अद्वैत ईश्वरीय सत्ता का प्रतीक होने के कारण इस्लाम ने भी प्रारम्भ में अंगीकार किया, परन्तु बुद्ध मूर्तियां (बुत) अनेकता तथा मनुष्यपूजा की प्रतिपादक होने से नष्ट कर दी गईं। कुरान में उल्लिखित 'शेव' जाति सम्भवतः यही शैवों की जाति हो।

एकेश्वरवाद के भी दो पक्ष हो सकते हैं—एक हृदय-प्रधान, दूसरा मस्तिष्क प्रधान। दूसरे शब्दों में, एक प्रेमाश्रयी है, तो दूसरा ज्ञानाश्रयी, एक सरस है, तो दूसरा शुष्क। ऐसा प्रतीत होता है कि शामियों में भी ये दोनों परम्परायें थीं। ओल्ड टेस्टामेन्ट के अनुसार अब्राह्म के दो पुत्र थे—एक विवाहिता स्त्री से, दूसरा दासी से। एक का नाम था इसाक और दुसरे का इस्माइल। यदि संस्कृत परम्परा में यह बात होती, तो कहा जाता कि ब्रह्मा के दो पुत्र थे एक (महादेव) और दूसरा स्मर (काम)। संस्कृत परम्परा में हम जानते हैं कि ईश तथा स्मर क्रमशः शुष्कज्ञान तथा सरस वासना के प्रतीक हैं। शामी परम्परा में इशाक ने इस्राइल तथा उसके द्वारा यहूदीवंश को जन्म दिया, जो शुष्क ज्ञान-प्रधान एकेश्वरवाद को ग्रहण करता है और जिसका ईश्वर यहोवा वैदिक यह्व का रूपान्तर है और प्रायः शुष्क अग्नि के रूप में ही प्रकट होता है। इस्माइल इसके विपरीत उन अरबों को जन्म देता जो मुहम्मद साहब से पूर्व वासना में बुरी तरह फँसे हुये थे और जो मुहम्मद साहब के बाद भी वासना को 'इश्क मजाज़ी' तथा 'इश्कहक़ीक़ी' का रूप देकर सूफ़ी कहलाने लगे। यद्यपि स्वयं सूफी के शाब्दिक अर्थ में वासना की कोई पुट नहीं दिखलाई पड़ती, परन्तु सूफी जिस 'शब्द' से बना है वह ग्रीस में Sophos होने से पूर्व भारत में 'अनादि निधनं ब्रह्म' का वाचक रह चुका था और तांत्रिक परम्परा में पञ्च मकारों के संसर्ग में आ चुका था। अतएव इस्माइल की वंश-परम्परा के लिये यह पूर्णतया उपर्युक्त माध्यम हो सकता था। परन्तु, ऐसा लगता है कि इस्माइल परम्परा ने जिस प्रकार 'आयु' को अपना कर यहूदी नाम ग्रहण किया और कुछ को कुछ 'सरसता' को अपनाया, उसी प्रकार इस्माइल की परम्परा ने भी श्रमवाद को अपनाकर तथा इस्माइल ग्रहण करके शुष्कता को अपनाया।

एकेश्वरवाद की एक परम्परा ने यज्ञ-प्रधान धर्म को भी प्रतिष्ठित किया जो एशिया के कई भागों में फैला। वैदिक संहिताओं में अग्निहोत्र यज्ञ केवल पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में निरन्तर होने वाले यज्ञ का प्रतीकमात्र था—जिस

प्रकार पिण्डाण्ड में आत्मा तथा ब्रह्माण्ड में परमात्मा भौतिक-अग्नि, दर्शनाग्नि तथा ज्ञानाग्नि के रूप मे नाना प्रकार की आहुतियाँ ग्रहण करता है, उसी प्रकार उन दोनों का प्रतीक भौतिक अग्निवेदी पर विभिन्न प्रकार की आहुतियाँ ग्रहण करता है। समाजशास्त्र की दृष्टि से, समाज की श्रमशक्ति ही अग्नि है, जिस परोपकार, सेवा, सामग्री-सृजन आदि कार्य के रूप में अनेक यज्ञ होते रहते है, इन यज्ञों में से पंचमहायज्ञ प्रत्येक व्यक्ति के लिये कर्तव्यस्वरूप थे। यही यज्ञ अवेस्ता में 'यस्न' होकर सोम, अथर्वन, इष्टि, होता, आहुति, मन्त्र, त्रित, ऋत्विज, छन्द आदि वैदिक शब्दों को लेता हुआ ईरान में पहुँचा और अन्ततोगत्वा वहाँ अग्नि पूजा मात्र में बदलकर रह गया। यहूदी मत में भी यही यज्ञ पहुंचा, परन्तु वहाँ इसका रूप बदल गया, वहाँ अग्नि में पशुओं की भी बलि दी जाने लगी। उदाहरणार्थ, ओल्ड टेस्टामेन्ट में ईश्वर ने मूसा से इस प्रकार कहा—

'On altar of Earth thou shalt make unto me and shalt sacrifice thereon thy burnt offering and the peace offering, thy sheep and thine oxen in all places where I record my name; I will come unto thee and I will bless thee" फिर Book of Genesis में लिखा है, "And Noah builded an altar unto the Iord; and took of every clean beast and of every clean fowl and offered burnt offerings on the altar" होमर को पढ़ने से पता चलता है कि प्राचीन ग्रीस में भी यज्ञों में अश्व, वृषभ आदि की बलि दी जाती थी। इसी यहूदी या ग्रीक परंपरा के संपर्क में आकर ही संभवतः परवर्ती काल में हमारे देश के यज्ञों में भी पशुबलि को स्थान मिला, जिसके साथ ही वैदिक धर्म को 'वेदवाद' का रूप मिला और जिसके फलस्वरूप महावीर तथा बुद्ध ने, श्रमणवाद के रूप में, पुनः एक प्रकार के श्रमवाद को स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु इस्लामी परंपरा में आकर यज्ञ का वह रूप भी न रह गया जो यहूदी परंपरा में था—अब अग्नि से उसका संबन्ध पूर्णतया जाता रहा और केवल पशुबलि ही रह गई।

इसी प्रकार खोज करने से एशिया की कई आध्यात्मिक संस्कृतियों पर भारतीयता का प्रभाव बतलाने वाले शब्दों का पता लगाया जा सकता है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त से जिस प्राण-ब्रह्म की उपासना का उल्लेख मिलता है, उसका आगे चलकर तिब्बत, चीन, भूटान, आदि में पर्याप्त प्रचार हुआ जान पड़ता है, क्योंकि, जैसा कि कहा जा चुका है, इन देशों का प्राचीन पान-धर्म प्राणोपासना को लेकर ही चला और अन्त में प्राणायाम पर आश्रित तंत्रवाद

को लाया । इस तंत्रवाद का प्रचार आगे चलकर भारत के कई सम्प्रदायों में हुआ, जिन्होंने उसको भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाया । भारतवर्ष का शब्द-ब्रह्मवाद संभवतः सिकंदरिया होकर ईसा से शताब्दियों पूर्व ग्रीस पहुँच गया था और इसी शब्दब्रह्मवाद ने ग्रीस दर्शन को 'Sophos' शब्द दिया जो 'शब्द' का ही रूपाँतरमात्र है । इसी Sopbos से आगे चलकर इस्लाम ने सूफीमत निकाला जो पुनः भारतवर्ष में जाकर वहाँ के वेदान्त तथा ब्रह्मवाद से समृद्ध हुआ। यह सूफीमत मुहम्मद साहब के मत से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार शब्द ब्रह्मवाद से और यह ध्यान देने की बात है कि मुहम्मद साहब ने अपने धर्म को 'आब्रह्म (Abraham) का धर्म कहा है । इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि कुरान का मत वेदान्त का ही रूपांतर है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस्लामी एकेश्वरवाद वेदान्ती ब्रह्मवाद के पूर्व-स्रोत से प्रेरित हुआ माना जा सकता है । इस विषय में एक ध्यान देने की बात यह है कि जब आठवीं शताब्दी में अब्राह्म के धर्म (इस्लाम) की विजयपताका फहराती हुई शीघ्रता के साथ भारत को आ रही थी, तो भारत नें भी शंकर के ब्रह्मवाद द्वारा ही उसका सामना करने की तैय्यारी की ।

(ग) आदि मानव का रूपांतर

ऊपर यह स्थापना की जा चुकी है कि मनुष्य की आत्मा ही आदि मानव है और जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, वही आदि कवि भी है । चैतन्य आत्मा विभिन्न जड़ 'मोहरों' को लगाकर उसी प्रकार नानात्व ग्रहण करता है जिस प्रकार रामलीला में काम करने वाला पुरुष विभिन्न 'मोहरे' लगाकर रावण, हनुमान, ताड़का, जटायु आदि बन जाता है । चैतन्य आत्मा का यह रूपान्तर दो प्रकार का है—एक तो वह जिसमें चैतन्य जड़ 'मोहरे' (देह) के संपर्क में आकर रोगी, भोगी और योगी ; पुत्र, पिता और पितामह; मित्र, शत्रु और उदासीन; प्रजा, राजपुरुष और राजा आदि के रूपान्तर एक ही जीवन-काल (जड़-चेतन के एक संपर्क-काल) में प्रतिक्षण करता रहता है ; और दूसरा वह जिसमें वह अपने निज के रूपांतरों द्वारा समष्टिगत 'मोहरे' को प्रभावित और परिवर्तित करने में समर्थ होता है । पहला व्यष्टि गत आत्मा के 'सनातन इतिहास' में समाविष्ट है, तो दूसरा समष्टिगत आत्मा के विकासात्मक इतिहास का सृजन करता है । पहले में आदि मानव की व्यष्टिगत लीला है, तो दूसरे में उसकी समष्टिगत अभिव्यक्ति का विकास ।

विश्व के महाकाव्यों में आदि-मानव या मानव-सामान्य के इस द्विविध

रूपांतर का समावेश भली भाँति हुआ है । महाभारत कार* ने इस द्विविध रूपांतर को 'नर' और 'नारायण' नाम से याद किया है, जिनके प्रतीक-स्वरूप अर्जुन एवं कृष्ण जो लीला दिखाते हैं वह ऐतिहासिक कथा होने के साथ ही एक आध्यात्मिक रूपक भी बन गई है। नर और नारायण की जो द्विविध शक्ति नारी तक नारायणी कही‡ गई है, वही कृष्णा (नारायणी) द्रौपदी के रूप में प्रकट हो रही है । इसी प्रकार ऋग्वेद मे उल्लिखित रामायणी शक्ति के मूल प्रेरक नारायण 'राम' ‡ नर (लक्ष्मण) के साथ वाल्मीकि के महाकाव्य के नायक बनते हैं । पुराणों की भाँति रघुवंश में, इसी आदि मानव या मानव-सामान्य के रूपान्तर की कथा एक वंश-परम्परा के रूपक में दिखाई गई है। फारिश में संभवतः इसी के अनुकरण पर फिरदोसी के शाहनामा की सृष्टि हुई और सूक्ष्म अन्वेषण से होमर एवं वर्जिल की कृतियों में रामायणादि के समान इसी मानव-सामान्य या आदि मानव के रूपांतरों की कथा के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयत्न मिल सकते हैं ।

वस्तुतः पुराण—कथाये (myths) या अर्द्धपुराणकथाएँ जिनका आश्रय लेकर उपर्युक्त सभी ग्रन्थ रचे गये है रहस्यवाद की सर्वोत्कृष्ट भाषा है ; यही सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है जिनके द्वारा मनुष्य-जाति मानव-सामान्य के आध्यात्मिक 'रहस्य' को व्यक्त करती रही है । यही कारण है कि जब जब मानव सामान्य या आदि मानव के रहस्यमय रूपांतरों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया, तब तब ऐसी ही पुराण-कथाओं का आश्रय लिया गया । अंग्रेजी भाषा में मिल्टन और टेनीसन, जर्मन में गेटे और लैटिन में दान्ते ने ऐसी कथाओं का प्रयोग इसी निमित्त अपने-अपने ढंग से किया है । इन सभी पुराण-कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन से कम-से-कम इतना तो अब कहा ही जा सकता है कि आदि मानव की कथाओं की भाँति ही उक्त पुराण-कथाओं का स्रोत एक ही है और उसके प्राचीनतम रूप का अध्ययन संभवतः भारतवर्ष के वाङमय में ही किया जा सकता है । सच पूछिये तो ऐसे महाकाव्य का जैसा अच्छा विकास यहाँ हुआ वैसा अन्यत्र नहीं हो सका ।

इसलिये, इस प्रकार की कृतियों के आलोचकों को अपना मानदण्ड योरोप में न खोज कर भारतवर्ष में ही खोजना अधिक उचित होगा । यों तो, जैसा कि

---

* नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
नत्वा सरस्वती देवीं ततो जयमुदीरयेत् ॥

† भारतीय समाज शास्त्र, अंतिम अध्याय ।

‡ देखिये ऊपर पृ० १९२-१९३.

पहले ही कहा जा चुका है, कामायनी जैसी भारतीय परम्परा के महाकाव्य को भारतीय दृष्टि से देखना ही न्यायोचित है, परन्तु यदि विश्व-साहित्य की दृष्टि से भी देखें, तो भी आदि-मानव के महाकाव्यों की परम्परा—जिसमें कामायनी निस्संदेह आती है—समस्त विश्व में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक सुसंबद्ध इकाई है जिसका मूलस्रोत वैदिक परम्परा से अभिन्न प्रतीत होता है। अतएव न केवल कामायनी अपितु इस प्रकार के समस्त विश्व-साहित्य का ही भारतीय दृष्टि से समीक्षण किया जाय तो सारे वश्व वाङमय का ही महान् उपकार हो सकता है। अस्तु, इस पुस्तक में तो यह संभव नहीं, परन्तु फिर भी यहाँ पर उक्त प्रकार के कुछ प्रमुख महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय देकर कामायनी के साथ उनकी सरसरी तुलना कर लेना असंगत न होगा।

प्रमुख महाकाव्य

डिवाइना कमेडिया

लेखक (दान्ते) एक घोर बन में राह भूल जाता है। वह एक पहाड़ पर चढ़ना चाहता है, परन्तु हिंसक पशु बाधक होते हैं। संयोगवश उसे वर्जिल (रोमन कवि) के दर्शन होते हैं जो नरक, और मार्जन प्रदेशों को दिखलाने तथा अंत में वियट्रिस (दान्ते की दिवंगत प्रेयसी) द्वारा स्वर्ग पहुँचाने का वचन देता है। प्रथम तो वह वर्जिल का अनुगमन करने में अपने को अशक्त पाता है, परन्तु रोमन कवि के समझाने पर वह साहस करके उसके पथप्रदर्शन एवं प्रभुत्व को स्वीकार करके पीछे पीछे चल देता है।

नरक

दान्ते को लेकर वर्जिल नरक प्रदेश के द्वार पर पहुँचता है, जहाँ पाप-पुण्य से उदासीन रहकर काल यापन करने वालों को दण्ड दिया जाया करता है। एकरन नदी पर पहुँच कर, वे मृत जीवों को पार उतारने वाले काराँ नामक मल्लाह को देखते हैं ; दान्ते भयंकर दृश्य को देखकर मूर्च्छित हो जाता है। आगे वह नरक के न्यायाधीश मिनोस (Minos) से मिलता है जो उसे सावधान होकर आगे बढ़ने को कहता है। वर्जिल के पथप्रदर्शन में वह नरक के नौ प्रदेशों को पार करता है, जिनके विभिन्न विभागों में पापी जीव नरक की यंत्रणायें भोगते हुये दिखाई पड़ते हैं। व्यभिचारी, क्रोधी, लोभी, अपव्ययी और पेटू दिस नगर के बाहर तथा विश्वासघाती, जादूगर, चापलूस, चोर, झूठे, सूदखोर आदि पापियों को अलग-अलग प्रकार का दण्ड दिया जाता है। इन पापियों में

दान्ते के वहुत से परिचित और समसामयिक भी हैं, जिनसे वह कभी-कभी वर्जिल की आज्ञा से बातचीत भी कर लेता है ।

मार्जन

अंत में वे दोनों नरक के सभी प्रदेशों को पार करके मार्जन प्रदेश (Purgatory) के द्वीप के वायु मण्डल में साँस लेकर प्रसन्न होते हैं । वहाँ उनको उटीका का कैटो मिलता है जो दांते को ओस से मुंह धोने तथा एक नरकुल हाथ में लेकर सावधानी से आगे बढ़ने को कहता है । वे ऐसा करके आगे बढ़ते हैं और मार्जन-मेरु (Mountain of Purgatory) पर चढ़ते है जो बहुत ही तंग, ढालू और दुर्गम है । वे विभिन्न प्रकार के पापियों को देखते हैं जिनका अघ मार्जन हो रहा है । कुछ ऐसे हैं जो अंत समय तक अपने पापों का प्रश्चाताप नहीं कर सके थे । इसमें से कुछ दान्ते से विनय करते हैं कि वह उनके बन्धु-बान्धवों से उनके लिये प्रार्थना करवाये । स्वप्न-मग्न सोये हुये दान्ते को लूसिआ उड़ा ले जाती है और मार्जन-मंदिर के द्वार पर छोड़ देती है जहाँ उसे वर्जिल भी मिलता है । सेन्ट पीटर द्वारा नियुक्त एक फरिश्ता उनको प्रविष्ट करता है वे आत्माओं को देखते हैं जो गर्व और अहंकार, ईर्प्या और द्वेप; काम और क्रोध, लोभ और अतिभोजन आदि के पापों का मार्जन कर रहे है । इनमें दांते के बहुत से परिचित हैं ।

मार्जन प्रदेश के सात स्तरों को पार कर अंत में वे दोनों स्वर्ग के द्वार पर पहुँचते हैं । रात होने से वे सो जाते हैं । दान्ते स्वप्न में दो स्त्रियों को देखता है जिनमें से एक चिन्तन तथा दूसरी श्रम की प्रतीक है । जागने पर वर्जिल ने कहा कि बेटा अब मै आगे नहीं जा सकता; मैं अब तक बुद्धि और कला से तुम्हें, लाया; अब तुम स्वेच्छा का प्रयोग करो:—

Both fires, my son,
The temporal and eternal thon hast seen.
And art arrived, where of it self my ken
No further reaches. I with skill an art
Thus far have drawn thee Now thy
pleasure take for guid.

दांते इधर-उधर घूमता है। एक सोते के किनारे पर फूल तोड़ती हुई मटिल्डा नामक स्त्री को देखता है जिससे उसकी कुछ बातचीत होती है । एक संगीतमय आश्चर्यजनक दृश्य प्रकट होता है और बियेट्रिस स्वर्ग से उतरती है । बियेट्रिस दान्ते को फटकारती है और दान्ते उसमें मातृमूर्ति देखता है:—

With a mien of that stern majesty, which doth
surrouud.
A mother's presence to her awe-struck child,
she loͻked; a fivour of such bitterness
was mingled in her pity.

बियेट्रिस को दान्ते से शिकायत है कि जैसे ही मैं देह से देही और भौतिक से आध्यात्मिक की ओर बढ़ती गई वैसे ही उसका प्रेम मेरी ओर से कम होता गया और अन्यत्र जाता गया:—

When from flesh
To spirit I had risen, and increase
of beauty and of virtue circled me,
I was less dear to him, and valued less.
His steps were turned into deceitful ways,
following false images of good, that make
No promice perfect.

बियेट्रिस के फटकारने पर, दान्ते अपना अपराध स्वीकार करता है और पृथ्वी पर गिर पड़ता है। जब उसकी मूर्च्छा जागती है तो माटिल्डा उसे लेथे नदी के जल में होकर प्रथम तो 'चार कुमारियों' के पास ले जाती है जो उसे ग्राइफन (ईसा का प्रतीक) के पास पहुँचाती हैं। वहाँ से वह 'तीन कुमारियों' के पास ले जाया जाता है जो क्रमशः सत्य (Truth), आशा (Hope) और दान (Charity) की प्रतीक हैं। ये तीनों बीयेट्रिस से सिफारिश करती है कि वह दान्ते को अपना द्वितीय सौन्दर्य दिखलाये:—

'Turn Beatrice' was their song of turn.
Thy saintly sight on this thy faithful one.
who, to behold thee, many a wearisome pace
Hath measured. Gracious at our proyer,
vouch safe
unveil to him thy cheeks; that he may mark
thy second beaty, now concealod.

उसके सौन्दर्य्य से आकृष्ट होकर दान्ते निर्निमेष नेत्रों से देखने लगता है। कुमारियाँ उसे सावधान करती हैं कि वह बियेट्रिस को इस प्रकार न देखे। अन्त में बियेट्रिस कुमारियों और माटिल्डा को साथ लेकर दान्ते का पथ-प्रदर्शन करती है।

स्वर्ग

विये्ट्रिस के साथ-साथ दान्ते स्वर्गारोहण प्रारंभ करता है। एक-एक करके नौ स्वर्ग आते हैं। चन्द्र से लेकर शनि तक सात स्वर्ग लोकों की वह यात्रा करता है और उनमें रहने वाले विविध मृतात्माओं को देखता है। इनमें भी दान्ते के बहुत से परिचित व्यक्ति है जो दान्ते को अपने संस्मरण सुनाते हैं। मार्ग में बहुत से स्थानों पर दान्ते को कठिनाइयाँ आती हैं और उसके मन में अनेक संदेह उत्पन्न होते हैं। इन सबको वियेट्रिस दूर करती है, क्योंकि वह उसकी माता के समान है और वह उसका पुत्रः—

Astounded, to the guardian of my steps
1 turned me, like the child, who always runs
Thither for succour, where he trusteth most.
And she was like the mother, who her son
Beholding pale and breathless with her voice
soothes him, and he is cheered.

उसके साथ वह आगे बढ़ता है और आठवें स्वर्ग में प्रवेश करता है। यहाँ से वह अपने सारे मार्ग का सिंहावलोकन करता है। उसे अपने धर्म-संघ-सहित ईसा दिखाई पड़ते हैं। कुमारी माता (Virgin Mother) के सहित ईसा ऊपर उठते हुए दिखाई पड़ते हैं; सन्त पीटर और लोगों के साथ वहीं रहकर दान्ते की श्रद्धा (Faith) के सम्बन्ध में परीक्षा लेते हैं। फिर क्रमशः सन्त जेम्स और सन्त जॉन उससे क्रमशः आशा (Hope) तथा दान (Charity) के विषय में प्रश्न पूछते हैं और आदम अपने उत्थान, पतन तथा पुनरुद्धार के विषय में चर्चा करता है, जिसके पश्चात् बियेट्रिस उसको नवें स्वर्ग में ले जाती है।

नवें स्वर्ग तक पहुँचने में कई बार दान्ते को शंकाएँ और कठिनाइयाँ व्यथित करती हैं, परन्तु बियेट्रिस उन सबका निवारण करती है। वह इम्पीरियम के अलौकिक दृश्य देखता है। बियेट्रिस की सहायता से उसकी दृष्टि अधिक सशक्त हो जाती है और वह फरिश्तों के हर्षोत्साह को देख कर मस्त हो जाता है। जैसे ही वह बियेट्रिस की ओर देखना चाहता है, वैसे ही वह उसके स्थान पर सन्त बर्नार्ड को देखता है। सन्त उसे बतलाते हैं कि बियेट्रिस अपने सिंहासन पर विराजमान होने के लिये चली गई है—संत अन्य बहुत से ऐसे शुद्ध आत्माओं को सिंहासन पर बैठे हुये बतलाते है जिनको परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त हो चुका है। स्वर्ग के वे दिव्य स्थान वस्तुतः उस परम दयाल के अनुग्रह से मिलते हैं। सन्त बर्नार्ड के कथनानु-

सार, दान्ते सब के साथ कुमारी माता, (Virgin Mother) से प्रार्थना करता है कि उसे भी वह अनुग्रह प्राप्त हो जिससे वह परमात्मा की दिव्य ज्योति का ध्यान कर सके। यह प्रार्थना स्वीकृत होती है और दान्ते स्वयं परम प्रभु से याचना करता है कि वह स्वर्गीय ज्योति को अपनी साहित्यिक रचनाओं में व्यक्त कर सके। तदनन्तर वह परम रहस्य की झलक देखता है; त्रिमूर्त्ति के दर्शन करता है और मनुष्य तथा परमेश्वर के तादात्म्य का अनुभव करता है।

पैराडाइज़ लास्ट

(१) स्वर्ग से शैतान और उसके अनुयायियों के निष्कासन को नौ दिन हो चुके हैं। वे सब जलती हुई झील पर अवसन्न पड़े हुये हैं। शैतान उठता है और बीउलज़ेबब को उठाकर उसके साथ अपनी अवस्था पर विचार करता है। तदनन्तर अपने साथियों सहित वह उड़कर एक मरुभूमि के उजड़े प्रदेश में पहुँच जाता है।वहाँ शैतान अपने व्यूहबद्ध साथियों से कहता है—"हमें फिर स्वर्ग पर अधिकार करना चाहिये और यदि यह संभव न हो, तो अन्य दुनियाओं को जीतना चाहिये, विशेष कर उस नई दुनियाँ को जिसमें अभी नव-निर्मित प्राणियों के निवास का समाचार मिला है। इन मामलों पर विधिवत् विचार होना चाहिये।"

(२) शीघ्र ही एक विशाल प्रासाद का निर्माण होता है। प्रासाद का नाम पैन्डेमोनियम है। इसी में एक सभा होती है। जिसमें केवल प्रमुख फरिश्ते उपस्थित हैं; मोलोक, बीलियल और मैमन अपनी-अपनी सम्मति देते हैं। अन्त में बीउल-जेबब शैतान द्वारा उल्लिखित "नई दुनियाँ" के विषय को फिर उठाता है—"क्यों न हम उसे बर्बाद कर दें ? या उस पर अपना अधिकार कर लें ? या उसके निवासियों को अपनी ओर मिला लें। ईश्वर से इससे अच्छा और कौन सा प्रतिशोध हो सकता है ?" यह योजना स्वीकृत हो जाती है। परन्तु, इस दुनियाँ का पता कौन लगाये ? कोई आगे नहीं बढ़ता है। तब शैतान यह काम स्वयं अपने हाथ में लेता है। वह चलकर नरक के द्वार पर पहुँचता है। उसे पाप और मृत्यु में होकर जाना पड़ता है। वह कैआस (Chaos) में होकर यात्रा करता है और अन्त में उसी में लटकती हुई दुनियाँ दिखाई पड़ती है, जिसकी ओर वह चल देता है।

(३) उधर प्रथम स्वर्ग में ईश्वर पुत्रसहित विराजमान है। वह शैतान को देखता है और पुत्र का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करते हुये बतलाता है कि "शैतान नवनिर्मित दुनियाँ की ओर जा रहा है। उसका उद्देश्य है वहाँ रहने वाले मानव को हो सके तो मिटाना अन्यथा छल से उसका पतन करना। पतन ध्रुव है, उसका और उसकी सन्तान का भी। वह शैतान की झूठ को सुनकर मेरे आदेश की अवहेलना

करके गिरेगा, गिरेगा ही नहीं मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा, जब तक कि कोई और उसके बदले मे मृत्यु का आलिंगन करने को तैय्यार न हो जाय" पुत्र ने इस बलि-दान के लिये अपने को प्रस्तुत किया। ईश्वर की स्वीकृति मिल गई।

उधर शैतान विश्व के ऊपरी तल पर पहुँच चुका है। इधर-उधर घूमने के बाद उसे एक द्वार मिलता है जिससे वह भीतर घुसता है। वह सूर्य-लोक में पहुँच कर एक स्वर्गिक फरिश्ते का रूप धारण कर उरील नामक सौर प्राणी से पृथ्वी लोक का रास्ता पूछकर निफैट्स-गिरि पर उतरता है।

(४) वहाँ से वह 'इडेन' उद्यान में पहुँचता है। वहाँ देखता है वह आदि नर और आदि नारी की जोड़ी, नग्न, निष्पाप और भोली-भाली। ईश्वर ने उन दोनों को वहाँ के सब वृक्षों को फल खाने की छूट दे रक्खी है, केवल ज्ञान-वृक्ष के फल का आस्वादन करने की मनाही कर रक्खी है। उन दोनों की आपसी बातचीत में इसका उल्लेख होता है, जिसको शैतान सुन लेता है। रात आती है और शैतान नारी (ईव) को स्वप्न मे ज्ञान-वृक्ष का फल खाने के लिये लुभाता है। उधर उरील से समाचार पाकर, गैब्रील आदि नर की रक्षा के लिये इडेन में आता है। शैतान उसे देखकर भाग निकलता है।

(५), (६), (७) और (८)—आदम और ईव ईश्वर की स्तुति और श्रम करने मे लगे हैं। ईश्वर को इन दोनों की चिन्ता है। वह चाहता है कि यदि इनका पतन हो तो अनजान मे नहीं। वह रेफेल को इनके पास भेजता है। रेफेल का स्वागत होता है। वह आदम को उपदेश देता है। वह उसे उसके शत्रुओं का ज्ञान कराता है और उनकी शत्रुता का कारण बतलाते हुये स्वर्ग में होने वाले विद्रोह तथा उसके फलस्वरूप होने वाले युद्ध एवं अनुयायियों सहित शैतान के निष्कासन का वर्णन करता है। अतः वह आदम को शत्रु से सचेत करता है। फिर वह विश्व की सृष्टि तथा ईश्वर के पुत्र द्वारा उसके सनाथ होने का उल्लेख करता है। ऐडम उससे ग्रह और नक्षत्रों के विषय में पूछता है जिसका वह संदिग्ध उत्तर ही दे पाता है। आदम इडेन मे अपना प्रथमवार आना, ईश्वर द्वारा ज्ञान-वृक्ष को स्पर्श न करने का आदेश मिलना तथा ईव के प्रथम साक्षात्कार का वर्णन करता है। रेफेल सायं-काल आने से चला जाता है।

(९) आदम और ईव श्रम करने के लिये उद्यान में जाते है। ईव का प्रस्ताव है कि वे दोनों काम को बाँट लें और प्रत्येक अपना-अपना काम पृथक करे। आदम को यह प्रस्ताव पसंद नहीं, परन्तु ईव के आग्रह से वह उसे स्वीकार कर लेता है। ईव को अकेले देखकर शैतान को अवसर मिलता है। वह सर्प के रूप में ईव को लुभाता है और वह उस निषिद्ध फल का आस्वादन करती है। वह आदम को भी

प्रेरित करती है; आदम भी उस फल को खाता है। उन दोनों में पाप और ग्लानि की भावना उत्पन्न होती है।

(१०) ईश्वर का पुत्र इडेन में आता है और आदम, ईव तथा सर्प को शाप देता है। इसी बीच में शैतान पैन्डेमोनियम को लौट जाता है और अपनी विजय की घोषणा करता है; सहसा शैतान और उसके साथी सर्प बन जाते हैं। पाप और मृत्यु नरक से इडेन में आ जाते हैं और विश्व पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। परन्तु, ईश्वर घोषणा करता है कि अन्ततोगत्वा मेरा पुत्र तुम (पाप और मृत्यु) को निकाल फेंकेगा। पृथ्वी को अब कुछ श्रीहीन कर दिया जाता है। आदम और ईव पश्चात्ताप करते है और भगवान के चरणों में आत्म-समर्पण करके सन्तोष करते हैं।

(११) और (१२)—पुत्र बीच में पड़ता है और ईश्वर से आदिम दम्पति के लिये आशा और दया का अनुग्रह माँगता है। ईश्वर माइकेल को आदम के पास भेजता है कि वह आदम को उसका भविष्य दिखलादे और विशेषकर पुनरुद्धार की आशा को जागृत कर दे। माइकेल पहले आदम को उसके इडेन से निष्कासन के विषय में बतलाता है, फिर एक उच्चगिरि पर ले जाकर जलप्लावन-पर्यन्त विश्व के इतिहास का दिग्दर्शन कराता है। तत्पश्चात् वह जलप्लावन के बाद इस्राइल की कथा से लेकर ईसा के आविर्भाव, तथा ईसाई धर्म की उत्पत्ति का वर्णन करता है और पुनरुद्धार का पुनः वचन दुहराता है। चेरुबिन आता है। माइकेल आदम और ईव को इडेन के द्वार तक पहुँचाता है। आदम और ईव दुःखी हैं, परन्तु वे अपने हृदय में पुनरुद्धार की आशा लेकर इडेन से निकल जाते हैं। शैतान की विजय होती है। इडेन उजड़ कर बीहड़ हो जाता है। पृथ्वी भी शैतान के नारकीय साम्राज्य में शामिल हो जाती है।

पैराडाइज़ रीगेन्ड

आदमी की दुनिया (पृथ्वी) पर दैत्यों का आधिपत्य है, ये दैत्य शैतान के नेतृत्व में मानव-जाति को गुमराह कर रहे हैं। पूर्व-घोषणा के अनुसार, वह अमर आत्मा (ईश्वर का पुत्र) भूतल पर उतरता है। शैतान को उसके अवतार का पता चलता है और वह अपने अनुयायियों की सभा करता है और भावी शत्रु (ईसा) के विरुद्ध कटिबद्ध होने के अपने दृढ़संकल्प की घोषणा करता है। कुमारी मेरी ईसा को जन्म देकर पालती-पोसती है। तीस वर्ष की अवस्था में, वे एक दिन ध्यान और चिन्तन के लिये अकेले ही निकलकर हिंसक पशुओं से युक्त एक विस्तृत मरुभूमि में जा बैठते हैं।

मरुभूमि में इस प्रकार चालीस दिन बीत गये। उन्होंने न खाया न पिया। इसी

समय एक वृद्ध किसान के रूप में शैतान उनके सामने आता है और उनको पथ-भ्रष्ट करने के लिये विविध प्रलोभनों को उपस्थित करता है। ये प्रलोभन तीन प्रक ार के हैं:—

(१) भोजन का प्रलोभन, जिसके द्वारा चालीस दिन से भूखे ईसा को, मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता भूख का सहारा लेकर, डिगाने का प्रयत्न किया गया।

(२) साम्राज्यों का प्रलोभन, जिसके द्वारा एक उच्च गिरि-शिखर पर से, विश्व के साम्राज्यों का दिग्दर्शन कराके, मानव-सुलभ महात्वाकांक्षा को लक्ष्य करके उन्हें लुभाया गया। इसके अन्तर्गत ऐश्वर्य और वैभव के अनेक प्रलोभन भी आ जाते हैं।

(३) मंदिर-शिखर प्रलोभन, जिसके द्वारा ईसा के अहंकार को उभाड़ने का प्रयत्न किया जाता है। शैतान इनको पकड़कर मंदिर-शिखर पर लेजाकर रखता है और कहता है:—

"There stand, if thou wilt stand, to stand upright
Will ask thee skill. I to thy father's house
Have brought thee, and highest placed: highest
is best.
Now show thy progeny; if not to stand,
Cast thyself down safely, sf son of god,

ईसा उस दुर्गम स्थान पर भी खड़े रह जाते हैं; फरिश्ते उन्हें अपने पंखों का सहारा देते हैं और एक फूलों की घाटी में उतार कर दिव्य खाद्य एवं पेय भेंट करते हैं। वे स्वस्थ होते हैं और फरिश्ते उनका विजय-गान करते हैं।

उपसंहार

इन महाकाव्यों में से, 'डिवाइन कमेडी' में दान्ते स्वयं मानव-सामान्य का प्रतीक होकर नरक से स्वर्ग की ओर आरोहण करता है। कामायनी के मनु का चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध तथा लोभ आदि की भूमि से उठकर कैलास की ओर आरोहण करना भी ऐसा ही है। कामायनी में जो स्थान इडा का है लगभग वही 'डिवाइन कमेडी' में वर्जिल का है। वर्जिल और इडा दोनों ही बुद्धि के प्रतीक हैं,*

---

*देखिये वर्जिल का कथन दान्ते के प्रति—

I, With skill and art
Thus for have drive Thee Now
thy pleasure take
For guide.

जो निश्चित सीमा के पश्चात् जाने में असमर्थ हैं। बुद्धिवाद का परिणाम अधिक से अधिक 'निर्वेद' हो सकता है जो 'डिवाइन कमेडी' में मार्जन-प्रदेश (Purgatory) की कल्पना द्वारा व्यक्त किया गया है। इससे आगे जाने के लिये ऐसे पथ-प्रदर्शक के सहारे की आवश्यकता है जो मनुष्य को ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करा सके। व्यक्तिगत साधना में यही स्थान सद्गुरु का है—गोविन्द को बताने वाले गुरु का है। कामायनी में यह काम श्रद्धा और 'डिवाइन कमेडी' में बियेट्रिस द्वारा कराया गया है।

बियेट्रिस श्रद्धा से बहुत सादृश्य रखती है। श्रद्धा की भाँति बियेट्रिस भी जिस व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करती है उसके अगाध प्रेम को पाकर परित्यक्ता हो चुकी है:—

Soon as I had reached
The threshold of my second age and changed
My mortal for immortal; then he left me,
And gave himself to others when from flesh,
To spirit I had risen. and increase
Of beauty and of virtue circled me,
I was less dear to him, and valued less.

कामायनी की भाँति 'डिवाइन कमेडी' में भी पथप्रदर्शक का काम नारी के रमणी रूप से न करवाकर मातृरूप से ही करवाया गया है:—

With a mien
Of that stern majesty, wich doth surround
A mother's, presence to her awe-struck child,
She looked; a flavour of such bitterness,
Was mingled in her yity.

नर नारी के इस पथ-प्रदर्शन का तभी अधिकारी हो सकता है जब वह उसके इस द्वितीय सौन्दर्य्य की परख और पहिचान कर ले:—

'Turn, Beatrice !' was their song. oh turn
Thy saintly sight on his thy faithful one,
Who, to behold thee, many a wearisome pace
Hath measured, Gracious of our prayer vouch
safe,

इस रूप में ही नारी नर की अमोघ शक्ति है जिसको पहचानकर और अपनाकर ही वह अपने सभी अघों का मार्जन करके मार्जन-प्रदेश (Purgatory) से निकल सकता है और स्वर्गीय रहस्यों को जानने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। अतएव सात कुमारियों, ग्राइफन तथा कुमारी मेरी द्वारा भगवदनुग्रह प्राप्ति के प्रयत्न, डिवाइन कमेडी में इसके बाद ही हुये हैं और कामायनी में भी 'रहस्य' 'दर्शन' तथा 'आनन्द' सर्गों में समाविष्ट इस प्रकार की आध्यात्मिक समृद्धि की प्राप्ति श्रद्धा के मातृ-रूप दर्शन के पश्चात् और उसके द्वारा ही होती है।

वस्तुत: नर की शक्ति नारी अपने मातृ-रूप में मनुष्य के उस सारे संयम, तप, श्रम या आचार की प्रेरक प्रतीक है जिसको भारतीय दर्शन में यमों एवं नियमों के अन्तर्गत रक्खा गया। पैराडाइज रीगेन्ड में शैतान द्वारा उत्पादित प्रलोभनों पर होने वाली ईसा की विजय भी मनुष्य की इसी शक्ति द्वारा हुई है, परन्तु मूल पुराण-कथा (Myth) में 'कुमारी माता' (Verginmother) के प्रतीक में इसका समावेश होते हुये भी, मिल्टन उसके रहस्य को भली भाँति न समझने के कारण प्रसाद और दान्ते की भाँति प्रलोभन-विजय की प्रेरक शक्ति का प्रतीक नारी में न देख सके। अतएव मिल्टन नारी को उस कलंक से मुक्त न कर सके जो उसे पैराडाइज लॉस्ट में लगा; मिल्टन की नारी पतनकारी शक्ति की प्रतीक ही रह गई। पतित नर की निराशा को दूर करने का प्रयत्न तो उन्होंने पैराडाइज रीगेन्ड में किया तथा उसको उठने और जीतने की आशा का आलोक भी दिखलाया, परन्तु नारी की कालिमा उससे न छूट सकी।

इसका कारण यह है कि मिल्टन के जीवन और उसकी धर्म परम्परा में नारी के एक ही पक्ष को आदर मिल सका था। इस पक्ष में नारी रमणी मात्र होकर आई जो केवल काम और अर्थ, लोभ और भोग तथा संमोहन और प्रलोभन के लक्षणों से युक्त प्रवृत्ति-मार्ग की प्रतीक होकर शैतान के हाथों की कठपुतली होकर रह गई। बाइबिल की पुराण-कथा ((Myth) में स्पष्ट है कि स्त्री के इस आसुरी पतन का कारण बुद्धि-वृक्ष का निषिद्ध फल है। भारतीय परम्परा में भी महत् या बुद्धि को देवों का एक असुरत्व कहा गया है और इसी का सहारा लेने से कामायनी में मनु असुरत्व के चंगुल में फँसकर गिरता है; डिवाइन कमेडी में भी मानव-सामान्य के पतन का यही कारण बताया गया है:—

The first good, whose joy
Is only in himself, created man
for happiness, and gave this goodly place
His pledge and earnest of eternal peace

Favoured thus highly, through his own defect.
He fell, and here made short sojourn. he fell,
And for the bitterness of sorrow, changed
Laughter unblamed and ever new delight,

परन्तु, दान्ते और प्रसाद ने जहाँ नारी में ही इस पतन से उद्धार करने वाली मातृशक्ति को भी ढूंढ़ निकाला है, वहाँ मिल्टन 'कुमारी मेरी' की मातृशक्ति का समुचित उपयोग करने में भी असमर्थ रहे।

इस प्रकार वैयक्तिक साधना की दृष्टि से मिल्टन पतन और उत्थान के लिये दो पृथक महाकाव्य लिखकर भी जो कार्य न कर पाया वह दान्ते एवं प्रसाद ने अपने एक महाकाव्य में ही बड़े सुचारु रूप से कर दिखाया।

पारिवारिक एवं सामाजिक साधना की दृष्टि से तो कामायनी इन सब महाकाव्यों से आगे बढ़ी हुई है। मिल्टन अपने दोनों काव्यों में ईश्वर और शैतान के पक्षों के बीच होने वाले भयंकर संकर्ष के आधार पर कथानक की सृष्टि करके भी उसे व्यक्तिगत -साधना से बाहर न ले जा सके। शैतान के षडयन्त्रों में मानव-समाज के राजनीतिक जीवन की छाया को लाकर भी उसमें पारिवारिक एवं सामाजिक साधना के मार्ग को नहीं दिखाया जा सका। दान्ते ने, यद्यपि नरक के पाप, पाप के मार्जन तथा स्वर्ग की विभूति का वर्णन करते हुये, यत्र-तत्र बातें कही हैं जो पारिवारिक एवं सामाजिक साधना में सहायक हो सकती हैं, परन्तु वह भी एक ऐसे संश्लिष्ट कथानक को उपस्थित न कर सके जो व्यक्ति, परिवार तथा समाज के साधना-पथ को एक साथ ही स्पष्ट रूप से बतला सकता।

कामायनी में व्यक्ति, परिवार एवं समाज के साधना-पथ की सुन्दर त्रिवेणी मिलती है। व्यष्टि-साधना के स्वरूप को ऊपर 'कामायनी' के रूपक' को बतलाते हुये स्पष्ट कर दिया गया है। पतित व्यक्ति की भाँति ही पतित समाज को उठाने वाले जो संदेश हैं उन्हें वहीं 'समष्टि-साधना' के नाम से प्रकट किया जा चुका है। समाज की इकाई नर-नारी का संयुक्त व्यक्तित्व (दंपति) हैं; अतः इन्हीं दोनों की सम्मिलित पारिवारिक साधना ही वस्तुतः समष्टि-साधना का आधार है। इसीलिये प्रसाद जी ने व्यष्टिगत एवं समष्टि गत साधना के साथ-साथ ही पारिवारिक साधना के माध्यम द्वारा विपन्न और संपन्न होता हुआ दिखाया है। मनु अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन में गिरता है और सामाजिक जीवन में भी, परन्तु इन दोनों क्षेत्रों में होने वाले पतन का आधार है उसका वह दूषित दृष्टिकोण जिससे नारी को देखकर वह अपना दाम्पत्य-जीवन ससुखमय बनाना चाहता है। इस दृष्टिकोण का आधार है वह शारीरिक

आकर्षण जिससे प्रेरित होकर मनु श्रद्धा और इडा दोनों को ही एक-एक करके अपनाता है। ऐसे प्रयत्न में नर-नारी की देहमात्र ही पाता है; उसके सच्चे स्वरूप (आत्मा) की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती। नर का यह दृष्टिकोण नारी तक ही सीमित नहीं रहता; यह भोगविलास की भावना सारे भौतिक भोगों तक फैलकर मनुष्य को घोर स्वार्थपरता इन्द्रियलोलुपता एवं असामाजिकता में फांस देती है। अतः नारी के रमणी-रूप की उपासना का अभिप्राय है समाज विरोधी भोगवाद; इसी के परिणाम-स्वरूप मनु के दाम्पत्य-जीवन में अतृप्ति, असूया, असंतोष और क्षोभ तो आते ही हैं, सामाजिक और राजनीतिक जीवन भी, जैसा कि ऊपर देख चुके है, लोभ, अतिचार एवं संघर्ष से परिपूर्ण हो जाता है और इस सब में सुधार तभी होता है जब मनु अपनी भूल को सुधारता है। श्रद्धा में मातृ-शक्ति को पहचान कर उसके देह के स्थान पर आत्मा का आदर करता है। 'विद्या समस्ता तव देवि भेदाः; स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु' कहकर जब भारतीय संस्कृति ने कन्या-पूजन का विधान किया, तो इसी मातृ-शक्ति की सामाजिक पूजा की दृष्टि से किया। इसी को दृष्टि में रखकर प्रसाद ने बतलाया कि दाम्पत्य जीवन एक आध्यात्मिक सबन्ध है। जिसमें रमणीरूप की उपासना द्वारा मासल भोगों को साध्य न मानकर उन्हें साधन समझते हुये मातृ-रूप की उपासना को ही साध्य मानना चाहिये। यह दृष्टिकोण अंततोगत्वा नारी तक ही सीमित न रह कर एक विस्तृत क्षेत्र को अपना लेता है, जिसके फलस्वरूप मानव-व्यवहार में भोग के स्थान पर संयम, स्वार्थ के स्थान पर त्याग तथा सकीर्णता के स्थान पर उदारता आती है और आध्यात्मिक साधना का पथ प्रशस्त करती है। अतः नारी के मातृ-रूप की उपासना का अभिप्राय है संयममय जीवन।

व्यक्ति, परिवार और समाज की दृष्टि से इस प्रकार जिस त्रिविध साधना का समावेश प्रसाद जी ने कामायनी में किया है उसका महत्त्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि उन्होंने इस सब को एक कथानक के माध्यम द्वारा व्यक्त किया है और वह कथानक भी ऐसा जिसमें मानव-जीवन के विविध पक्षों के चित्रण के लिये पर्याप्त अवसर मिल सकता था।

कुछ आलोचकों ने कामायनी के कथानक में दोष ढूँढ निकाले हैं। उनको मनु के श्रद्धात्याग, इडा-ग्रहण, काम का कथन, लज्जा की चेतावनी तथा रुद्र-कोप आदि की घटनायें अस्वाभाविक लग सकती हैं; परन्तु यदि वे यह समझ लें कि यह महाकाव्य आदिमानव का चरित् है—वही आदिमानव जो तुलनात्मक पुराणशास्त्र की दृष्टि से 'आत्मा' या मानव-सामान्य ठहरता है—

तो उन्हें स्पष्ट हो जायेगा कि इस प्रकार के महाकाव्यों में 'रहस्य' की पुट रहना अनिवार्य्य है और इनकी आलोचना में वही भौतिक (Objective) दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता जो 'सेवासदन' 'गढ़कुंडार' और 'चित्रलेखा' जैसे उपन्यसों की आलोचना में। जहाँ इस दृष्टिकोण का जन्म हुआ, वहाँ के मिल्टन, गेटे और दान्ते को भी अपनी इस प्रकार की कृतियों में इसीलिये अलौकिक और अस्वाभाविक तत्त्वों का सहारा लेना पड़ा है। वस्तुतः इस विषय के काव्यों में, कामायनी ने अलौकिक और अस्वाभाविक तत्त्वों का सहारा, एक दृष्टि से न्यूनतम लिया है। कामायनी की सारी घटनायें पृथ्वी पर ही होती है और उसके सभी पात्र मानवीय दुर्बलताओं और सबलताओं से युक्त हैं ; श्रद्धा जैसे आदर्श पात्र का त्याग तथा औदार्य्य भी न तो मानव के लिए अशक्य है और न श्रद्धा के पूर्व चरित्र को देखते हुये असंगत।

रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के पाठकों के लिये कामायनी की कथा कुछ छोटी लगेगी ; परन्तु, कामायनी की तुलना इन दोनों महाकृतियों से करना व्यर्थ है। उन दोनों काव्यों के पीछे शताब्दियों का विकास है और उनकी कथाओं को अवतारवाद का वह सबल सहारा प्राप्त है जिससे न केवल काव्य पढ़ने से पूर्व ही पाठक को कथा परिचित हो जाती है अपितु उसके अन्तर्गत आने वाले अलौकिक तत्त्वों को भी औचित्य एवं सम्मान प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत कामायनी ने जिस मनु-कथा को लिया है, वह इससे पूर्व जहाँ आई भी है वहाँ अत्यंत अविकसित और क्षीण अवस्था में आई है और कभी भी उसे अवतारवाद का सहारा न मिल सका। दूसरे, रामायणादि ने जहाँ निज निज कथाओं के रूपकों को वृत्त-विस्तार द्वारा दबा ही नहीं विस्मृत सा कराके भी लौकिक सदाचार के आदर्शों की व्यापक स्थापना बड़ी सफलतापूर्वक की है, वहाँ कामायनी जैसे महाकाव्य लौकिक सदाचार के आदर्शों की व्यापक स्थापना करने में सफल न होते हुये भी अपने आध्यात्मिक रूपक को बड़े ही रोचक ढंग से व्यक्त करने में समर्थ होते हैं और उनका प्रभाव सीमित क्षेत्र में होते हुये भी गंभीर और स्थायी होता है। अतः कामायनी जैसे महाकाव्य उन कला मर्मज्ञों के ही मनोरंजन के साधन हो सकते हैं जो काव्य के माध्यम में व्यक्त हुये दर्शन का सौन्दर्य्य परखने में समर्थ और तत्पर हैं। जो यह मानकर कामायनी का अध्ययन करेंगे, उन्हें काम-कथन, लज्जा की चेतावनी तथा इडा-मनु संवाद आदि कथा के प्रवाह को उसी प्रकार रोकने वाले नहीं लगेंगे जिस प्रकार रामायणादि में यत्र तत्र आने वाली कर्त्तव्य-शिक्षा। कामायनी का महाकाव्यत्व इसी में है कि वह मनुष्य के संपूर्ण जीवन—वैयक्तिक, पारिवारिक

और सामाजिक—का संपूर्ण सौन्दर्य्य—भौतिक एवं आध्यात्मिक—एक कलापूर्ण और मनोहर ढंग से अभिव्यक्त करने में सफल हुआ है ; वह अलिफ़ लैला की भाँति केवल कहानी सुनाने के लिये नहीं लिखा गया ।

•

संकेत सूची

अ० पु०	अग्निपुराण
अ० शा०	अभिज्ञान शाकुन्तल
अ; अ० वे०	अथर्ववेदसंहिता
अर्थ० ; अर्थशास्त्र	कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र
आ० ब्रा०	आर्षेय ब्राह्मण
आ० श्रौ० सू	आश्वलायन श्रौत सूत्र
आ० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आप० श्रौ० सू०	आपस्तंब श्रौत्र सूत्र
आप० गृ० सू०	आपस्तंब गृह्य सूत्र
उ० रा०	उत्तर रामचरित
ऋ० वे०	ऋग्वेद संहिता
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्
का०	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
का० प्र०	काव्य प्रकाश
का० सं०	काठक संहिता
कू० पू०	कूर्म पुराण
कौ० ब्रा०	कौषीतकी ब्राह्मण
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
ता० ; ता० ब्रा०	ताण्डव महाब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
द० रू०	दशरूपकम्
दंडी	दंडी का काव्यादर्श
दे०; देव०	देवताध्याय
ना० शा०	भरत नाट्यशास्त्र

नि०	यास्ककृत निरुक्त
प० त्रि०	अभिनवगुप्त कृत परात्रिंशिका व्याख्या
पा० धा० पा०	पाणिनीयधातु पाठ
पा० यो० सू०	पातञ्जल योगसूत्र
बृ० दे०	बृहद्देवता
बृ०उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
भ० गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
भा० पु०	भागवत पुराण
म० भा०	महाभारत
म० भा० शा०	महाभारत का शांतिपर्व
मनु०	मनुस्मृति
मा०	मालविकाग्निमित्र
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
य० वे०	यजुर्वेद
यो० सू० भा०	पातंजलि योग सूत्र का व्यास भाष्य
र० त०	रस तरंगिणी
र०	रस गंगाधर
रा०	रामायण
ला० श्रौ० सू०	लाट्यायन श्रौतसूत्र
वं० ब्रा०	वंश ब्राह्मण
वि०	विक्रमोर्वशी
विष्णु०	विष्णु धर्मोत्तर
वि० पु०	विष्णु पुराण
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शु० नी०	शुक्रनीति
ष० ब्रा०	षड्विंश ब्राह्मण
सा० वे०	सामवेद
सा० वि०	सामविधान
सा० द०	साहित्य दर्पण
सा० भा०	ऋग्वेद सा० भा०
सां० ब्रा०	सांख्यायन ब्राह्मण
सां० श्रौ० सू०	सांख्यायन श्रौत सूत्र
Bloomfield	Hymns of Atharva Veda by Bloomfield

B. R. V.	Bergaigne, Religion Vedique.
Venidad	Venidad, Darmesteter's-Translation
Geldner	Geldner, Glossor stuttgart
Grassmann	Grassmann, Rigveda Ubersetzt
Griffith	Griffith, Rigveda (Translation)
Hillebrandt	Hillebrandt, Vedisque Mythologie
Hopkins	Hopkins, Religions of India
Ind. ST.	Picshel and Roth, Indische Studien
M. V. M.	Mcdonell, Vedic mythology
Oldenberg	Oldenberg, Textkritische und exes-sche Noten
तु० क०	तुलना करो
दे०	देखिये
अनु०	और इसके आगे
उ०	उपर्युक्त